॥ हरिः ॐ ॥

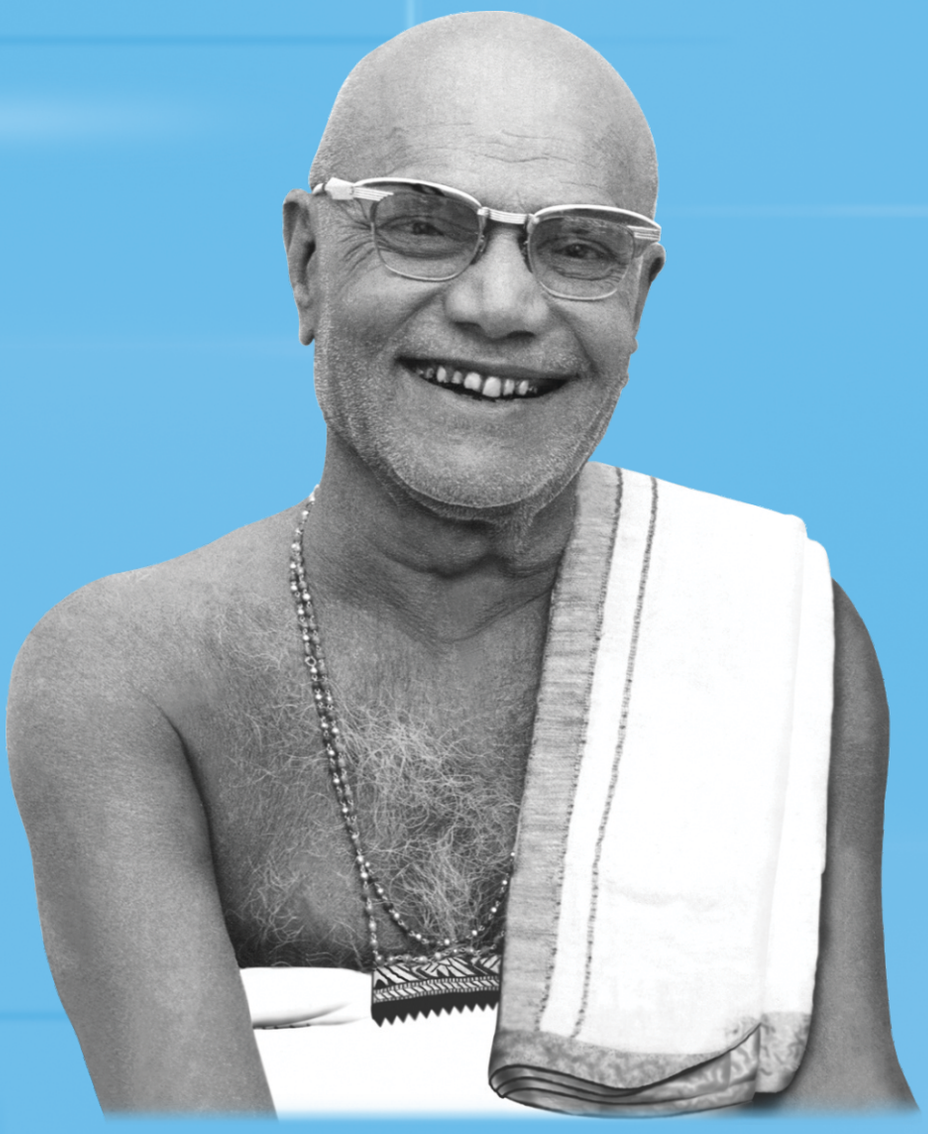

पूज्य श्रीमोटा
जीवन और कार्य
भाग-१

हरिः ॐ आश्रम प्रकाशन, सुरत

॥ हरि:ॐ ॥

पूज्य श्रीमोटा

जीवन और कार्य

भाग - १

: संपादकों :

ईश्वर पेटलीकर

रमेश भट्ट

रतिलाल मेहता

: अनुवादक :

कविता शर्मा 'जदली'

: संशोधन-संवर्धन :

रजनीभाई बर्मावाला

हरि:ॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत

❑ **प्रकाशक :**
हरि:ॐ आश्रम, जहाँगीरपुरा, कुरुक्षेत्र, रांदेर,
सूरत-३९५००५, भ्रमणभाष : +९१ ९७२७७ ३३४००
Email : hariommota1@gmail.com
Website : www.hariommota.org

© हरि:ॐ आश्रम, सूरत - नडियाद

❑ प्रथम संस्करण : २०२३

❑ पृष्ठ संख्या : १०+४३२=४४२

वाचन की सुविधा के लिए ग्रंथ की रचना दो भाग में की गई है।
नामसूचि और विषयसूचि भाग-२ के अंत में हैं।

❑ प्राप्तिस्थान : हरि:ॐ आश्रम, सूरत - ३९५००५.
हरि:ॐ आश्रम, नडियाद - कपडवंज रोड, जूना बिलोदरा,
पो.बो. नं. ७४, नडियाद-३८७००१
भ्रमणभाष : +९१ ७८७८० ४६२८८

❑ अक्षरांकन : अर्थ कॉम्प्यूटर
२०३, मौर्य कोम्प्लेक्ष, सी. यु. शाह कॉलेज के सामने,
इन्कमटैक्स, अहमदाबाद-३८००१४.
भ्रमणभाष : +९१ ९३२७० ३६४१४

❑ मुद्रक :
साहित्य मुद्रणालय प्रा. लि.
सिटी मिल कम्पाउन्ड, कांकरिया रोड, अहमदाबाद-३८००२२
दूरभाष : (०७९) २५४६९१०१

॥ हरिः ॐ ॥

निवेदन

(प्रथम संस्करण)

मेरे पूज्य स्व. पिताजी श्री भूरालाल रणछोडदास सेठ की पुण्यस्मृति बनी रहे इस हेतु से नम्र प्रयासरूप नफा-नुकसान की व्यापारी वृत्ति किये बिना (लगभग लागत कीमत में) गुजराती एवं भारत की अन्य भाषाओं की संस्कृति की दृष्टि से अमूल्य और अप्राप्य ग्रथों का प्रकाशन करने की इस ग्रंथमाला की योजना बनाई है ।

इस माला का मंगलाचरण भारतीय संस्कार गुरु और समर्थ सारस्वत आचार्य आनंदशंकर बापुभाई ध्रुव के ग्रंथमणि 'हमारा धर्म' के प्रकाशन द्वारा किया था । इस माला के दूसरे मनके के रूप में गुजराती साहित्य के दीर्घ तपस्वी और शक्तिशाली सरस्वती पुत्र श्री नरसिंहराव दिवेटिया के ग्रंथमणि 'कविता विचार' का प्रकाशन हुआ था । तीसरे मनके के रूप में महान स्वप्नद्रष्टा महाराजा सयाजीराव के कलाभवन के आचार्य रत्न और गुजराती साहित्य के सुप्रतिष्ठित कवि श्री मणिशंकर रत्नजी भट्ट 'कान्त' का ग्रंथमणि 'शिक्षा का इतिहास' प्रकाशित हुआ । चौथे मनके के रूप में परमात्मदर्शी प्रातः स्मरणीय संत पूज्य श्रीरमण महर्षिजी के अध्यात्मदर्शी जीवन और कार्य को समाविष्ट करता हुआ ग्रंथ 'भगवान रमण महर्षि - जीवन और कार्य' प्रकाशित हुआ । आज पाँचवें मनके के रूप में समाज का आध्यात्मिक और् सामाजिक पुनरुत्थान कर रहे गुणभावना के अनन्य भेषधारी, कर्मयोगी, मुक्तात्मा पूज्य श्रीमोटा विषयक ग्रंथ 'पूज्य श्रीमोटा - जीवन और कार्य' प्रकाशित करके अध्यात्मक्षेत्र के महान विभूति के सदुपदेश और सत्संग का देवदुर्लभ लाभ मानवजीवन को प्रेरणादर्शी हो; इसके लिए नम्र प्रयास किया है ।

प्रस्तुत ग्रंथ 'पूज्य श्रीमोटा - जीवन और कार्य' प्रकाशित करने के पीछे एक प्रेरणा रही है । मु. श्री धीरुभाई मोदी को 'जीवनदर्शन' पुस्तक पढ़कर गूढ़ प्रेरणा हुई और जिससे ऐसा प्रकाशन करने का

सद्‌विचार उद्‌भव हुआ । इसके लिए मेरे ही अंगरूप मेरे साथ रहते मु. श्री धीरुभाई मोदी का आभार मानना उचित नहीं गिनता, परन्तु इस प्रकाशन में यह पुराना स्मरण ताजा करता हूँ ।

इस ग्रंथ के प्रकाशन की मंजूरी देने के लिए परम पूज्य श्रीमोटा, हरि:ॐ आश्रम के ट्रस्टी तथा खास करके पू. श्री नंदुभाई का मैं अत्यन्त आभारी हूँ । इसके संपादनकार्य में भी मु. श्री नंदुभाई का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, यह उल्लेखनीय है और सबसे विशेष तो इस ग्रंथ का संपूर्ण लेख पूज्य श्रीमोटा ने मंजूर और प्रमाणित किया है, यह मुद्दा पूज्य श्रीमोटा के लाखों अनुयायिओं के लिए बहुत ही आनंददायक और गहरे संतोष की बात होगी, ऐसी श्रद्धा है ।

इस पुस्तक में रखे फोटोग्राफ्स, मुख्यरूप से अपने खर्च से सभी जगह घूमकर प्राप्त करके हमें प्रभुप्रीत्यर्थ प्रकाशित करने की मंजूरी देने के लिए मैं खास लेफ्टनेंट कर्नल मु. श्री बलवंतभाई भट्ट का बहुत आभारी हूँ। इसके साथ ही पूज्य श्रीमोटा के अनुयायिओं की ओर से मिले कुछ फोटो प्रकाशित करने के बदले उनका आभार भी मैं यहाँ व्यक्त करता हूँ ।

इस ग्रंथ के संपादनकार्य तथा उसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म जानकारी से लेकर प्रकाशन तक की संपूर्ण जिम्मेदारी लेकर मुझे अत्यन्त हलका रहने देनेवाले आदरणीय संपादक सभी श्री ईश्वरभाई पेटलीकर, प्रा. रमेशभाई भट्ट तथा रतिलाल मेहता का मैं हृदयपूर्वक आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अलावा, इस ग्रंथ की संपूर्ण पाण्डुलिपि को पुन: सुव्यवस्थित रूप से २३४० फूलस्केप पेज में नकल करने के बाद भी रमेशभाई शुक्ल के जीवन में हुए चमत्कार का मैं साक्षी हूँ। उसका उल्लेख यहाँ अप्रस्तुत नहीं गिना जायेगा ऐसा मैं मानता हूँ ।

इस ग्रंथ को सुन्दर और शीघ्रता से प्रकाशित करने के लिए मेरे ही भाई पूज्य ए. आर. सेठ की कंपनी के संचालक पूज्य श्री नवनीतभाई सेठ तथा पूज्य श्री महेन्द्रभाई सेठ तथा उनके प्रेस के व्यवस्थापक भाइयों का मैं अत्यन्त आभारी हूँ । इसके अलावा, इस ग्रंथ में आर्ट पेपर पर प्रकाशित फोटोग्राफ्स तथा ऊपर के जेकिट का प्रकाशन आनन्दपूर्वक

करने के बदले साहित्य मुद्रणालय के संचालक पूज्य श्री विष्णुभाई पंड्या का भी मैं आभारी हूँ ।

अंत में, इस ग्रंथ के प्रकाशन में हुए अत्यन्त विलंब के लिए कुछ कागज की कठिनाइयों तथा विशेष करके मेरी निजी त्रुटियाँ कारणभूत हैं और उस कारण जो विलंब हुआ है, इसके लिए मैं पूज्य श्रीमोटा तथा उनके विशाल जिज्ञासु चाहकों से अत्यन्त नम्रतापूर्वक माफी माँगता हूँ ।

इस ग्रंथ के प्रकाशनकार्य का श्रेय हमारी कंपनी के नाम होने से मैं पूज्य श्रीमोटा की कृपाभावना को ही महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। इसके लिए मैं उन्हें हृदयपूर्वक कोटि कोटि वंदन करता हूँ ।

इस प्रकाशन में जो भी कमियाँ, त्रुटियाँ दिखाई हें उन्हें सभी जिज्ञासु चाहक विशाल हृदय से निभा लें, ऐसी प्रार्थना है । हरि:ॐ

- भगतभाई सेठ

॥ हरिः ॐ ॥

संस्पर्श

पूज्य श्रीमोटा का जीवन, कार्य और चिंतन का साहित्य विविध प्रकाशनों से इससे पहले भी प्रकाशित हुए हैं, परन्तु उन सभी का संदर्भ एक ग्रंथ में सुलभ हो और वह लागत कीमत पर पाठकों को मिले वैसा प्रकाशन करने की प्रीति आर. आर. सेठ कंपनी के मालिक श्री भगतभाई सेठ और व्यवस्थापक श्री धीरुभाई मोदी ने श्रीमोटा के समक्ष व्यक्त की थी । उस भावना को लक्ष में रखकर श्रीमोटा ने अपनी संमति दी थी ।

उसके संपादन का कार्य हमें सोंपा गया, उसमें हमारी पात्रता से अधिक उभय का हमारे प्रति का सद्‌भाव कह सकते हैं । जिसे हम अपना सद्‌भाग्य मानते हैं । बाकी, जिस साहित्य में से हमने संपादन किया है, वह श्रीमोटा के साथ अंत तक रहनेवाले पूज्य श्री नंदुभाई ने परिश्रम से उपलब्ध करवाया है । वही सचमुच में संपादन के मुख्य-स्थान पर है, परन्तु वे श्रीमोटा के अभिन्न अंग जैसे हो गये हैं, इसलिए अपने कर्तृत्व से दूर रहकर हमें आगे किया है । इस ग्रंथ का संपादन निर्धारित समय से ठीक ठीक विलंब में पड़ा है, परन्तु उसमें प्रमाद या बेदरकारी कारणभूत नहीं थे । दोनों पक्षों से हमें संपूर्ण खुलापन और स्वतंत्रता मिली थी, इसीलिए श्रीमोटा का जीवन और कार्य ग्रंथ में उत्तम ढंग से चरितार्थ हो उस हेतु से संपादन पर एक के बाद एक रंदा घूमता रहा । वह प्रेस में लेख जाने के बाद भी चालू था । इसमें कोई गूढ़ प्रेरणा कार्य करती हो वैसा हमें अनुभव हुआ है । तब भी इस ग्रंथ में श्रीमोटा की सर्वांगी प्रतिभा पकड़ में आयी हो वैसा हमारा दावा नहीं है । यह हमारी मर्यादा है । जबकि ग्रंथ की जो गुणवत्ता है, वह श्रीमोटा की प्रतिभा को आभारी है ।

श्रीमोटा की भाषा साहित्यिक नहीं है, परन्तु साधना की गंगोत्री से आती हुई होने से घरेलू होने पर भी उसमें विशेष बल है । उनके

पद्यसाहित्य को कोई काव्य कला की दृष्टि से न देखें । उन्हें अपना वक्तव्य पद्य के ढर्रे में ढालना अधिक पसंद आया है । इससे उनकी उलझन और विचारधारा उनमें लाक्षणिक रूप से व्यक्त होती है । इस अर्थ में उनके पद्य का मूल्यांकन करना है ।

इस ग्रंथ के संपादन द्वारा श्रीमोटा का जीवन और कार्य की विशिष्टता का कमज्यादा संस्पर्श हमें अनुभव करने को मिला है । वह पाठकों को भी मिलेगा ऐसी हमें श्रद्धा है । इस संपादनकार्य को हमें सौंपने के बदले हरि:ॐ आश्रम और श्री भगतभाई सेठ के हम अंत:करणपूर्वक आभारी हैं ।

गुरुपूर्णिमा, संवत २०३१ – **संपादक**

॥ हरि:ॐ ॥

निवेदन

(प्रथम संस्करण - हिन्दी)

पिछले कई वर्षों से हमारे हरि:ॐ आश्रम सूरत और नडियाद के मौनमंदिरों में बिनगुजराती भाषी साधकों अपनी आध्यात्मिक प्रगति के लिए आने लगे हैं। उन साधकों श्रीमोटा के अमूल्य आध्यात्मिक साहित्य द्वारा मार्गदर्शन प्राप्त कर सके इसलिए श्रीमोटा का आध्यात्मिक साहित्य जो मूल गुजराती भाषा में प्रकट हुआ है उसका हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रस्ताव हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावालाने थोड़े वर्ष पहले रखा था. उस अनुसार वह कार्य लगभग सन् २००८-२००९ से शुरू किया हुआ है। ट्रस्ट के अन्य कार्यों की जवाबदारियाँ निभाते निभाते ट्रस्टी श्री रजनीभाई ने 'विद्यार्थी मोटा का पुरुषार्थ', 'मौनमंदिर का मर्म', 'मौनमंदिरम में प्रभु', 'देवासुर संग्राम', 'जीवित नर सेएँ' आदि पुस्तकों स्वयं अनुवाद किये हुए है। श्रीमोटा के आध्यात्मिक साहित्य का हिन्दी अनुवाद करने में श्री भास्करभाई भट्ट, इन्दौर (म.प्र.) (वर्तमान में स्वर्गस्थ) और डॉ. कनिता शर्मा 'जदली' पीएच.डी. अहमदाबाद का सहकार भी मिला है। अभी अभी पिछले दो वर्ष से इस कार्य को शीघ्रता से करने के लिए श्रीमोटा कृपा से श्रीमोटा के एक प्रेमी स्वजन श्री निरंजनभाई चंदुलाल पटेलने उत्साहपूर्वक एक धक्का और माारा है कि श्रीमोटा का पूरापूरा गुजराती आध्यात्मिक साहित्य हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराके ट्रस्ट की वेबसाईट www.hariommota.org पर इ-बुक के रूप में सभी के लिए उपलब्ध कराना। श्री निरंजनभाई ने केवल शाब्दिक धक्का नहीं लगाया किन्तु इस कार्य के लिए रुपये चालीस लाख से कुछ अधिक की धनराशि भी श्रीमोटा के चरणकमल में अर्पित कर दी है . और तो और क्या इससे

अधिक खर्च यदि हो तो और अधिक धनराशि देने की तैयारी बताई है। उनका असीम आभार हमारी सीमित शब्दावलि से व्यक्त करने में हम असमर्थ हैं। इस का बदल चुकाने का सामर्थ्य तो केवल श्रीमोटा में ही हैं और वै ही चुकायेंगे एसी आपश्री के चरणकमल में हमारी प्रार्थना है

श्रीमोटा एक अत्यंत गरीब रंगरेज कुटुम्ब से आते है। आपश्री ने स्वप्रयत्न और अपने समर्थ श्रीसद्गुरु श्री केशवानंतजी धूनीवाले दादा, (सांईखेडा-खंडवा (म.प्र.)) के आध्यात्मिक मार्गदर्शन में संसार का त्याग किये बिना लगभग सत्रह वर्ष कठिन साधना की और सन् १९३४ में सगुण ब्रह्म और सन १९३९ में निर्गुण ब्रह्म को साक्षात्कार किया।

श्रीमोटा इसके बाद अपने आप स्वयं आ मिले ऐसे प्रयत्नशील जिज्ञासु साधकों को केवल व्यक्तिगत रूप से प्रत्यक्ष में या परोक्ष रूप में पत्रों द्वारा आध्यात्मिक मार्गदर्शन देते थे। यह पुस्तक '**पूज्य श्रीमोटा - जीवन और कार्य - १**' एक साधक को लिखे हुए पत्रों के फलस्वरूप प्राप्त हुआ है, जो हम जिज्ञासु, मुमुक्षु साधकों के करकमल में रखते हैं। और आशा करते हैं कि वे सब अपने अपने सामर्थ्य अनुसार लाभ प्राप्त करें।

दि. २६-१-२०२३ **ट्रस्टीमंडल**

(वसंतपंचमी - श्रीमोटा का दीक्षा-दिन) हरिः ॐ आश्रम, सूरत

अनुक्रमणिका

खंड : १

श्रीमोटा का आत्मकथन १-१८१

१. विद्यार्थीदशा ३
२. गांधीमार्ग पर १०
३. जीवनसंघर्ष १८
४. हरि को भजते २२
५. साधना ३४
६. मातृभक्ति ६२
७. श्रीसद्गुरु ७२
८. साक्षात्कार १०१
९. निष्काम कर्म ११८
१०. दूसरों के लिए आत्मभोग १२०
११. प्रभुकृपा १२८
१२. 'मोटा' और 'स्वजन' १४१
१३. लीलाकला १५९

खंड : २

श्रीमोटा का साहित्य १८३-४००

१. मेरा साहित्य १८५
२. जीवन १८८
३. जीवनविकास १९६
४. शरीर १९८
५. संसार २००
६. श्रद्धा २०९
७. भाव २११
८. भावना २१४
९. गुण २१७
१०. आध्यात्मिक क्षेत्र प्रवेश २२८
११. साधना और साधक २३१
१२. नामस्मरण २४४
१३. सत्संग और चरणमहिमा २५९
१४. प्रार्थना २६६
१५. गुरु २६८
१६. ध्यान २८०
१७. त्राटक २८५
१८. वैराग्य २८७
१९. वातावरण २९०
२०. सलामत स्थिति २९३
२१. साक्षीभाव २९४
२२. प्रेमतत्त्वनिरुपण २९७
२३. अनुभव ३०२
२४. आत्मनिवेदन ३०३
२५. विवेकशक्ति ३०८
२६. कर्मसाधना ३१०
२७. वृत्तियाँ ३१५
२८. श्रीभगवान के दर्शन ३२२
२९. मुक्तात्मा ३२५
३०. पूर्णपुरुष ३३३
३१. भ्रमणा : माना मालिक का हो ३३९
३२. अर्थदर्शन ३८५
३३. जीवनसंग्राम ३५४
३४. साधकों को सीख ३९८

श्रीमोटा के पद्य लेख ४०१-४३२

'मन को' ४०३
'तुज चरणे' ४०६

सन् १९२४ में रचित प्रार्थनाएँ

'मार्ग दिखाना तू' ४१०
'भले ही न जीयुं !' ४१०
'मेरे नसीब में' ४११
'करूँ क्या' ४१२
याचना ४१३
श्रद्धा ४१४
तेरे पास माँगूँ ४१५
तथापि श्रद्धा ४१६
ध्येयलक्षिता ४१६
शरणागति ४१६
जीव-शिव ४१७
कब ? ४१८
कृपा दे ४१९
धन्य करना ४२०
देना ४२१
निवेदन ४२२
आत्मनिरीक्षण ४२३
साधना ४२४
सभी सत्य होगा ४२७
हृदयपुकार ४२७

भाग-१ समाप्त, अनुसंधान भाग-२ पर

॥ हरि:ॐ ॥

खंड - १

श्रीमोटा का आत्मकथन

॥ हरि:ॐ ॥

१. विद्यार्थीदशा*

निपट बचपन का जीवन अति कठोर गरीबाई में बीता था, तब कोई आध्यात्मिक प्रकार की भावना जागी नहीं थी, यद्यपि जीवन में प्राप्त हुए कोई उत्कट निमित्त प्रसंग के कारण आगे पढ़ने की तीव्र महेच्छा एकाएक जागी थी ।

मैं गुजराती पाठशाला में पढ़ता था, तब आगे पढ़ने की संभावना नहीं थी, क्योंकि गरीबाई अति भयानक थी । हमारा एक कमरे का और आगे छोटा बरामदावाला किराये का घर कालोल (जिला पंचमहाल, गुजरात) में मुख्य सरेआम रास्ते पर था । मेरे पिताजी को अफीम की और हुक्का पीने आदत थी । रोज रात को वे हमारे घर के बरामदे के पास उपलों को सुलगाये रखते और रात को हुक्का पीने का मन हो, तब उसमें से जलते कोयले लेकर हुक्का पीते । रात में चौकी के लिए घूमते सिपाही भी वहाँ बैठकर बातचीत करते और कोई-कोई हुक्का भी पीता । इसप्रकार मेरे पिताजी का सिपाहिओं से भाईचारा हो गया था । एक दिन हमारे घर मेहमान आये थे । उस रात बरामदे में चारपाई डालकर सो रहे थे । उस रात चौकी करनेवाले दो सिपाही आये । वे मेरे पिताजी के साथ बैठकर बात करने लगे । उनमें से एक ने पूछा, 'अरे भगत ! यह कौन सो रहा है ?' मेरे पिताजी ने उत्तर दिया, 'मेहमान है ।' इसलिए उस सिपाही ने पूछा, 'तो फिर पुलिसचौकी में इसकी खबर क्यों नहीं दी?' मेरे पिताजी ने उत्तर दिया, 'ऐसी खबर

* पूज्य श्रीमोटा का नाम श्री चूनीलाल आशाराम भगत । उनका जन्म ता. ४-९-१८९८ में सावली (जि. वडोदरा, गुजरात) में हुआ था, उनके पिता व्यवसाय से रंगरेज और स्वभाव से भजनानंदी थे । प्रस्तुत पुस्तक में अब के बाद जो उल्लेख होगा वहाँ श्रीमोटा वह नाम होगा ।

तो कोलीवाघरी को देनी होती है, हमें नहीं ।' सुना न सुना तब तक तो उस सिपाही का पित्ता चढ़ गया और मारते पीटते हुए मेरे पिताजी को पुलिसचौकी ले जाने लगा ।

ऐसा भयानक दृश्य मुझसे नहीं देखा गया । मैं पहने कपड़ों में ही नागरवाड़ा में दौड़ा । वहाँ श्री मनुभाई रावसाहब रहते थे । उन्हें रात में जगाकर मेरे पिताजी की मारपीट की सच्चाई बतलायी । वे मेरे प्रति अति सहानुभूति रखते थे । प्रतिदिन हमारे घर के आगे से जाते-आते थे और मेरी माँ उनका पीसने-कूटने का काम करतीं थीं, इसीकारण हमें अच्छी तरह से पहचानते थे । उस रात अपनी कथनी कहते हुए मैं फूट-फूटकर रोया था । उन्होंने तुरन्त घोड़ागाड़ी जुड़वाकर मेरे साथ रात को पुलिसचौकी आये और रूआब के साथ जमादार को बुलाकर मेरे पिताजी को तुरन्त छोड़ देने को कहा । कालोल गाँव के उस समय के ऐसे प्रख्यात और प्रतिष्ठित नागरिक को रात में पुलिसचौकी पर आये देखकर जमादार और सिपाही आदि आश्चर्यचकित हो गये, परन्तु मेरे पिताजी को छोड़ने में आनाकानी करने लगे । इससे, राव साहब ने चिल्लाकर कहा, 'अभी के अभी फौजदार को बुलाओ । मुझे इस रंगरेज को मारने के लिए तुम पर केस करना है । तुमने जिस व्यक्ति को पकड़ा है, उस व्यक्ति को मुझे अभी के अभी मेरी घोड़ागाड़ी में बिठाकर अस्पताल ले जाना है । उसके मार के निशानों को डाक्टर के पास बतलाना है ।'

यह सुनकर उपस्थित थे, वे दो-तीनों पुलिस और जमादार घबराये और मेरे पिताजी को उन्होंने छोड़ दिया, परंतु इस प्रसंग ने मुझे चौंकाकर सोचने के लिए मजबूर कर दिया, 'गरीबों को इस संसार में सब कोई धुतकारते हैं, अपमानित करते हैं और उन्हें गालियाँ भी देते हैं, परंतु हम गरीब हों तब भी कोई अवहेलना न करे ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए क्या करना चाहिए ?' ऐसी उत्कट भावना जागी । विचार करते हुए लगा कि हमारे तालुका के मामलतदार साहब को

गाँव के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित गिनाते नागरिक भी सलाम करते हैं, तो मुझे भी ऐसा होना है । इसके लिए खूब पढ़ना चाहिए, मुझे पढ़ने की सचमुच तत्परता जागी थी ।

कालोल में अंग्रेजी स्कूल तुरत की खुली थी । फीस पर ही उसका आधार था, प्रारंभ में ही उसकी माफी कौन देगा ? इसलिए पूरी स्कूल के मकान को साफ करने का सिर पर लिया । इसके लिए मासिक डेढ़ रुपया मिलता । सारी बेंच-टेबुल, कुरसी आदि सभी को पोंछना और साफ रखना । कभी-कभी स्कूल में चपरासी का काम करना और पढ़ना । पढ़ने में प्रभुकृपा से प्रथम नंबर रहता । ऐसा पढ़ने पर अधिक वर्ष लगते । यदि प्रभुकृपा से दो-चार वर्ष कूद सकें तो उतने वर्ष बचें । श्रीप्रभुकृपा से एक नये मुख्य शिक्षक आये । उनके साथ अंतर्गत रूप से उस हेतु से दिल से दिल में प्रार्थना का भाव दृढ़कर करके संबंध किया । उनके घर जाया करता । सब्जी आदि चीजवस्तु ला देता । कुछ न कुछ मददरूप हुआ करता । बच्चों को खेलाया करता । उनकी पत्नी मुझ पर अधिक प्रेमभाव रखती । मुझे खाना खिलाया करती । घर के बेटे जैसा प्रेमभाव रखती । ऐसा करते-करते कुटुंबीजन जैसा हो गया । पहली चार कक्षाएँ डेढ़ वर्ष में पूरी कीं । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १७४-१७६)

('जीवनसोपान', आ. ४, पृ. १६७)

कालोल की अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने लगा, तब से हमारी उस शाला के मुख्य शिक्षक के संपर्क और संबंध के कारण कालोल के नागरवाडा में जाना-आना अधिक हुआ । गरीब होने से सभी कोई दया करते और दिखाते । पहनने के लिए पुराने पर अच्छे, फटे न हो ऐसे कपड़े देते । यद्यपि **इस जीव** ने वे पहने नहीं, तब भी नकारा भी नहीं। प्रेमभाव से वह ले लेता और उन्हें अच्छा लगे इसलिए कुछ देर पहनकर वह घर ले जाता, या तो मुझ से अधिक गरीब हों उन्हें दे देता, पर वह प्रेमभाव से, दया खाकर तो नहीं ही ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २०६)

यह सब लिखने का कारण यह कि जब दिल में कुछ करना है, उस भावना की प्रचंड अग्नि प्रज्वलित हुआ करती है, उस समय काम कितना भी हो, उसकी कोई भी चिंता नहीं होती ।

कालोल में जब गुजराती पाठशाला में पढ़ता था और अभी सातवीं कक्षा समाप्त नहीं हुई थी और गरीबी की तंगी इतनी खलती कि मुझे होता, 'चलो, अब कमाने लगें, जो कुछ थोड़ी बहुत आय होगी उससे यह तंगी प्रभुकृपा से कुछ तो कम हो सकेगी ।' मेरे पिताजी उस समय गोधरा में रंगरेज का काम करते, इसलिए मैं वहाँ गया । हमारे पड़ोस में एक व्यापारी भाई रहते थे । उनकी दुकान में एक बार जाकर मैंने नौकरी पर रखने की बहुत विनती की, 'कुछ दिन मेरा काम देखकर यदि वह योग्य लगे तो रखना ।'

उन्होंने मुझे रखा और प्रतिदिन दुकान साफ करनी तथा ऐसा दूसरा बिलकुल साधारण परचूरण काम सौंपा । रोज सुबह जल्दी उठकर दुकान की चाबी ले जाकर सारा झाड़ पोंछकर ठीक से साफ करता । सामान्य रूप से ऐसे व्यापारी की गद्दी पर की चादर, तकिये के कवर आदि कितने दिनों तक धोये बिना के मैले और शाही के काले दागवाले ऐसे के ऐसे पड़े रहते हैं, परन्तु मुझे तो छोटे से छोटा मिला काम उत्तम से उत्तम ढंग से करके सेठ के मन को रिझाना था, क्योंकि मुझे नौकरी पर लगना था । रोज चादर, कवर आदि धोता और उसे एक भी सलवट न हो इस तरह से बिछाता । कहीं भी थोड़ी-सी धूल न रहे उसकी सावधानी रखता । सब व्यवस्थित ढंग से सुंदर लगे इस तरह रखता । रोज प्रवेश करने पर दुकान को भावना से प्रणाम करता और कंकु-फूल-अक्षत भी चढ़ाता ।

मेरा इस तरह का काम देखकर सेठ दो-चार दिन में अपने आप प्रसन्न हुए और मुझे नौकरी पर रख लिया । पर वेतन कितना ? मात्र मासिक पाँच रुपए, उस समय में वे भी अच्छे माने जाते । एक के बाद एक जिम्मेदारीवाला काम मुझे सौंपते गये । फिर तो गाँव से किसान अनाज के गाड़े लेकर आते, वह तौलने का काम भी सौंपा ।

उस समय में मन पर दो सेर, ढाई सेर अधिक तौलकर लेना यह तो एक सामान्य कानून और रीतिरिवाज हो गया था । इसमें कुछ गलत न माना जाता । मैं तो किसानों के साथ बहुत प्रेम से बात करता । उन्हें भी खुश रखने का काम करता । तौल भी ठीक से, अच्छी तरह तौल लेता । वह सेठ तो ऐसा समझते कि 'यह चुनिया अपने सेठ के लाभ में ही सब कुछ करेगा।' उनका स्वार्थ तो किसानों के पास से किस तरह से अधिक से अधिक तौलकर अनाज लिया जाय उसमें था, ऐसी उनकी समझ थी । मुझे तो पैसों की अति आवश्यकता और तंगी थी, इसलिए यह काम करना पड़ता । यद्यपि उस समय में ऐसा रिवाज हो गया था, इसलिए उसमें किसी को कुछ भी गलत न लगता था । जब सेठ ने जाना कि मैं ठीक सच्ची रीति से तौल करके सारा अनाज लेता हूँ, तब वे मुझ पर बहुत गुस्से हुए और किस तरह अधिक अनाज तौलकर ले सकते हैं, वे सारी पद्धति मैं अकेला था, तब मुझे समझाये थे । तौलने के काँटे पर अमुक तरह से वजन के माप के तौल के पल्ले की संकल को दूसरे से जरा भी पता न चले इसतरह सूक्ष्म झोक का सिफत से दबाव देने से दो सेर, ढाई सेर सहज रूप से आ जाय ऐसी कला उन्होंने मुझे बतलायी थी । बाद में मैं अनाज के गाड़े तौलने लगा, परन्तु उन्होंने बतायी सिफत की रीत मैंने अमल न की ।

परन्तु एक दिन अचानक किसी किसान के साथ उनकी स्वयं तकरार हुई कि वजन ठीक है या नहीं, उसे जानने के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को काम सौंपा, तब मेरा भेद पूरी तरह पकड़ में आ गया । इस कारण, सभी के सामने मुझे धमकाया और अच्छी खबर ली । इसलिए तत्काल मुझे पैसों की बहुत आवश्यकता थी, तब भी मैंने वह नौकरी छोड़ दी और फिर से 'पुनश्च हरिःॐ' करके पढ़ना शुरू किया । प्रभुकृपा से पढ़ने में बहुत होशियार था, इसलिए उसमें लगने में मुझे देर नहीं लगी । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २४९-२५१)

सन् १९१९ में अच्छे उच्च मार्क से मैट्रिक पास हो गया । गणित, संस्कृत और गुजराती के विषय में सत्तर प्रतिशत से ऊपर मार्क आए । पेटलाद हाईस्कूल में प्रथम नंबर से पास हुआ था और उसका इनाम भी मिला था, इसलिए कॉलेज में प्रवेश लेने का प्रभुकृपा से हुआ । जिनकी मदद से कॉलेज में पढ़ता था, उनकी रकम कम से कम उपयोग हो, वह मेरे लिए उत्तम है, ऐसी भावना उस समय भी जीवंत थी । कॉलेज में पढ़ने का हुआ, पर रहें कहाँ ? यह एक प्रश्न था । कालोल गाँव के एक नागरभाई वडोदरा में कॉलेज के फेलो हुए थे । मैंने उनसे विनती की, 'मुझे अपने कमरे में कृपाकर रहने दो, मैं कमरे की व्यवस्था का सारा कामकाज सँभाल लूँगा ।' उन्होंने मुझ पर प्रेम की भावना के कारण मेरी वह विनती स्वीकार की । उस समय उस होस्टेल का नाम 'रेसिडेन्सी हॉस्टेल' था । कॉलेज से उस हॉस्टेल की ओर जाते जो बड़ा मैदान है, और जहाँ क्रिकेट की मैच खेली जाती है, उसके सामने ही यह हॉस्टेल थी ।

अब मात्र भोजन का प्रश्न था । उस समय हॉस्टेल के रसोई का खर्च महीना का २३-२४ रुपये था । मेरे लिए उतना खर्च करने की संभावना न थी । यद्यपि उतना खर्च किया होता तो मुझे मदद करनेवाले उतनी रकम प्रेम से जरूर भेज देते, परन्तु मैंने सोचा कि कम से कम खर्च में प्रभुकृपा से जितना निभे उतना उत्तम । मैंने एक उपाय खोज निकाला । शहर के मध्य में मांडवी की उस ओर चांपानेर दरवाजा की ओर जाते बायीं ओर बैष्णव की एक हवेली थी । एक बार मेरी माँ के साथ मैं वहाँ बचपन में गया था, वह मुझे याद था । उस मंदिर को खोज निकाला । मुखियाजी को मिला और पैरों पड़ा । मैंने कहा, 'मैं कॉलेज में पढ़ता हूँ । मुझे रोज भगवान का प्रसाद लेना है, तो कृपा करके मुझे रोज एक पत्तल देने का करा दें तो आपका बड़ा उपकार ।' उन्होंने हाँ कहा । उसकी कीमत थी मात्र डेढ़ आना । भोजन बिलकुल सात्त्विक और फिर शुद्ध घीवाला । रोज सुबह में जल्दी कॉलेज की हॉस्टेल में से निकलकर फूटपाथ पर पढ़ते-पढ़ते चलता । ढाई मील जाने का और

ढाई मील वापिस आने का । मंदिर जाकर नहा लेता और पत्तल में खाकर वापिस आता । तब भी फूटपाथ पर से पढ़ते-पढ़ते चला करता । यह था मेरा कार्यक्रम । पहले सत्र में इसप्रकार प्रभुकृपा से ठीक चला, परन्तु यह हकीकत मेरी आध्यात्मिक माँ* की जानकारी में आने से मुझे उन्होंने ऐसा नहीं करने दिया । वह उनका मेरे प्रति कितना प्रेम !

फिर, मैं हॉस्टेल में रहता, तब उसमें जो नागर विद्यार्थी रहते थे, उनकी एक चाय क्लब थी । रोज उनके लिए मैं स्वयं चाय बनाता । दिन में दो-तीन बार चाय बनानी पड़ती । उनमें से कोई भी भाई मुझे कुछ भी काम सौंपे, तो वह प्रेम से करता । मुझे अनेक जनों का काम पढ़ने के साथ करता पड़ता, तब भी उनका काम आनंद से करता था । इससे वे सभी भाई मुझे मदद भी करते । जब-जब वे नाटक या सिनेमा देखने जाए तब मेरी टिकट जरूर खरीद लेते । जहाँ-जहाँ घूमने जाते वहाँ भी जरूर अपने साथ मुझे ले जाते । मैं भी उनके बराबर उपयोग में आ सकूँ उस तरह व्यवहारकला में सावधानी रखता था ।**

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३२१-३२३)

● ● ●

---

* कालोल की शाला के आचार्य श्री घनश्याम नटवरराय मेहता के मौसी प्रभावतीबहन वे श्रीमोटा के आध्यात्मिक माँ थे । कभीकभार वे कालोल आते । श्रीमोटा के प्रति उनको बहुत प्यार था । उनका हृदय भक्तिभरा था । उनका कंठ मधुर था । मौलाबक्ष नाम के विख्यात संगीतकार के पास वे संगीत सीखे थे । भक्त कवि दयाराम के भजन प्रेमभक्ति से मधुर कंठ से वे गाते ।

आचार्य श्री घनश्यामभाई की सिफ़ारिश से श्रीमोटा उनके ये आध्यात्मिक माँ के वहाँ वडोदरा में रहते थे । वे उनके इस माँ का कहा सब करते । उनके वचन में उनको अखूट श्रद्धा थी । श्रीमोटा उनके नौकरों का कहा करते, और इस आध्यात्मिक माँ के कंठ से गाये जाते भजनों में लीन रहते ।

** एक बार श्रीमोटा को स्वतंत्ररूप से सिनेमा देखने जाने का दिल हुआ । स्वतंत्ररूप से सिनेमा देखने के लिए आर्थिक शक्ति नहीं । इससे अंतर में मंथन हुआ । आपश्री ने संकल्प किया कि मित्र सिनेमा देखने ले जायए तो भी न जाना, क्योंकि इस तरह सिनेमा देखने की आदत पड़ जाय तो फिर मन हो । जिससे सिनेमा देखना ही बंद करना ऐसा आपश्री ने निश्चित किया ।

॥ हरिः ॐ ॥

२. गांधीमार्ग पर

कॉलेज के अध्ययन के काम में प्रभुकृपा से ठिकाने पड़ने का पूरी तरह से हो सका । एक के बाद एक दिन आनंद से बीत रहे थे, वहाँ एक बड़ा विस्फोट हुआ । रॉलेट कानून के सामने गांधीजी ने बीमारी के बिछोने से चुनौती देकर सत्याग्रह करने का निर्णय जाहिर किया । प्रजा को अहिंसक तालीम देने अप्रैल की छः तारीख का दिन सामुदायिक प्रार्थना, उपवास और हड़ताल का जाहिर किया । प्रजा ने इसका अच्छे से अच्छा उत्तर दिया, पर उस दिन पंजाब में बहुत दंगे हुए । सरकार ने प्रजा पर भयंकर जुल्म किया । पंजाब के हत्याकांड की हकीकत जैसे-जैसे बाहर आती गई वैसे-वैसे लोगों के दिल चौकन्ना हुए, उसका न्याय पाने का एक निमित्त कारण भारत को स्वराज्य दिलाने का मुक्ति- संग्राम का पैगाम सत्याग्रह द्वारा गांधीजी ने देश को दिया ।

मुझे भी तब इतना अधिक लगने लगा कि अब कॉलेज में पढ़ना निरर्थक है । देश का काम देश के युवक नहीं करेंगे तो दूसरा कौन करेगा ? वातावरण में आवेश अधिक था । मेरे लिए कॉलेज छोड़ देना यानी जीवन में जो बनने का ध्येय अभी तक रखा था और जो सभी अभिलाषाएँ रखी थीं, वे सभी टूटकर चूर हो जानेवाली थी । कुटुंबीजन भी मुझ पर आशा रखते हुए मीठे स्वप्न देख रहे थे । मैं कॉलेज छोड़ दूँ तो जो अहमदाबाद में गुजरात विद्यापीठ संस्था खुलनेवाली थी, वहाँ जाकर पढ़ने की मेरे लिए कोई संभावना न थी । फिर, उस समय जो सभी मुझे मदद करते थे, उन सभी का विचार था मैं कॉलेज में आगे पढ़ूँ । उनकी नापसंदगी को लेना पड़े तो उसका दुःख भी अधिक था । मुझे तत्परता से मदद करनेवालों के जीवंत लंबे हाथों को मैं धुतकारता नहीं था, पर उस समय देश की सेवा करना भी धर्म है, ऐसा दिल में जरूर लग गया था ।

मुझे मदद करनेवाले स्वजनों ने समझाकर देखा कि भाई, तुम आवेश में आकर यह सब कर रहे हो । यह तुम्हारे लिए और तुम्हारे कुटुंब के लिए योग्य नहीं है । तुम बरबाद हो जाओगे और तुम्हारा परिवार भी

बरबाद हो जाएगा । वे बिचारे तुम पर आधार रखते हैं । उन सभी को तुम निकम्मा कर दोगे । तुम स्वयं ही सोचो न ! तुम्हें आगे पढ़ने की गरज क्या होने के लिए हुई थी ? तुम्हारे जीवन के वे सभी स्वप्न लटक जायेंगे । यह आवेश दो-तीन वर्ष में शान्त हो जाय, वहाँ तक तुम पढ़ो और फिर तुम्हें जैसे ठीक लगे वैसा करना ।

जहाँ-तहाँ सभी 'हो-हा' का वातावरण था । मेरे जीवन के तब हितैषी स्वजन मुझे उस आवेश के भँवर में फँस न जाऊँ उसके लिए संबोधित करे यह बिलकुल उचित था । इसलिए उनकी सलाह की मैंने कभी अवगणना नहीं की । इतना ही नहीं, पर काफी दिनों तक उस पर दिल में मंथन किया और शान्त चित्त से सोचा है । मेरे पिताजी को पुलिस ने जुल्म से मारा था, उस दृश्य ने भी मेरे कॉलेज-त्याग में बड़ी भूमिका निभायी है । तब ऐसा भी लगा था कि अब जीवन का प्रवाह कोई दूसरी दिशा में प्रभुकृपा से हमें ले जा रहा है । देश की सेवा करना भी हमारा धर्म है । दूसरे देशों ने जो स्वातंत्र्य प्राप्त किया है, उस स्वातंत्र्य संग्राम में हमारे जैसे कितने ही युवकों ने उस खप्पर में भोग दिया होगा ! देश की स्वतंत्रता पाने का काम हमारे देश के युवक नहीं करेंगे तो दूसरा कौन कर सकेगा ?

मैं इन विचारों की धुन में डूबा रहता था । कॉलेज छोड़ने के बाद मेरे लिए बिलकुल अंधेरा था । निरा अंधेरे में ही मुझे कूदना था । घर पर कोई मदद कर सके ऐसा तो था नहीं । कोई नौकरी खोजने की बात नहीं थी । केवल अंधेरे में कूदने का मार्ग ही मेरे लिए खुला रहा हुआ था । मैंने अपने मन को बार-बार टोका था कि भाई, कूदोगे तो दिन बहुत कठिन होंगे । शायद खाना भी न मिले । कोई मदद नहीं करेगा और मदद की अपेक्षा रखना यह तो गलत है । मदद आए तब भी लेनी नहीं है । अब तो खुद के बल पर जीने की बात निश्चित है । इसलिए हे मनवा ! कृपा करके फिर से इस विषय में सोच ले । कैसी-कैसी दयनीय स्थिति जन्मेगी, उसका तादृश्य भान सोच-सोचकर मन के सामने जगाया था ।

वे दिन यों तो भारी आवेशमय वातावरण के थे, जिससे कॉलेज के विद्यार्थिओं को अध्ययन करने का सूझता न था । जहाँ-तहाँ वही वातावरण । उस जबरदस्त वातावरण के बवंडर में सर्वप्रथम जिन-जिन विद्यार्थिओं कॉलेज त्यागकर उसमें कूद पड़े, वे विद्यार्थी भी होशियार विद्यार्थी थे। मेरे साथ वडोदरा कॉलेज में से त्याग करनेवाले श्री पांडुरंग वळामे (जो 'श्रीरंग अवधूत' के नाम से समाज में बहुत प्रसिद्ध हुए) थे । सर्वप्रथम वडोदरा कॉलेज में से निकलकर असहकार करनेवाले हम दो ही विद्यार्थी थे और वह भी १९२०में कोलकाटा की स्पेश्यिल कॉंग्रेस में महात्मा गांधीजी असहकार का प्रस्ताव रखनेवाले थे और वह प्रस्ताव कॉंग्रेस के पास से पास करवाना था, उसके पहले हम दोनों विद्यार्थिओं ने कॉलेज त्याग करने का निश्चित किया । यह है कॉलेज त्याग का इतिहास ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३२५ से ३३०)

● ● ●

गुजरात विद्यापीठ में उस साल के जून महीने के अंत में प्रवेश लेने का तो किया, पर पैसे कैसे प्राप्त किये जाय ? प्रत्येक सप्ताह 'नवजीवन' बेचकर जो रकम पाता, उसीसे जैसे-तैसे करके सब चलाता । रविवार को वह निकलता । एक नकल पर एक पैसा मिलता था, इसलिए जितना बिकता उतने पैसे मिलते । जितने मिले उतने में से सात दिन चलाने का । कितने दिनों तक एक ही समय भोजन करने का मिलता ।

एक बार ऐसा हुआ कि, रविवार को मात्र पचास ही 'नवजीवन' बिके । सात दिन चलाने का । उस समय कोचरब के ढाल के पास श्री डाह्याभाई इजतराम के बंगले में विद्यापीठ के क्लास चलते थे और **यह जीव** था गुजरात कॉलेज के सामने की चाल के सबसे पहले कमरे में। अब सात पैसे में एक-एक दिन चलाने का । विद्यापीठ में पढ़ता था, तब स्वयं हाथ से खाना पकाता । उन दिनों के दौरान कभी-कभी चने-ममरे खाकर भी दिन गुजारे । शहर में सगेसंबंधिओं के घर तो थे । गया होता तो प्रेम से भोजन मिला होता, पर उसमें शोभा न थी ।

ऐसा करते-करते एक ट्यूशन प्रभुकृपा से मिल गया । महीने के पैंतीस रुपये और उस समय मेरे जैसों के लिए पर्याप्त थे । **यह सत्य लिखने का कारण यह है कि कैसी भी कठिन दशा आये और कैसी भी कसौटी हो, पर उसमें प्रभुकृपा से शहूर रखकर जीने का खमीर रखें तो उसका भी उपाय मिल जाता है ।**

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १९९-२०२)

उस समय में गुजरात विद्यापीठ का वातावरण भी अध्ययन के लिए बिलकुल योग्य न था । बारबार सरघस में जुड़ना, देश के बड़े बड़े नेताओं का आना, उनके भाषणों में जाना-इसप्रकार के वातावरण से विद्यार्थिओं का मानस घिरा रहता । वहाँ अध्ययन तो किस तरह से हो सकता था ? और हो भी क्या सके ? इसलिए सरकारी कॉलेज में दिये जाते शिक्षण के विकल्प में राष्ट्रीय भावना के पोषक ऐसी शिक्षा का अभ्यासक्रम कॉलेजियनों के सामने रखने की आवश्यकता थी और राष्ट्रीय भावनावाले विचारकों ने वातावरण का सदुपयोग करने के उद्देश्य से सोचा ।

इससे, गुजरात विद्यापीठ की स्थापना हुई और वहाँ कॉलेज त्यागकर आये विद्यार्थी पढ़ने लगे थे, परन्तु वह समय ही अध्ययन के लिए न था । हम सभी विद्यार्थिओं को अलग-अलग विषय के अध्यापकों पढ़ाने को तो जरूर आते थे । उनके उन-उन विषयों के प्रवचन अभ्यासपूर्ण उस विषय के हार्द को योग्य रूप से व्यक्त कर सकें इसप्रकार के भी थे । उन अध्यापकों की विद्यार्थिओं के साथ की ममता, सहानुभूति और उनकी मदद करने की आतुरताभरी इच्छा सर्वोत्तम थी । विद्यार्थिओं को मदद करने की उनकी भावना जरूर साकार होती । विद्यार्थिओं को किस तरह सभी सुविधाएँ मिल जाय, उस विषय में भी वे अच्छी तरह सोचते । कुछ समय बीतने के बाद कोचरब के ढाल से गुजरात विद्यापीठ भूलाभाई के वंडे में एलिसब्रिज स्टेशन के सामने ले गये । गुजरात विद्यापीठ के लिए नये मकान की तैयारियाँ भी होने लगीं ।

यह सब होनेवाला था, उस दौरान गाँधीजी ने हमारे बीच आकर हमें संबोधन किया, यह भी एक नया विस्फोट ही हुआ । उन्होंने तो कहा, 'मैंने तो माना था कि तुम सब कॉलेज छोड़कर देश का काम करने लग जाओगे । देश में असंख्य गाँव हैं । उन गाँवो के निवासियों को देश में बनी हुई सभी घटनाओं की हकीकत तुम वहाँ जाकर कहो । इस देश में अंग्रेज राज से जो सब बना है, वह सारी हकीकत तुम वहाँ जाकर गाँव के लोगों को समझाओ । पंजाब के हत्याकांड की बात करो और दूसरे अनेक रूप से नये प्राण, नयी चेतना आ सके ऐसे काम में लग जाओ । इसलिए मैंने तुम्हें कॉलेज का त्याग करवाया है । यह तो तुम एक प्रकार की डिग्री का मोह छोड़कर दूसरे प्रकार की डिग्री का मोह ताजा रखा है । कॉलेज छुड़वाने का मेरा उद्देश्य तुम सभी युवक देश का काम करो और देश को जगाओ इसप्रकार का था । इसलिए तुम अपना धर्म सोचो और मेरी यह जो बात है, उस विषय में तुम गंभीरता से गहराई में उतरकर संशोधन करो और यदि योग्य लगे तो इस विद्यापीठ की पढ़ाई भी छोड़ दो और देश के काम में लग जाओ । अभी इस दिशा में तुम्हारे यौवन की सचमुच आवश्यकता है ।'

गाँधीजी का इसप्रकार का प्रवचन दिल को बेधनेवाले था । उनकी बात भी बिलकुल सत्य थी । इसलिए 'स्वराज्य आश्रम' की स्थापना श्री गिडवाणीजी की अध्यक्षता में हुई । उसमें तालीम लेने का मैंने स्वीकार किया । तालीम लेकर भरूच जिल्ले के वागरा तालुका में काम करने जाने का हुआ । वागरा तालुका के वतनी पिछड़े और वहाँ काम करना बहुत कठिन था । एक पैसा भी मुझे मिलता नहीं, डाक के लिए भी नहीं और मुसाफिरी के लिए भी नहीं । अनेक प्रकार की असुविधाओं के बीच काम करना था । पैसों की अमुक मदद की आवश्यकता सही पर उसकी भी संभावना नहीं थी । मुझे अनकूल न आया ।

मैंने फिर से गुजरात विद्यापीठ में जाकर अध्ययन करने का स्वीकार किया पर मुझे कोई ऐसे के ऐसे प्रवेश होने न दे ! एक परीक्षा देनी पड़े,

वह भी दी । अमुक ठिकाने काम किया है, ऐसा सरदार श्री वल्लभभाई पटेल का सिफारिस पत्र प्राप्त करने का फरमान हुआ । वह भी प्राप्त कर सका । मेरी परीक्षा लेनी पड़ी, उसमें प्रभुकृपा से एक खूबी हुई । जो प्रश्नपत्र वार्षिक परीक्षा के लिए निकला था, वही प्रश्नपत्र मुझे उत्तर देने के लिए दिया । वह प्रश्नपत्र परीक्षा में बैठने से पहले मैंने अच्छी तरह सोच लिया था । वह प्रश्नपत्र मिलने से मैं बहुत ही खुश हो गया । उसमें अच्छी तरह पास हो गया और आगे पढ़ने का प्रारंभ किया ।

अब स्नातक होने में कुछ महीने बाकी थे, वहाँ गाँधीजी ने फिर से विद्यापीठ में प्रवचन दिया, 'देश धायँ-धायँ जल रहा है और तुम सभी ठंडे कलेजे से इस तरह पढ़ने कैसे बैठ सके हो ?' इसलिए हमारा दिमाग फिर से उछला और स्नातक की डिग्री (यदि तीन चार महीने रहा होता तो जरूर प्राप्त कर सका होता) का मोह पूरीतरह छोड़ दिया ।

ऐसे में श्री इन्दुलाल याज्ञिक का श्री गिडवाणीजी पर पत्र आया कि किसी को हरिजनसेवा करने का दिल हो तो उस काम का क्षेत्र बहुत विशाल है और उस काम के लिए विद्यापीठ के विद्यार्थिओं की खास आवश्यकता है । मेरे बड़े भाई तो श्री इन्दुलालभाई के पास ही काम करते थे । उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था । उन दिनों उन्हें टी. बी. हुआ था वैसा स्पष्ट निदान न हुआ था । नडियाद में श्री इन्दुलालभाई ने एक हरिजन आश्रम की स्थापना की थी । उसमें मुझे काम करने को मिला और इसप्रकार स्नातक की डिग्री का मोह छोड़ा वही छोड़ा ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३३१ से ३३५)

दूसरी नौकरी मिलती न थी, इसलिए मेरे कुटुंब के निर्वाह के लिए देशसेवा का काम जबरदस्ती स्वीकार करना पड़ा हो ऐसा न था । पूर्व आफ्रिका के कंपाला शहर में मासिक चौबीस पाउन्ड वेतन से उस समय में हाईस्कूल में शिक्षक के रूप में नौकरी मिल रही थी । फिर प्रत्येक वर्ष में दो पाउन्ड की वृद्धि । प्रत्येक तीन वर्ष में चार महीने की छुट्टी और देश में आने-जाने के लिए स्टीमर के दूसरे दर्जे का किराया मिलता था । इस विषय में जो तार आया, उसे परीक्षितभाई को पढ़ाया था । १९२३ के अधबीच

में तो देशसेवा का हेतु भी त्यागकर प्रभुप्रीत्यर्थ ही जो सब कुछ करना है, ऐसी निश्चयात्मक भावना से ही उस काम को (हरिजनसेवा को) प्रभुकृपा से चिपके रहना हुआ था ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३८१-८२)

● ● ●

गुजरात हरिजन सेवक संघ में मैं सदस्य भी न था, तब भी अनेक बार गुजरात हरिजन सेवक संघ की सामान्य और कार्यवाहक सभा भी नडियाद में मेरे घर होती । एक बार हमारी वैसी सभा में 'नित्य युवक' श्री नरसिंहकाका भी पधारे थे । हमारी उस सभा के सभी कामकाज जिस तरह होते थे, उन्हें भी पहले वे देखते आ रहे थे । हमने भी जिस काम पर जो जो प्रस्ताव रखना था, वह कर लिया और काम से जहाँ निवृत्त हुए वहाँ नरसिंहकाका ने संबोधन किया, 'इसतरह कभी अस्पृश्यता समाप्त नहीं होगी । हिन्दू समाज के सामने हरिजनों को सत्याग्रह करने का कार्यक्रम हमें देना चाहिए, सार्वजनिक कुँओं पर हरिजनों को पानी भरने जाना, सार्वजनिक तालाब में नहाना, धोना और मंदिरों में दर्शन करने जाना - ऐसे अलग-अलग कार्यक्रम हरिजनों के आगे रखना । और इस तरह एक भारी प्रचंड वेग पकड़ाना । तुम्हारे संघ के ऐसे सब ढंग से (अलग शाला, अलग आश्रम, शिष्यवृत्ति, अलग कुँआ खुदवाना आदि-आदि) अस्पृश्यता को स्थायी रखना हो ऐसा मुझे लगता है और तुम युवक लोग ऐसी गिनती सीखने लग पड़े हो, यह सब बिलकुल अर्थ बिना का है ।' उनके बोलने में उनकी सच्ची भावना आवश्यक लगी थी ।

हम महात्मा गाँधी की सलाह और मार्गदर्शन से यह काम करते थे । गुजरात हरिजन संघ के कितने ही कार्यकर्ताओं को ऐसे कार्यक्रम के प्रति ठीक संतोष हुआ न था । इसलिए उन्हें महात्मा गाँधी की साबरमती आश्रम में एक बार मुलाकात हुई, तब गाँधीजी ने यह रचनात्मक प्रकार के कार्यक्रम को चिपके रहने की खास सूचना दी थी । उन्होंने कहा था कि हरिजनों में खास हिलना, मिलना । उनकी सच्ची शिकायत हो, जो कुछ हिन्दू समाज की तरफ से हैरानगति होती हो और हैरानगति

होती हो, उन सबको दूर करने उत्साहपूर्वक लगे रहना । उनके उद्योगों को सजीवन करने प्रयत्न करें ।

फिर भी नरसिंहकाका ने चुनौती देते हुए प्रवचन दिया, उसे अपना लेने का मैंने निर्णय कर लिया । संघ में से त्यागपत्र देकर उनके पास जाना और उनकी सूचना अनुसार सत्याग्रह के कार्यक्रम में जुट गया । मैं और मेरे साथी हेमन्तभाई ने तत्काल संघ में से त्यागपत्र दे दिया और दूसरे दिन सुबह बिस्तर और सामान बाँधकर आणंद में नरसिंहकाका के घर गये । उनके घर हमें आया देखकर वे बहुत आश्चर्यचकित हुए । हमने कहा कि संघ में से त्यागपत्र देकर उनके उस अस्पृश्यता निवारण के लिए सूचित सत्याग्रह के कार्यक्रम में जुड़ने आए हैं । अब तुम नेतागिरी लो । तुम कहो उस स्थान पर और कुआँ पर सिर तोड़वाने की तैयारी के साथ हम यहाँ आए हैं । हमें इसतरह अचानक आये देखकर और सुनकर वे स्तब्ध हो गये ।

उस समय इर्विन-गाँधी करार हुए थे । उसके जाँच के काम में महात्मा गांधी बोरसद में थे । नरसिंहकाका ने कुछ देर सोचकर हमें बतलाया कि मैं बोरसद में जाकर गांधीजी की पहले सलाह ले आऊँ । वे वहाँ गये और यह सारी यथार्थता उन्होंने कहकर सुनाई । गांधीजी ने उन्हें समझाया कि हरिजनों में अभी आंतरिक बल आया नहीं है और उनकी ऐसी पक्की तैयारी नहीं है । ऐसी स्थिति में हम यदि उनके पास सत्याग्रह करायेंगे तो उलटी उनकी स्थिति खराब होगी । उनको होती परेशानी का पार नहीं रहेगा । हम उन्हें उदार हो, ऐसा कुछ नहीं कर सकते और सत्याग्रह से वे लोग अधिक डरपोक और कमजोर होंगे । इसलिए अभी आप सूचित कर रहे हो, उस प्रकार का सत्याग्रह उनके पास से करवाना बिलकुल योग्य नहीं है । नरसिंहकाका आणंद लौटे और हम से मिलकर गाँधीजी के साथ उनके हुए सारे वार्तालाप कह सुनाये और बोले कि माफी चाहता हूँ कि मुझ से इस विषय में अधिक कुछ हो सके ऐसी संभावना नहीं, परन्तु तुम दोनों की हिंमत, साहस और सहनशक्ति देखकर मुझे आनंद हुआ है ।

यह प्रसंग लिखने का हेतु यह है कि हमारी मर्दानगी को चुनौती दे और वह हम नीचा सिर रख सहन कर लें तो वह बिलकुल योग्य नहीं । यद्यपि यह भी सच है कि जीवन में अनेक बार ऐसे प्रसंगों पर विवेक भी रखना पड़ता है, नम्रता भी रखनी पड़ती है । अंधे होकर एकदम कूद पड़ना इसका नाम सच्ची मर्दानगी नहीं ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २९७-३००)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

३. जीवनसंघर्ष

यह जीव गुजरात विद्यापीठ में से गुजरात हरिजन सेवक संघ में जुड़नेवाला सर्वप्रथम विद्यार्थी था । उसने श्री इन्दुलाल याज्ञिक के मंत्री के रूप में काम किया था । फिर, आश्रम और शाला के अलावा संघ का हिसाबी काम भी करना था ।

किसी संयोगों के कारण श्री इन्दुलाल याज्ञिक ने हरिजन सेवक संघ का काम छोड़ दिया । उस काम का केन्द्र गोधरा बना । इन्दुलाल ने आश्रम के व्यवस्थापक के रूप में पैंसठ रूपये का वेतन देने का निश्चित किया, परन्तु मुझे आर्थिक तंगी हमेशा रहती । प्रत्येक महीने नगद रकम मिले ऐसा तो कुछ न था । यद्यपि गाँव में काम करते शिक्षकों को अधिकतर प्रत्येक महीने रकम मिल जाती । विद्यापीठ की शाला के काम के लिए मासिक वेतन पचास रुपये मिलते । 'हरिजन सेवक को इतना सारा बड़ा वेतन !' ऐसी शिकायत पूज्य गाँधी बापू के पास गयी थी । उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और पूछा कि हमारे गरीब देश में गरीबों की सेवा का व्रत जिसने लिया है, उसे इतना बड़ा वेतन दे पाएँगे सही ? मैंने बतलाया कि मेरा कोई जीवननिर्वाह का दूसरा आधार नहीं है । मेरे बड़े भाई कितने समय से हरिजन का और सार्वजनिक राजकीय प्रवृत्ति का कर्म करते-करते क्षय के रोग से पीड़ित आणंद की डॉ. कूक की मिशन हॉस्पिटल में पड़े हैं । इसके अलावा **इस जीव** के साथ दूसरे छः **जीवों** का पालनपोषण करना है । मेरी माँ, भाभी आदि स्वयं बहुत मेहनत करते हैं । यह सारा सत्य पूज्य बापूजी को बतलाया, तब उन्होंने

पूछा था कि दो संस्था का काम तुम अकेले इतनी छोटी उम्र में किस तरह से कर सकते हो ? प्रभुकृपा से उस समय उन्हें स्पष्ट रूप से कहना हो सका था कि 'William Pitt, the younger was the Prime Minister of England at the age of 24.' (विलयम पीट चौबीस वर्ष की युवा उम्र में इंग्लैन्ड के प्रधानमंत्री हुए थे ।) इस उत्तर से वे हँसे, परन्तु थोड़े समय में गुजरात विद्यापीठ की तरफ से मुझे आदेश मिला कि तुम्हें दो संस्थाओं में से कोई भी एक में काम करने का निश्चय कर लेना । मुझे उसका कारण बतलाया कि तुम्हारे अकेले से दो संस्थाएँ पूरी तरह योग्य ढंग से न सँभल सकेंगी ।

इस प्रसंग के मात्र तीन महीने बाद ही वे दोनों संस्थाएँ दुबारा **इस जीव** को काम करने को सौंपी थी । फिर, उस समय आश्रम में रसोई पकाना स्वयं करना पड़ता । पानी भरने का और भरवाने का । प्रारंभिक गुजरात में वह सर्वप्रथम आश्रम होने से लड़कों को कैसे नहाना, कैसे पहनना, कैसे उठना, कैसे व्यवहार करना, बिस्तर कैसे बिछाना, कैसे खाना, मतलब कि एकएक उनके काम में खुद उपस्थित रहकर खड़ा रहना होता ही । आज की तरह उस समय अधिक लोग काम करनेवाले नहीं थे । आश्रम में भी **यह जीव** अकेला था । प्रारंभ के समय में एक हरिजनभाई मददरूप थे और बीच में दूसरे एक सवर्णभाई थे । उनके जाने के बाद तो आश्रम का कारोबार **इस जीव** को चलाये करना था और शाला भी । जो स्थिति तीन-चार महीने पहले अयोग्य थी, वही स्थिति अब कैसे संभव हो गयी है ! फिर, उस समय **इस जीव** के शरीर को मिरगी का रोग लागू हुआ था । यह सत्य संघ के दूसरे ऊपरी जवाबदार भाई जानते होने पर भी किसी के दिल में ऐसा नहीं होता था कि इस भाई को दो संस्था का भार सौंपा है और इसके शरीर की स्थिति उससे पार उतरने योग्य नहीं है, तो उसे दो में से एक संस्था का कारोबार सौंपे तो उत्तम, परंतु ऐसा किसी को सूझा न था । अंत में खींचा जाय वहाँ तक खींचा था ! **इस जीव** से जब न हो सका ऐसी दशा शरीर की हुई, उस समय उसने स्वयं अरजी की

थी कि अब दो में से एक संस्था का कारोबार सौंपे तो उत्तम । इसलिए आश्रम को निकालकर अकेली शाला का कारोबार **इस जीव** को सौंपा था । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ११७ से १२०)

मेरे बड़े भाई के शरीर को क्षय के रोग से अधिक हैरानी हो रही थी । मेरी आर्थिक स्थिति इतनी सारी तंग थी कि उनके शरीर की दवा करवाने मुझे कर्ज लेना पड़ा था । मैं स्वयं अपने आप कर्ज लेकर कुछ न करूँ और कर्ज न लेना पड़े ऐसा व्यवहार करना अधिक पसंद करता, परन्तु मेरी माँ और बड़े भाई दोनों मुझे ताने मारते । मुझे 'कंजूस' कहते । उनके शरीर का रोग मिटाने फर्स्ट क्लास की मुसाफिरी करवाकर भावनगर उन्हें ले गये थे । मुझ से छिपकर बड़े भाई मेरे जो-जो संबंधी थे, उनको पत्र लिखकर वहाँ पैसे मंगवाते इसका मुझे पता चला । यह सब भरपाई मुझे करने थे । फिर, उसमें से कितनी ही रकम तो संगेसंबंधिओं के पास से भी ली थी ।

भाई का शरीर गया, परन्तु सिर पर कर्ज खड़ा रहा, उसे भरे किस तरह से ? उस समय गुजरात हरिजन सेवक संघ की सेवा में था । जब से सेवा का व्रत लिया था, तब से सेवा के सिवा दूसरा अन्य कर्म स्वीकार करूँगा नहीं ऐसा तो दृढ़ अंतिम निश्चय था । ऐसा व्रत लेने का कारण यह कि गरीबाई इतनी अधिक थी कि मेरी माँ तथा बड़ी भाभी को भी दूसरा काम करना पड़ता । वे अपने फालतू समय में वैसा काम करें वे सभी के लिए और उनके लिए भी इष्ट था । परन्तु मेरी माँ को होता कि बेटा इतना अधिक पढ़ा और अच्छी जानपहचान है, पहुँच है, वे सभी उसे उचित स्थान पर लगाकर राजी हो वैसा है । तब भी वह कोई अच्छी नौकरी नहीं लेता ! उचित स्थान पर लगने को पूरी संभावना थी, तब भी मेरी उस विषय में बिलकुल इच्छा न थी और होती भी नहीं ।

मेरी माँ अनेक बार आर्थिक तंगी के कारण मुझे ताने मारती और गरीबाई की उत्कट भावना से प्रेरित हो शायद पैसे कमाने की वृत्ति हो तो उसमें बह न जाऊँ इसलिए समझकर मैंने हाथ में गंगाजल लेकर

एकमात्र देश की सेवा ही करने का व्रत लिया था । ऐसा व्रत लेने से मुझे कभी मन में असंतोष नहीं होता या अन्तसंघर्ष नहीं हुआ, परन्तु ऐसी आर्थिक तंगी के कारण भाई के रोग के लिए दवा का कर्ज किस तरह उतरेगा, उसके अनेक विचार मुझे बारबार उत्कट संवेदन करते ! उस ऋण को उतारने का कोई मार्ग मेरे सामने खुल्ला न था, इसलिए बारबार उठते विचार का दबाव इतना अधिक होता कि इससे विह्वल हो जाता । इसके साथ दूसरे मानसिक कारण भी जीवन में होते थे । एक तरफ गरीबाई की तंगी और दूसरी तरफ कर्ज उतारने की तत्परता अधिक होने पर भी वह भरपाई करने की असंभावना । इसमें से एक ऐसे प्रकार का संघर्ष हुआ कि इसकी असर शरीर को हुई । इससे मिरगी का रोग हो गया ।

उस समय श्री इन्दुलालभाई याज्ञिक के साथ हरिजन सेवक संघ (उस समय के अन्त्यज मंडल) का दायित्वभरा काम सँभालता था । गुजरात की उस समय की निकली सारी हरिजन संस्थाओं को प्रत्येक महिने रुपए भेजने, उसका हिसाब रखना । सभी वैसी संस्थाओं के साथ पत्रव्यवहार करना और रखना । नडियाद में स्थापित हरिजन आश्रम की व्यवस्था तथा उस विषयक सभी कामकाज करने और इसके अलावा नडियाद में गुजरात विद्यापीठ ने स्थापित की हुई हरिजन शाला का काम भी मेरे हिस्से आया था । भाई परीक्षितलाल तब उसमें जुड़े न थे । काम की भारी जवाबदारी और काम कठिन । इससे मानसिक तनाव रहता । उस समय में सार्वजनिक कुँओं से सरे बाजार हरिजन बालकों के हाथ से पानी भरवाना या करना यह भी एक मुसीबत का काम था । मिशन हॉस्पिटल से डेढ़ फलाँग डभाण के रास्ते यह हरिजन आश्रम था । वहाँ से भी आधा एक फलाँग दूर रामतलावडी पर हिन्दुओं का एक सार्जनिक कुँआ था । वहाँ से आगे पीछे के सभी किसान पानी भरने जाते । ख्रिस्ती भाइओं ने एक अलग कुँआ बनवाया था, परन्तु भगवान की कृपा से हमने तो साहस करके हिन्दुओं के कुँए से पानी भरना चालू रखा था । किसान हमें अनेक बार उस कुँए से पानी भरने के लिए मार मारने की धमकी देते और कभी-कभी तो वैसे प्रसंगे सामने आ जाते । तब भी साहस, हिंमत

रखकर उस कुँए से पानी भरना चालू रखा था । सन् २२-२३ में हरिजनों के लिए हिन्दू समाज में आज से अनेक अधिक उत्कट नफरत थी । इसलिए ये किसान भाई आश्रम के बालकों को कुछ कर बैठे ऐसी पूरी संभावना थी । उनकी धमकी की बारबार होती चिल्लाहट से 'बालकों को कहीं कुछ होगा तो क्या ?' ऐसा भी तब सतत लगा करता । नड़ियाद के बगीचे के आगे जो सार्वजनिक तालाब है, वहाँ लगातार जमीन में से गरम पानी निकलकर छोट झरने के रूप में तालाब में पड़ा करता है, वहाँ सभी विद्यार्थिओं की स्नानविधि रोज होती थी । वहाँ भी हिन्दू भाईओं के साथ रोज भारी कहासुनी हुआ करती ।

इसका भी एक प्रकार का अधिक तनाव रहता । मानसिक तनाव और खिंचाव के ऐसे प्रसंगों से भी यह शरीर को मिरगी रोग हो गया था । अनेक बार आते-जाते साइकल पर से भारी पछाड़ खाकर गिर पड़ता । कितनी बार संस्था का धन जेब में होने पर भी प्रभुकृपा से जो बच गया, उसके लिए उस समय तो भगवान का आभार मानने का हृदय प्रेमभक्तिभरा जागा न था, परन्तु आज मुझे घी के दीपक की तरह स्पष्ट समझ में आता है कि वह हजार हाथोंवाला और हजार आँखोंवाला समर्थ स्वामी मेरी सभी प्रकार से तब भी सँभाल रखा करता और मेरी रक्षा किया करता था । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १८५ से १८५)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

४. हरि को भजते

(१)

मेरे शरीर को मिरगी का रोग हुआ था, तब आराम लेने के निमित्त दो बार नर्मदा के किनारे छुट्टी लेकर जाना हुआ । एक बार मेरे साथ श्री महेशभाई मेहता तथा श्री भानुप्रसाद पंड्या थे । दूसरी बार अकेला था । तब नर्मदा नदी के मोखडीघाट के पार एक रणछोडजी का मंदिर है, वहाँ कुछ दिन रहा था । वहाँ एक साधु-महात्मा रहते थे । उनकी मैं रोज सेवा-चाकरी करता । **इस** शरीर को वहाँ भी चार-पाँच बार मिरगी हुई थी । मैं वहाँ से आते हुए उन साधु-महाराज के पैरों पड़ा और

उनके आशीर्वाद माँगे । उन्होंने मुझे भगवान का स्मरण किया करने को कहा और उससे रोग मिट जाएगा ऐसा भी कहा था, परन्तु जब मेरे मन ने ऐसा सोचा कि इन साधु-महात्मा ने जंगल की कोई जड़ी बुट्टी दी होती तो मुझे विश्वास बैठता, परन्तु भगवान के मात्र स्मरण से रोग मिट जाये ऐसा बिलकुल सच और श्रद्धाप्रेरक न लगा था । फिर, उन साधु-महाराज ने मुझे ऐसा भी कहा था कि एक वर्ष के बाद तुम्हें कोई सद्‌गुरु मिलनेवाले हैं, वे तुम्हारे जीवन का विकास करेंगे, परन्तु उस समय 'जीवन' और 'विकास' यह मेरे लिए तो मात्र शब्द ही थे । देश की सेवा करने की उत्कट धुन मेरे लिए बिलकुल सच थी । सेवा की उस उत्कट धुन से प्रेरित होकर गरीबाई की स्थिति में टिका रहना न हो सका था । फिर लौटते हुए नर्मदा नदी में कूदकर शरीर का अंत ला देने का भी प्रयत्न किया था ।

गरुड़ेश्वर से आगे जाने पर नर्मदामैया के किनारे एक ऊँचा कगार है । उस कगार की धार से जरा पीछे हटकर एकदम दौड़कर श्री नर्मदामैया की गोद में कूद पड़ा था । नर्मदामैया के जल के पुनीत प्रवाह का पैरों को स्पर्श हुआ था, उसका अब भी तादृश्य भान है और उसका जीवंत चित्र आज तक रहा है । वह मृदु, कोमल, शीतल स्पर्श हुआ न हुआ वहाँ तो पानी के प्रवाह में एक प्रचंड बवंडर उत्पन्न हुआ ! उस बवंडर ने शरीर को उछालकर कगार से कहीं दूर फेंक दिया । उस बवंडर के मध्य में अद्‌भुत दर्शन हुए । उस दर्शन का स्वरूप कोई स्थूल प्रकार की माता जैसा न था । वे दर्शन अलौकिक प्रकार के थे, उस समय चमत्कारिक रूप से बच गया, तब से दिल में हुआ कि, 'By His Grace I am meant for something.'

आजकल के बुद्धियुग के जमाने में ऐसा सत्य कोई मानेगा नहीं यह स्वाभाविक है । इस तथ्य को बाहर रखना ऐसा कितनों को सयानापन न भी लगे, परन्तु जो सच्चा अनुभव हुआ हो, उसे जगत के आगे प्रेमभाव से नम्रता से रखना वह आवश्यक लगता है । हम मानते हों वही सत्य है और दूसरा सच नहीं ऐसी मान्यता में एक प्रकार

का जड़ मताग्रह रहा है । ऊपर बतलाये अनुभव मात्र hallucination उत्कट कल्पना का सर्जन था ऐसा बिलकुल भी नहीं । उस दर्शन से प्रभुकृपा से प्रेरणा मिली है । इसके अलावा साहस, हिंमत, धीरज, सहनशक्ति, दृढ़ता आदि गुण और उसकी शक्ति भी प्राप्त है । उस अनुभव से अचानक अपनेआप जीवन का प्रवाह बदला यह कोई मामूली प्रसंग नहीं है । ऐसा मात्र कल्पना या भावना की उत्कटता से जीवन में उद्‌भव होना संभव नहीं ।

यह घटना घटित होने के बाद मैं वडोदरा चला आया । वहाँ मेरी आध्यात्मिक माँ के मकान की दूसरी मंजिल में शरीर को मिरगी का हमला होने से शरीर सीढ़ियों से लुढ़कता निपट नीचे तक पहुँचा और ईंटो की दिवार में घिसकर शरीर से साधारण खून की धारा फूटी थी । कुछ भान में आने पर नर्मदा के वे साधु-महात्मा के मुझे दर्शन हुए और उन्होंने मुझे कहा कि, 'अरे ! भगवान का स्मरण तो करके देख ! प्रयोग करके देखने में तेरा क्या जाता है ?' यह सब प्रकट तो हुआ सही, परन्तु उस समय मेरे मनादिकरण जरा भी इसप्रकार की भावनावाले न होने से उस साधु-महात्मा के वचन और संस्कार को बिलकुल महत्त्व न दे सका था । उसके बाद शरीर ठीक होने पर यह सारी घटना मैंने मेरी आध्यात्मिक माँ को बतलायी । मेरी ऐसी हकीकत सुनकर वे बहुत खुश हुई । उन्होंने कहा, 'अरे चुनिया ! तुम तो बड़े बड़भागी हो, तुम अब से भगवान का स्मरण किया करो । उठते-बैठते, घूमते-फिरते, खाते-पीते, सकल कर्म करते एकमात्र भगवान के स्मरण में लग जाओ । तुम्हें जरूर मिट जाएगा ।

मुझे उस समय उन साधु-महात्मा से मेरी इस माँ में अधिक विश्वास था । मैं उनके कारण भगवान का नाम लेने के लिए प्रेरित हो सका ।* उसके बाद मन को टोक टोककर भगवान का स्मरण करने लगा । बारबार वह भूल जाता और फिर दुबारा यह कर करके लेने लगता ।

* श्रीमोटा की स्वयं की ध्वनिमुद्रित वाणी में कहते है कि उनकी आध्यात्मिक माँ की सलाह भी नहीं मानी थी । श्रीमोटा ने श्री गाँधीबापु की सलाह माँगी थी । श्री गाँधीबापु का पत्र मिलने के बाद श्रीमोटा ने 'हरिः ॐ' मंत्र का जाप स्मरण शुरू किया था । (श्रीमोटावाणी-४ गुजराती पुस्तक, संस्करण-१, पृ. १५)

मिरगी के हमले की तीव्रता में और उसकी अवधि में फर्क पड़ने लगा और तीन-चार महीने में वह बिलकुल मिट गया ।

इस प्रकरण से मेरे लिए जीवन में नया मार्ग प्रभुकृपा से खुल गया । जीवनविकास की साधना शुरू हुई । एक वर्ष के बाद सचमुच अहमदाबाद में साबरमती के किनारे **इस जीव** को साधना के मार्ग में विकसित करनेवाले एक सद्‌गुरु भी मिल गये ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २०० से २०२)

(२)

अच्छे या बुरे प्रसंगों में श्रीभगवान की कृपा रहा ही करती होती है । यह कोई कल्पना की बात नहीं । **इस** जीवन में से तारा हुआ सच है । १९२८ में पूज्य श्री सरदार के हाथ से बोडाल (ता. बोरसद) में हरिजन आश्रम खुलनेवाला था । उस समय नड़ियाद से मेरी माँ के साथ वहाँ जाना हुआ । सरदार हो इसलिए लोगों के झुण्ड के झुण्ड उमड़ेंगे और धाँधल-धमाल होगी ही ! सुबह में कितने लोग आश्रम के खेत में एक साँप को मारने लगे । उनको ऐसा करते हुए रोककर साँप को छुडवाया । उस दिन और रात को भीड़ और शोरगुल था, इससे एकांत, शांति और कुछ आराम मिल सके उस उद्देश्य से जरा दूर के खेत में मैं सोया था । पूज्यश्री ठक्करबापा मुझे आराम से शांत जगह में सोया देखकर स्वयं भी वहाँ सोने आये । उन्हें देखकर श्री श्रीकांत सेठ भी वहाँ सोये । मैं बीच में था । रात के मध्यभाग में सिर पर एक ऐसा भारी झटका लगा, मानो बड़ा भारी वजन सिर के मध्य में वेग से झटके के साथ आरपार कुछ हो गया हो ऐसा लगा । जल्दी से उठ बैठा । जांघ में जरा खून तथा डंक जैसा लगा । दूसरे भी चौंककर जाग उठे और नीम, नमक आदि देने लगे । नीम और उसका रस बहुत लिया था, इसलिए शायद कड़वा न लगे ऐसा बतलाया । फिर बेहोशी का अनुभव होने लगा । उस समय पूज्य गाँधीजी का एक वचन अचानक याद आ गया । 'जिसे साँप ने काँटा हो, उसे मार मारकर भी जागते हुए रखना चाहिए, इसमें हिंसा नहीं पर शुद्ध अहिंसा है ।' वह याद आने पर मन

में निश्चित कर लिया कि कुछ भी हो जाय पर बेहोश नहीं होना है। जोरशोर से स्मरण करने लगा। सतत स्मरण खूब जोर से कर रहा था। एक ओर साँप का जहर बेहोशी लाता और दूसरी ओर जागृति रखकर नाम लिया करूँ, जिससे बेहोश न हो जाऊँ उसकी जोरदार प्रेरणा अंतर में हुआ करे। इसप्रकार खींचतान हुआ करे। मृत्यु का अनुभव हुआ और नामस्मरण अपनेआप प्राणपूर्वक और वेग से हुआ और होता ही रहा।

मुझे बोडाल गाँव में साँप का जहर उतारने के लिए ले गये और वहाँ से आसोदर ले गये। उसके बाद आणंद के मिशन अस्पताल में मुझे रखा था। इस युद्ध में नामस्मरण प्रभुकृपा से ऐसा लिया कि उसके बाद यह अखंड बना रहा और हृदयस्थ हो गया। इससे पहले सकल कर्म करते नामस्मरण का महावरा करने **उस**की कृपा से मथने का चालू था, पर वह अखंड न होता था। इस दौरान कितनी बार हार जाने का भी हुआ। यह धन्य प्रसंग ऐसा हुआ कि जिससे जो अति कठिनाई से साध्य होता है, वह सरल और सहज हो सका। उसमें से मुझे श्रीभगवान की परम कृपा का अनुभव हुआ। **उस**की कृपा जीवन के अच्छे या बुरे दोनों प्रसंगों में पार कर देती है। किन्तु हमारा ध्येय **उस**के सम्बन्ध का उस तरह का और हृदय की तीव्र भावना से मुड़ा हुआ नहीं होता, इससे जीवन के अच्छेबुरे प्रसंगों में उसकी परम मंगलमय कृपा का अनुभव मनुष्य को नहीं होता।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १ से ३)

(३)

जब नडियाद मरीडा सीमान्त शाला का कामकाज करता था, तब कितने ही मुसलमान लड़के आकर हमें बहुत परेशान करते। उन लड़कों को समझाने की बहुत कोशिश की। उनके पहचानवालों को मिलकर उनके घर का ठिकाना पाकर उनके मातापिता तक भी उनकी शिकायत पहुँचायी। वे मुसलमान लड़के हमें अनेक ढंग से हैरान करते। हमारी शाला का मकान सार्वजनिक रास्ते पर था। अंजलि भर भरके धूल वे शाला के अंदर डालते, शोर करते, जाते-आते विद्यार्थिओं को हैरान करते। आसपास सभी मुसलमान लोगों की बस्ती, उन्हें शान्त करने को

बुद्धि से सोचकर सारे उपाय कर देखे । पर कुछ हुआ नहीं । अंत में सोचा कि, 'अब यदि इस हैरानगति के आधीन हो जायेंगे तो वह हमारी मर्दानगी के लिए चुनौती रूप है । उर्दू स्कूल के अमुक मुसलमान शिक्षक भाइओं को बात की और उनके काजी साहब को मिलकर यह सारी सच्चाई बतलायी । तब भी जब कुछ न हुआ, तब मैंने निश्चित किया कि इन लड़कों की अब अच्छी तरह पिटाई की जाय । एक दिन उन्हें पिटने की योजना पक्की तरह सोच ली । उसके परिणाम के बारे में भी सोच लिया । दूसरे दिन जब वे अंजलि भर भरकर धूल डालने लगे, तब दरवाजे के पीछे बेंत की मोटी बड़ी सोटी लेकर पहले से छिपकर खड़ा रहा था । जिससे वे वहाँ से एकदम भाग न जाय, इसतरह तीन-चार जन के ऊपर भेड़िये की तरह टूट पड़ा । वे आवाज करने लगे और दौड़के जाकर अनेक लोगों को इकट्ठा करके ले आये । इसमें अनेक तो ऐसे थे कि जिन्हें मैंने बारबार इन लड़कों की शिकायत की थी । इन मुसलमान भाइओं का झुण्ड गुस्से में था और मुझे मारने के लिए एकदम तैयार थे, परन्तु इससे मैं बिलकुल भयभीत न हुआ । उनके मन में आये गुस्से को एकदम अचानक से पलटा आ सके ऐसा तत्काल कुछ करने की जरूरत थी और वह उपाय भगवान की कृपा से मुझे मिल गया । तुरन्त मैंने तो लंगोट के सिवा सारे कपड़े शरीर से निकाल डाले । यह देखकर वे सभी क्षणभर तो स्तब्ध हो गये । मेरे शरीर की अचानक हुई ऐसी हालत को देखकर उनके मन में जो गुस्सा था, उसमें अचानक पलटा आया । उस समय मैंने उन्हें कहा कि, 'अब तुम अच्छी तरह मार सकते हो । देखो, मैं बिलकुल नंगा हो गया हूँ । तुम में से कितनों को ही मैंने इन लड़कों की शिकायत की थी । इन लड़कों के घर जाकर इनके मातापिता को भी कहा था । हमारे काजी साहब को भी मैंने बात की थी । हमारे आसपास रहते मुसलमान शिक्षक भाइओं को भी इन लड़कों द्वारा होती हैरानगति की सच्चाई बतलायी थी, पर इनमें से कोई भी इन लडकों को समझाने आया नहीं, यह तो देखो । इन लड़कों का गुन्हा

तो तुम में से कोई देखता ही नहीं ! क्या हमें रोज ही इन लड़कों की हैरानगति सहन किया करने की ? तुम सभी तो समझदार हो और बड़े हो, तो तुम ही न्याय करो ।'

इन लोगों का आवेश तो मेरे शरीर को नंगा देखकर कुछ कम हो गया था, इसलिए उन्होंने मेरी कही बात थोड़ी बहुत भी शांति से सुनी सही, उसमें से कोई तो सयाना निकलेगा न ? उसने मेरी बात को पूरीतरह से माना और समर्थन दिया, इसलिए समूह का प्रवाह एकदम बदल गया । और सभी फिर तो कहने लगे, 'इन लड़कों को मारा वह अच्छा ही हुआ । अब वे तूफान करना भूल जायेंगे । अरे भगत ! अब फिर से ये लड़के तूफान करने आयें तो उनका सत्यानाश कर देना !' इसतरह सभी बिखर गये ।

उसके बाद उन मुसलमान लड़कों ने हमें परेशान करना पूरीतरह छोड़ दिया । मैं रोज घर से मरीडा सीमान्त मुसलमान मुहल्ले से होकर आता- जाता । जिन लड़कों को मारा था, उनके घर के आगे से ही आता-जाता । उन लड़कों को प्रेम से बुलाता और दो-चार पैसों के चने लाकर देता । उसके बाद तो उनके साथ भी दोस्ती हो गई ।

मर्दानगी को चुनौती हो और उसमें पूरी निंदा हो, ऐसी स्थिति कभी सहन नहीं करनी चाहिए । उससे मुक्ति पाने के लिए विवेकहीन कर्म भी नहीं करना चाहिए । हमारी अपनी पक्की तैयारी कितनी है, उसे अच्छी तरह योग्य ढंग से सोचना और जो भी करे सोचकर करें ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३०१ से ३०४)

(४)

गुजरात हरिजन सेवक संघ के सहमंत्री के रूप में किसी भी प्रकार के काम करते हुए प्रभुकृपा से छोटापन का अनुभव नहीं किया । एक बार कुछ पैसे बैंक में से लेने के लिए या रखने के लिए शहर में जाना था । आश्रम के पास का 'सर्वसाक्षी आमली' के आगे का बस स्टेन्ड था । वहाँ से जैसे बस में बैठने जाता हूँ, उसी समय उसमें बैठे दो भाइओं की आपस की बातचीत में से एक के शब्द कान में पड़े और मैं बस

में से नीचे उतर गया । हालांकि, उनकी बात कोई भूतकाल के उनके अपने प्रसंग की थी, पर उससे बिजली की तरह प्रकाश हुआ और अंतर से ऐसा हुआ कि बस में बैठना नहीं है । कोई आगे-पीछे के विचार बुद्धि से उपजे नहीं थे । उसके बाद में साइकिल लेकर शहर जाने निकला तो विद्यापीठ के पास उस बस का बड़ा अकस्मात हुआ था । उनमें बैठे हुओं को लगा था और बस में मैं होता तो मेरी भी वैसी हालत हुई होती । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २३८)

(५)

एक बार नवसारी आश्रम में आश्रम के चार-पाँच विद्यार्थिओं के साथ नासिक जेल में राजकीय कैदी को मिलने साइकिल की मुसाफिरी से निकले । बड़े मकनभाई, मोरारभाई, सीमुभाई तथा दूसरे नाम याद नहीं आ रहे । दीपावली का समय । नवसारी से वलसाड और धरमपुर के बाद घने जंगल आते हैं । मूसलाधार बरसात के कारण सभी सड़कें धुल गई थीं । अनेक जगहों पर पानी के प्रवाह के कारण बड़े खड्डे पड़ गये थे । धरमपुर पार करने के बाद अंधेरा होने की तैयारी थी । पूरी सड़क के रास्ते सिर तक का घास उगा था । उसमें साइकिल से रास्ता पार करते एकदम दिल में स्फुरण हुआ कि अब बस आगे नहीं जाना । आश्रम के विद्यार्थी मित्रों को कहा कि हम रात को इस जगह जंगल में पडाव डालेंगे । एक बड़े वृक्ष के नीचे आसपास जगह साफ करके लकड़ी बीनकर आग जलायी । बारी-बारी हम चौकीदार होते । सुबह में सूर्योदय होने पर हम फिर मुसाफिरी पर निकले । थोड़ा चले वहाँ रास्ते में बड़ा, चौड़ा, गहरा खड्डा देखा । हम रात को अंधेरे में आगे साइकिल पर चले होते तो लुढ़क जाते, पर प्रभुकृपा से बच गये ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २३९)

(६)

नडियाद में जब-जब बोकड* के बबूल के जंगल में सोने जाने का होता, तब मुझे डराने और भय दिखाने वहाँ आनेवाले लोग पैंतरे रचते ।

* वर्तमान में इस स्थान की भयंकरता नहीं है एवं उसका नामनिशान नहीं है । उस जगह पर सब नये मकान बने हैं ।

मुझे मारने और खून करने की भी धमकी देते । एक बार तीन भाई चोरी का माल लेकर उस बबूल के जंगल में छिपकर बँटवारा कर रहे थे । उन्होंने मुझे देखा । उनमें से एक जन बोला कि साले को मार डालो, जिससे हमें पहचाने नहीं, परन्तु उनमें से कोई भगवान की कृपा से उसके लिए हिलाडुला नहीं । बोकड की जगह सभी तरह से भयंकर थी । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३०४)

(७)

सत्याग्रह के समय कच्ची जेल में कैदिओं को भारी हैरानगति और परेशानी होती । उनके पास से बात कबूल करवाने अधिकतर उकडूँ बैठाते और कुछ वजन पीठ पर रखते । ऐसा बुरा हाल पुलिसवाले करते । मुझे स्वयं उन लोगों ने इसतरह हैरान करके देखने का प्रयत्न किया था । मैं सारा समय प्रार्थना, भजन, स्मरण, ध्यान आदि में साधना के अभ्यास में भावना से मेरा समय बिताने को निरन्तर प्रभुकृपा से लगा रहता । त्राटक का साधन प्रभुकृपा से मैं साध सका था - जो जमादार मुझे उकडूँ बैठाने के लिए आया, उसकी आँख के सामने प्रभुकृपा से त्राटक करने का सूझा और वैसा मैंने किया । मुझे ऐसा कुछ भी किया बिना खेड़ा सब जेल में भेज दिया । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३०४)

(८)

मेरा जो प्रिय भजन है, वह सब कोई जानते हैं :

'हरि को भजते कभी किसी की लाज जाती नहीं जानी रे ।' उस भजन में *'प्यारे नरसिंह मेहता को हार हाथोंहाथ दिया रे'* ऐसा है । यह हकीकत हमारी अभी की बुद्धि स्वीकार कर सके ऐसा नहीं है, तब भी मेरे जीवन में कुछ प्रसंग हुए हैं, उसे लिखता हूँ ।

श्री मालवियाजी ने हमारी हिन्दू संस्कृति को जीवित रखने काशी में हिन्दू युनिवर्सिटी स्थापित की । उसके निर्वाह के लिए भारत के हिन्दू समाज को याचना की थी । जीवन का मूल संस्कृति है । संस्कृति के प्रति मेरा आकर्षण प्रभुकृपा से अजब और अटूट था और अभी भी है । उसके आनंद से दिल में एक प्रकार की देने की भावना-उत्तेजना हुई, परन्तु

आर्थिक स्थिति इतनी सारी तंग थी कि न पूछो बात। केवल साढ़े सैंतालीस रूपयों में सात जीवों का पूरा करना था। बाकी के ढाई रूपये सहकारी मंडली में अनिवार्य बचत के रूप में जाते। जीवनव्यवहार में मेरे अपने लिए एक पैसा बेकार खर्चना मुझसे नहीं होता था। हजामत महीने में एक बार कराता। हजामत का साधन भी पास में न था। आर्थिक तंगी में भी युनिवर्सिटी फंड में देने का दिल हुआ करता था।

ऐसे में हम दो मित्र साबरमती आश्रम में से शहर में कहीं जाने को निकले थे। आश्रम से कुछ दूर चले होंगे, वहाँ चन्द्रभागा के पुल के पास दायीं ओर वृक्ष आने पर मुझे लघुशंका की वृत्ति हुई। मैंने मित्र से पूछा, 'जाऊँ ?' और उसने संमति दी। उस समय ऐसा सब भी पूछकर करता था। किसी को ऐसा सब पागलपन लगे, किन्तु उसमें मेरे जीवनविकास का हेतु जागृत रूप से रहता था। लघुशंका पूरी होने पर उठना होने के साथ ही मेरी नजर पास पड़े एक कागज़ पर गयी। उसे हाथ में लेने के साथ पास खड़े मित्र को वह बतलाने पर उसमें से दो अंगूठी निकलीं। साथ में लिखा था कि, 'यह तुम्हारे उपयोग के लिए है।' हम दोनों ने बाजार में साथ जाकर उस अंगूठी की रकम बनारस भेज दी। जीवंत भावना का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ८३-८४)

(९)

सन् '३८ में **इस जीव** का शरीर खून के दस्त से पटक गया। वाडीलाल साराभाई अस्पताल में दर्दी के रूप में भर्ती हुआ। वह रोग मिटा नहीं, इसलिए कराची जाना हुआ। उचित देखभाल और दवा होने पर वह मिट गया। उसके बाद गाँधीजी ने श्री ठक्करबापा के शरीर को सत्तर वर्ष पूरे होने पर फंड के लिए 'हरिजनबंधु' में अग्रलेख लिखा हुआ पढ़ा। वह सत्तर हजार का फंड बिलकुल तुच्छ गिना जाएगा और एकदम भर जाना चाहिए ऐसा गाँधीजी ने लिखा था। मुझे उस फंड में कुछ भरना चाहिए ऐसा आग्रह वहाँ की एक बहन ने खास किया था।

मेरे पास देने को कुछ नहीं था । दूसरों के पास से लेकर दूँ यह पसंद नहीं था । वह बहन मुझे कहे कि यदि तुम दिल से फंड में सचमुच भरना चाहो, तो तुम्हें रकम आकाश से गिरकर भी मिलेगी । श्री ठक्करबापा ने जिस प्रकार की आदिवासिओं और हरिजनों की सेवा की है, उसमें कितना उत्साह है । उसमें कुछ यद्वातद्वापन नहीं, इतना ही नहीं, पर उन्होंने योग्य व्यवस्था की है । अमुक प्रकार की सावधानी, देखभाल, भरोसा, हिसाब की स्पष्टता आदि कलाएँ उनके जीवन में आयी हैं । उन सेवाओं का मूल्यांकन और योग्य कदरभक्ति गुजरात में हुई नहीं ऐसा मुझे तब भी लगा करता था ।

इसप्रकार उस बहन के आग्रहभरे टोकने से और उनके जीवन की ऐसी सेवापरायणता के भाव से प्रेरित हो फंड में यदि कुछ मुझ से दिया जा सके तो मुझे बहुत आनंद होगा, ऐसी अभिलाषा से मेरे मन में जोश आने लगा । प्रभुकृपा हो तो वैसी संभावना जरूर हो सके ऐसा भाव तब जरूर होगा । अब ऐसा हुआ कि नये वर्ष के दिन बापू* तथा उन दो बहनों के साथ हमें कराची के अमुक सद्‌भावी सज्जनों के वहाँ मिलने का हुआ । कराची के माजी मेयर श्री चागला साहब के वहाँ उनके बंगले हम गये, तब वे नमाज पढ़ रहे थे, ऐसा हमें पता चला । हम बाहर थोड़ी देर कार खड़ी रख नीचे उतरे । दीवानखाने में जाने से पहले मेरी नजर रास्ते पर पड़े एक लिपटे कागज़ पर पड़ी । कराची के रास्ते इतने साफ और स्वच्छ कि कुछ भी पड़ा हो तो नजर में चढ़े बिना न रह सके । उस कागज को संकेत करके मैंने बहन से कहा, 'देखो, वह कुछ पड़ा है !' उसे उठाकर देखने पर उसमें से पाँच रूपए की नोट निकली । उसमें उर्दू भाषा में लिखा था कि यह रकम तुम्हें मनपसंद रूप से उपयोग करने के लिए है । प्रभुकृपा से ऐसी आकाश में से पड़ी रकम श्री ठक्करबापा के फंड में भर दी । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ८६-८७)

---

* श्रीमोटा के एक बुजुर्ग सज्जन श्री परसदभाई उर्फ प्रियंवदभाई नटवरलाल मेहता, वे सिंधिया स्टीम नेवीगेशन, कराची के व्यवस्थापक और प्रसिद्ध विद्वान श्री नरसिंहराव भोळानाथ दिवेटीया के जमाई थे ।

(१०)

मेरी आर्थिक तंगी का शिकंजा कैसा था, यह मेरे मित्र जानते, उनके पास कभी मैंने कुछ नहीं माँगा । एक समय मेरे किसी संयोग के कारण पैसों की बहुतसारी जरूरत पड़ी थी । किसी के पास माँगने का तब भी दिल न होता इसलिए माँग न करता । फिर, रकम की तत्काल आवश्यकता थी । भगवान उसके भक्त को आपत्ति के समय में किसी भी तरह से मदद दिया करते हैं, ऐसे प्रकार का ज्ञानभक्तिपूर्वक का आश्वासन मेरे लिए छोटा-सा न था । उस आश्वासन से मुझे एक प्रकार का आधार और ऊष्मा मिला करती पर वह निराकार थी । मुझे तो भगवान की कृपा से वैसा आधार और ऊष्मा साकार रूप से फलस्वरूप हुई हो, तब तंगी टल सके ऐसा था । ऐसी स्थिति के लिए मैंने भगवान से कभी प्रार्थना नहीं की । भारी से भारी नाजुक वक्त भरी तंग स्थिति भी भाव विकसित करने के लिए या भाव में भाव से जीवंतरूप से जीने के लिए होती है । मैं संकट को कभी गिनता न था, परन्तु इससे कठिनाई चली जाती थी ऐसा कुछ न था । यद्यपि संकट का शिकंजा मुझे दबाता और न चिपकता ही, वह तो प्रत्यक्ष अनुभव से परखकर, उसमें भगवान की कृपा अनुभव करता ।

एक दिन शाम को हम सभी कावेरी नदी के किनारे (कुंभकोणम्) एक साधु महाराज के दर्शन को जाते थे । उस समय मेरे साथ वहाँ के व्यापारी हसमुखभाई मेहता, अहमदाबाद के नानुभाई भट्ट आदि थे । एक जगह फटेहाल कपड़ों की गट्ठरी जैसा मेरी नजर में आयी । उसे हाथ में लेकर खोलते उसमें से एक सोने की माला मिली । उसके साथ भी तामिल में लिखा था, 'यह तुम्हारे उपयोग के लिए है ।' वह माला हसमुखभाई ने बाजार में बेचकर उसकी रकम मुझे दी और प्रभुकृपा से इससे मेरी कठिनाई गयी । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ८८-८९)

(११)

एक बार कराची से साबरमती आश्रम वापिस आया तब जुलाई, अगस्त और सितम्बर का आधा महीना रुकना हुआ था । मुझे दुबारा

कराची जाना था । कब जाना वह निश्चित नहीं था । एक दिन डाकिये ने आकर मेरे हाथ में रजिस्टर्ड पैकेट रखा । उसमें से छः सौ पाँच रुपये की नोटे निकलीं और ऊर्दू लिपि में लिखा था, तुमने मेरे साथी श्री कुरेशी साहब के पास जाकर पढ़ा आया था । उस लेख में ऐसा था कि तुम्हें अपने जन्मदिन कराची जाना है और् वह भी उड़कर जाना ऐसा हुक्म है । चार सीट का एक छोटा विमान तब जाता था । उसमें टिकट मिलनी बहुत कठिन थी । दो-तीन बार जाँच करते टिकट मिली और 'हवाईजहाज' में बैठकर 'पैदाइश के दिन' मुसाफिरी की ।

हवाईजहाज में बैठने का उस समय का वर्णन कोई नहीं कर सकता ऐसी अगम ध्यानावस्था में बिता था । मेरे जैसा तो हवाईजहाज में जाने की कल्पना भी कैसे करे ? मेरी आर्थिक स्थिति की ऐसी संभावना भी नहीं थी । ऐसी रकम अचानक अपनेआप कहाँ से आ पड़ी !

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ९०-९१)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

५. साधना

पेटलाद में पढ़ता था, तब श्रीजानकीदास महाराज के समागम में आने का हुआ था । हाईस्कूल में से छूटकर और कभी जिस तास (Period) में पढ़ाने का न हो, उस समय पहले वहाँ से निकलकर उनके पास पहुँच जाता । वहाँ बुहारता । कभी उनके कपड़े भी धो डालता । कभी उनके पास चुपचाप बैठा रहता । वे दूसरों के साथ वार्तालाप करते, उसे शांत चित्त से सुनता । मुझे कुछ पूछना नहीं था । मेरा दिल उनके कथन को सुनने का था । वे सरल और सादे थे । रहनसहन भी वैसा ही । पेटलाद के रंगवाला सेठ उनके प्रति बहुत आदर और भक्तिभाव रखते, वे उनके निमित्त ही वहाँ रहते थे । उन सेठ साहब ने ही उनके रहने के लिए सारा प्रबंध किया था । वे किसी प्रकार का प्रवचन या कथावार्ता न करते थे अथवा शास्त्र का वाचन भी नहीं करते थे । मेरी अनुपस्थिति में करते हों तो राम जाने । हाईस्कूल में पढ़ता, तब दूसरे किसी भी प्रकार के खेलकूद में हिस्सा न लिया था । जब समय मिलता

और वे पेटलाद पधारे हों, तब अचूक उनके पास जाता था । कभी मैंने उनसे बात न की थी । वे कभी मेरी खबर पूछते सही कि क्या करता है ? क्या पढ़ता है । कहाँ रहते हो ? मैट्रिक में था, तब उन्होंने मुझे कृपाकर चेतावनी दी कि तुम्हारे शरीर को भयंकर बीमारी होनेवाली है, इसलिए तुम समयसर सारा अभ्यास कर लो और रंगवाला सेठ की ओर से चलती संस्कृत पाठशाला के आचार्य को कहा कि इस लड़के को मैट्रिक के विषय के सभी अभ्यास तुम अच्छी तरह पूरा करवा दो । यह लड़के को फुरसत मिले, तब तुम उसे सीखाना । वह परायी जगह रहता है, इसलिए वह निश्चित समय पर नहीं आ सकता ऐसी परिस्थिति है ।

पेटलाद में दीवानसाहब के घर से कुछ दूर संस्कृत पाठशाला थी । उस आचार्यश्री के पास से दो-ढाई महीने के कम समय में सारे संस्कृत का अभ्यास पक्का कर लिया था । खास करके व्याकरण के विषय में पूरीतरह । इसके अलावा श्रीजानकीदास महाराज ने मुझे कृपा करके चेतावनी दी थी । मैट्रिक के दूसरे सभी विषयों का अभ्यास उन विषयों की छपी मार्गदर्शिका प्रकाशित होती थी तथा उन विषयों के प्रश्न व उत्तर की भी पुस्तक छपती थे । उन सभी की मदद से शीघ्रता से अभ्यास कर लिया था । किसी प्रसंग में अहमदाबाद जाना हुआ । मेरे बड़े भाई, माँ आदि वहाँ रहते थे, तब भी मैंने श्री घनुभाई के वहाँ रहना रखा था । सचमुच ही श्रीजानकीदासजी की आगाही अनुसार **यह** शरीर बहुत बीमार पड़ा और मृत्यु हो सके ऐसी गंभीर स्थिति हुई थी । कितने ही दिन बेहोशी की हालत में रहना पड़ा था ।

इस बीमारी में मुझे श्रीजानकीदास महाराज का बहुत स्मरण होता और उन पर मुझे बहुत प्यार आता । शरीर की यह बीमारी लंबी चली थी । शरीर कुछ स्वस्थ होते अभ्यास की प्रवृत्ति शुरू करने को डाक्टर ने मना किया । मैट्रिक की परीक्षा में बैठने के लिए जो प्रावेशिक परीक्षा होती है, उसमें बैठ नहीं पाया था, परन्तु हाईस्कूल के हेडमास्तर साहब श्री ईश्वरलाल पटेल जो सोजित्रा के वतनी थे, उनकी मुझ पर अच्छी ममता थी, क्योंकि मैं विद्यार्थी के रूप में पढ़ाई में तेजस्वी था, इसलिए प्रावेशिक

परीक्षा में मैं न बैठ सका, तब भी मुझे फोर्म मिल गया था । श्रीजानकीदास महाराज ने कृपाकर मुझे बताया न होता तो जरूर फेल हुआ होता । सद्‌भावना से सेवित सत्संग मेरे विषय में सफल परिणाम में परिवर्तित अनुभव हुआ । मुझे यह भी लगा कि **ऐसे सत्संग की अभिरुचि हुई हो और हमें वैसे स्थान पर जाने का मन हो, तो ऐसा सत्पुरुष के पास खाली बैठने से भी हमें शांति और हलकापन जरूर लगेगा ।** इसलिए बारबार उनके पास जाने का दिल में भाव हुआ करता ।

फिर उन्होंने मुझे अहमदाबाद में श्रीसरयूदास महाराज के पैर पड़कर उनके आशीर्वाद लेने की खास सलाह दी थी । मैंने वैसा किया भी सही । यह सब हुआ उस समय सत्संग का पूरा महत्त्व या महिमा जानता न था, परन्तु आज retrospection की धारणा से यानी पूर्व स्मृति की धारणा से इतना जरूर कह सकता हूँ कि श्रीजानकीदास महाराज अनुभवी महात्मा थे । वे नडियाद में संतराम महाराज के मंदिर में कभी-कभी पधारते, तब उनके पास जाता था । उन्होंने मेरी पहले की पहचान याद रखी थी और उस समय तो मैं साधनाप्रदेश में प्रवेश कर चुका था । उनके पूछने से मैंने उन्हें उस प्रदेश की मेहनत विषय में बतलाया था, परन्तु साधना में **मुझे जो कठिनाई और उलझन होती वह व्यक्त रूप में मैं उन्हें नहीं कहता था । तब भी उनके पास जाना होता था, वह सब प्रार्थनाभाव से अपने मन में धारण करके बैठता और वे दूसरों के साथ कोई वार्तालाप करते हों अथवा कहीं कुछ कहते हों, उसमें से मुझे मेरी समस्या का हल मिल जाता था । इसतरह का अनुसरण श्रीसंतराम महाराज के मंदिर में दूसरे महात्मा पधारते तब भी करता था ।** ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २६८ से २७२)

● ● ●

हरिजन सेवक संघ में काम करता, तब कभी एकाद महीने की छुट्टी लेकर दूर एकांत स्थल पर चला जाता । मेरे उस सेवा के क्षेत्र में मैंने कभी एक भी फालतू छुट्टी नहीं ली । रविवार के दिन भी हरिजनवास में जाता और कोई प्रवृत्ति करता । वास के लोगों के साथ सद्‌भाव से

मिलता । नडियाद में मुझे अधिक समय तक इस क्षेत्र में रहना हुआ । उसे मैं भगवान की परम कृपा मानता हूँ । उस समय संघ में काम करते मेरे एक स्नेही श्री चूनीलाल व्यास थे । वे हमेशा मुझे उकसाते रहते थे । वे कहते कि तुमने सर्वप्रथम हरिजनों की सेवा में प्रवेश किया और अकेले हाथ अनेक काम जवाबदारीवाले करते थे । यह सब तुम्हारे पास से लेकर एकमात्र छोटी पाठशाला का काम दिया है, यह तुम्हारा निरा अपमान है । तुम निपट कायर हो । इसका सामना भी नहीं करते ! तुम सभी से डरते हो । तुम में सच बोलने की ताकत और हिंमत नहीं ।

वे भाई नडियाद में मेरे हाथ के नीचे काम करते थे, तब तक बारबार मुझे उस तरह टोकते । उनकी वहाँ से बदली हो जाने के बाद भी जब भी मिलने का होता, तब वैसा किये बिना नहीं रहते । मैं प्रभुकृपा से उस समय साधना में प्रवेश कर चुका था । इसलिए प्राप्त परिस्थिति और संयोग मेरे अपने विकास के लिए हैं, उस दृष्टि से दृढ़ता, संतोष और प्रेम से उसे स्वीकार कर लेना किया था और दूसरी दृष्टि से सोचना न होता था । नडियाद के उस वर्ष का समय स्थित और एकरस होने के कारण मेरे लिए आवश्यक था और वह प्रभु की परम कृपा थी ।

नडियाद में मेरा काम एक नन्ही पाठशाला का मर्यादित भले था, परन्तु उतने ही पूरे उस काम को मर्यादित नहीं किया था । अस्पृश्यता का निवारण हो, उस प्रकार के समारंभ भी वर्ष में एक-दो बार आयोजित करता होता । भाद्रपद कृष्ण पक्ष द्वादशी, गांधीजी के जन्मदिवस के निमित्त प्रसंग एक समय हरिजन तथा गाँव के प्रतिष्ठित सज्जनों का एक स्नेह-संमेलन आयोजित किया था । उसमें सूके मेवे तश्तरी में देने का प्रबंध किया था । हम सभी एकसाथ एक पंक्ति में बिछाकर बैठ सकें ऐसी व्यवस्था की थी । हरिजन के अलग-अलग वर्ग में से व्यक्ति बुलाये थे । नडियाद शहर के प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों को आमंत्रण-पत्रिकाएँ अपनेआप दे आने का किया था । यह संमेलन बहुत अच्छी तरह प्रभुकृपा से पार

हुआ । श्री गोकुलदास तलाटी ('बापू' के रूप में उन्हें सभी नडियाद में संबोधन करते) तथा श्री फूलचंद बापूजी शाह और ऐसे दूसरे नामांकित सद्‌गृहस्थों खास आमंत्रण से पधारे थे । इसप्रकार के समारंभ ने दूसरे दिन नडियाद गाँव में भारी हाहाकार मचाया । शहर की अलग- अलग जगह इसकी चर्चा हुआ करती थी ।

श्री गोकुलदास तलाटी और श्री फूलंचद शाह की ज्ञाति ने इकट्ठा होकर उनका ज्ञाति बहिष्कार करना तय किया । उन दो सज्जनों के पक्ष में उनकी ज्ञाति के व्यक्ति थे । इसलिए ज्ञाति के दो भाग हो गये । उन वणिकों की ज्ञाति की असर मेरे शरीर की ज्ञाति पर पड़े बिना नहीं रही । मुझे ज्ञाति में से बहिष्कार करने की चर्चा जागी, परन्तु वह अटक जाने में ज्ञाति के प्रति मेरा हमेशा का नम्रता और सद्‌भावपूर्वक का वर्तन तथा पूज्य श्रीगोदडिया महाराज का मेरे प्रति का सद्भाव का कारण हो तो हो । वे नडियाद पधारते, तब नडियाद के श्मशान में वास करते । मुझे भी रोज रात वहाँ सोना होता । उस कारण उनका और मेरा प्रभुकृपा से मिलाप और संगम हो गया था । इससे बारबार उनके पास ही मैं जाता । मेरी साधना की ओर गति की उन्हें भनक हो गयी थी । मैं अपने से हो सके उतनी उनके शरीर की सेवाचाकरी करने से नहीं चूकता । मेरी ज्ञाति के सज्जन भी उनके पास बारबार आते-जाते थे ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २७३-२७४)

● ● ●

इस जीव को जब से साधना का कर्म प्रभुकृपा से प्राप्त हुआ, तब से वह भाग्य से ही घर में सोता, हमेशा वह श्मशान में ही सोता । जहाँ-जहाँ भय लगे ऐसी भयंकर जगह हो, वहाँ वह जाकर रात्रिवास करता । फिर, जिस जगह साँप, बाघ, सिंह आदि जंगली पशुओं का भय हो, वहाँ वह रात बिताने का जाग्रत प्रयत्न प्रभुकृपा से मौका मिले करता ही था । **लोगों के रीतिरिवाज और उसके शिकंजे से भी मनुष्य भयमुक्त नहीं हो सकता । लोगों को भी उसका अधिक भय होता है । लोगों के वातावरण से वह विरुद्ध आचरण नहीं कर सकता और वैसे**

वातावरण से वह भयग्रस्त रहता है । इस सभी से भयमुक्त होने के लिए जब-जब ऐसे प्रसंग आये तब-तब *इस जीव* ने प्रभुकृपा से ऐसे अनेक प्रकार के भय में से मुक्त होने का जबरदस्त प्रयत्न किया है । उस समय शहर में संगेसंबंधिओं के घर के पास से होकर रास्ते पर भजन गाता-गाता और नाचते-कूदते चलने जाने का होता । मासी, मामा और दूसरे सगेसंबंधी मिलते, परन्तु मुझे कोई रोककर बुलाता नहीं था । उन्हें मैं देखता तो भजन की मस्ती में उन्हें दो हाथ जोड़कर सिर हिलाकर प्रणाम करता, परन्तु कभी खड़ा न रहता । ऐसी मस्ती के तान के मद में और मुक्त कंठ से प्रभुकृपा से गाना होता, इससे दिल में जो एक मस्ती चढ़ती उसकी खुमारी कोई नहीं समझ सकता । अभय लाने के लिए सोचकर कोई कदम मैंने नहीं लिया, परन्तु जीवन में अनेक प्रकार के जब-जब ऐसे प्रसंग आये, तब-तब उनमें से भयमुक्त होने प्रभुकृपा से जबरदस्त संग्राम होने का भान जाग्रत हुआ था ।

श्मशान और ऐसी भयजनक दूसरी जगहों पर रहना होता, उसमें अकेले भयमुक्त होने की महत्त्वाकांक्षा थी, ऐसा बिलकुल न था । मुझे स्वयं मानवीसमूह के कोलाहल से दूर एकांत जगह मिल सके, तो साधना का काम खूब शांति और आनंद से हो सके, उस उद्देश्य से प्रेरित होकर वैसी जगह पसंद आती, प्रारंभ में कोई भय न लगे ऐसा न था, परन्तु वैसा होने पर स्मरण किया करता, प्रार्थना करता । **भय एक प्रकार के ऐसे संस्कारों के परिणाम से होता है । ऐसे संस्कार हट जाय तो भय जैसा नहीं लगता, ऐसी गहरी समझ प्रभुकृपा से दिल में हुई थी, इसके कारण भय में से मुक्त हो जाने का हो सका था ।**

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ५१-५२)

● ● ●

फिर, **यह जीव** कभी काँग्रेस का सदस्य नहीं बना था । प्रेम से १९३० के राष्ट्रीय युद्ध में पूरीतरह कूदा, तब अभय कैसा और कितना आया है, उसके अनुभव के लिए उस संग्राम में प्रभुकृपा से कूदने का हुआ था । बोरसद तालुका के दहेवाण गाँव के ठाकोर ने

ठगकर स्वयंसेवकों को अपने गाँव में आमंत्रित कर रात को सार्वजनिक भाषण रखा । चारों तरफ से घेरकर लकड़िओं से भयंकर मार मारने का किया था । **इस जीव** ने जोर से हरिस्मरण करते-करते लाठी की मार खायी थी और वहाँ से एक कदम भी नहीं हटा था । १९३० के संग्राम में ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं । जेल में जाने का साधना के उद्देश्य से ही हुआ । मेरी माँ मुझे कभी लंबे समय के लिए दूर एकांत में साधना के लिए जाने को आशीर्वाद न दे । जब १९३० का संग्राम हुआ, तब मैंने माँ से कहा कि, माँ ! इस नमक को हलाल होने का समय आ गया है । जिसका हमने नमक खाया, वह नमक अब हमें देश के सामने खुमारी से युद्ध में जुड़ने की चुनौती दे रहा है । अब हम से चुपचाप बैठे नहीं रहा जाएगा । मुझे तुम संमति दो । प्रभुकृपा से संसारव्यवहार का खर्च चल सके ऐसी व्यवस्था हो जाएगी । उसने मुझे उत्साह से तो नहीं पर जैसे-तैसे करते संमति दी । मेरी ऑफिस के कामकाज की व्यवस्था के लिए भाई परीक्षितलाल को मैंने लिखकर बतलाया और आर्थिक व्यवस्था भी की थी । जेल में सतत मौन पालता । किसी के साथ न बोलता । मैं स्मरण, प्रार्थना, ध्यान आदि के मेरे कार्य में मस्त रहा करता । जेल का दिया कामकाज करने में प्रेमभक्ति से उमंग बताया करता । जेल में अनेक की असलियत पूरीतरह खुल जाती । वे इतने सारे प्रकार की ठगी करते और प्रपंच करते कि वह देखकर मुझे तो होता कि ऐसे अहिंसा का भाव किस तरह रख सकते हैं ? ऐसी संभावना उनमें थी नहीं ऐसा लगता था । वे वातावरण के आवेग में बहकर आ गये थे । जेल में सतत निरन्तर स्मरण, प्रार्थना, ध्यानादि में पलोपल जागृतियुक्त समय प्रभुकृपा से जाता था । यह हकीकत भाई परीक्षितलाल, हरिवदनभाई और हेमन्तभाई ने अनुभव की है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ५४ से ५६)

● ● ●

इस जीव ने ज्ञानभक्तिपूर्वक अपने सकल प्रकार के जीवनव्यवहार में नम्रता का गुण लाने का सतत निरन्तर प्रयास किया है । नम्रता शून्य

की सीमा तक ले जाने का प्रभुकृपा से यह जीव संघर्षरत रहा करता था। **नम्रता इतनी हद तक की कि अनेक 'बुद्धू' गिनते और जानते। नम्रता ऐसे ही कोई नहीं आती। जीवन की अनेक प्रकार की समझ, मान्यताएँ और आग्रह आदि के प्रति जोश घटे बिना सच्ची नम्रता आयी जानी नहीं है।** इससे मेरी अलग समझ को जरा भी महत्त्व दिये बिना दूसरे सभी की सलाह-सूचन को प्रेमभक्तिभाव से किया करना करता। यह सच्चाई अनेक लोगों की जानकारी में है। **ऐसा होना अनासक्ति योग्य रूप से आये बिना नहीं हो सकता।** जब साबरमती गाँधी आश्रम में गुजरात हरिजन सेवक संघ के सहमंत्री पद पर था, तब काम करते पाखाना जाने हेतु वहाँ प्रयाण करता। उस समय कन्या छात्रालय की बहनें मुझे मजाक में कहती कि चूनीभाई, पाखाना मत जाना। वापिस जाओ। मैं उनके हेतु का ज्ञानभाव के साथ पालन करता। इससे दूसरे इसे मूर्खता मानते। उसमें भी एक प्रकार का संयम लाने हेतु चेतनामय रखता। पाखाना जाने को दबाये रखना आरोग्य के लिए हानिकारक है यह जानता था, परन्तु **जो कर्म हेतु के ज्ञानभाव के साथ होता है, उस कर्म में से हानि अनेक गुनी कम होती है, ऐसा अनुभव मुझे अनेक बार प्रभुकृपा से हुआ किया है।** ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ५९)

● ● ●

नडियाद का आश्रम चलाने का काम था, तब छुट्टिओं में विद्यार्थिओं के गाँव जाना होता। उनके निवास में जाकर हम रहते। भंगीवास में भी हम रहते। उनके बर्तन-देगची, घड़ा आदि को नदी या जलाशय पर ले जाकर खूब मांज मांजकर एकदम चमकीला बनाते और उसमें वहाँ से पीने का पानी भर लाते। विद्यार्थिओं के साथ हम ऐसे चमकीले बर्तन लेकर आते, इससे उस गाँव के लोग गुस्सा होते और हमें धमकी भी देते। वास में हम अपना भोजन बनाते। रात को भजनकीर्तन का कार्यक्रम रखते। यह सब मुझ से होता वह साधना की भावना से हुई कर्म के प्रति प्रामाणिकता, वफादारी और निष्ठा के कारण था।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ६१)

इस जीव को साधनाकाल में क्षणभर भी फुरसत न मिलती थी । बस काम, काम और काम । इससे मुझे लाभ भी हुआ है, हानि नहीं हुई । मुझे स्वयं अनेक अन्याय हुए हैं, इसकी कथा और इतिहास कहाँ लिखूँ ? काम करते-करते **इस जीव** को न्याय मिला है कि नहीं यह देखना हमारा काम नहीं है । मन में इसके लिए दुःख नहीं हुआ । मित्रों पर तो सद्‌भाव उल्टा बढ़ा है, कम नहीं हुआ ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १७८)

● ● ●

एकाद महीने एकांत निर्जन स्थान में साधन के लिए जाता, तब भोजन या खाने की प्रवृत्ति में न पड़ता । भूख लगे तब पास के जलाशय का पानी पी लेता । वह स्थान निपट निर्जन, बस्ती से बहुत दूर और कुदरती सौंदर्य से भरपूर हो ऐसा पसंद करता । किसी मनुष्य के बहकावे में आ जाऊँ ऐसा न होता था । कम से कम चार-पाँच दिन के, कभी तो इससे भी अधिक दिन निराहार निकल जाते । फिर भी भूख के त्रास ने मुझे कभी सताया नहीं । यह भगवान की परम कृपा । मुझे भी एक लगनी लगी थी । अलग-अलग प्रकार के साधना का अभ्यास और उसमें से नया सूझा करता था । जैसे धनुर्विद्या में जिसे ताकना हो, वहाँ एकाग्र और केन्द्रित दृष्टि निश्चितरूप से होनी चाहिए, इसीप्रकार की भावना में दिल अधीर रहा करता । यद्यपि उसमें मंदता के दौर कभी- कभी आते सही और कभी ओट का असर भयंकर सालता था ।

जिसे 'धुआँधार' कहते हैं, वह नर्मदाजी के एक स्थान पर प्रभुकृपा से मेरा जाना हुआ था । उस धुआँधार के सामने खड़े रहकर देखें तो बायीं ओर प्रपात के बिलकुल छोर पर एक गुफा जैसा था । उसमें बैठकर साधना करने का आदेश मिला । एक तो धुआँधार की आवाज से ही जी घबरा जाय, उसमें वहाँ बैठना और फिर साधना की भावना में व्याप्त होना यह कोई मामूली हकीकत नहीं है । किसी की बिसात न हो ऐसा वह स्थान था । 'बिसात न हो' ऐसा वक्तव्य भी ठीक नहीं । अनेक तो हिंमत ही हार जाय ऐसा वह स्थान था । प्रभुकृपा से मुझे हुक्म

मिला । उसका प्रेमभक्तिपूर्वक का पालन कैसे हो वही सोचना था । **जो करने के लिए सचमुच उत्साह से भरा दिल हो, तब उस कर्म को करने का उपाय और हृदय की सूझ भी उसमें से मिल जाती है, ऐसा मेरा एक वक्त का नहीं पर अनेक समय का जीवन्त अनुभव है ।** कैसे-कैसे उपाय किये जिससे धुआँधार के पास की गुफा में जा सका, वह नहीं लिखता । २१ दिन वहाँ रहने का प्रभुकृपा से हुआ था । दिन के प्रत्येक पल प्रभुकृपा की भावना में तथा विविध साधना के अभ्यास में बिताने का हो सका था, यह उसकी परम कृपा ! भोजन ५-६ दिन तक हरि के आशरे ही । उसके बाद किसी पात्र में डोरी से भोजन बाँधकर उसे यहाँ-वहाँ हिलाकर मेरे हाथ की पकड़ की मर्यादा में वह आ सके इसतरह एक बार देने का कुछ लोग करते थे । मलमूत्र भी वही करना होता । ऐसी तो अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ **इस जीव** ने सहन की हैं ।

एक बार गुजरात हरिजन सेवक संघ में से एक महीने की छुट्टी लेकर मध्यप्रदेश में गया था । उस समय २४-२५ दिन दूसरे किसी प्रकार का आहार या पानी या दूसरा लिये बिना मेरा मात्र मल जो रोजरोज अंतिम दिन तक सहजरूप से निकलता, वही मैं खाता और पेशाब पीता । इससे शरीर की मलशुद्धि भी अच्छी हुई और शरीर की स्थिति भी अच्छी हुई थी । मल खाते घिन न होती । पेशाब पीते हुए इतनी घिन नहीं आती । मल में दुर्गंध नहीं लगती थी । गोबर जैसा स्वाद लगता था । उत्कट भावना के कारण ऐसा सब संभव हो सकता है । ऐसा प्रकार अघोरी की साधना का एक प्रकार गिन सकते हैं । ऐसी साधना हरएक के लिए आवश्यक ही हो ऐसा कभी नहीं कह सकते । मुझे किसी ने नहीं बतलाया था, स्वयं मुझे वैसा करना सूझा था ।

('जीवनसोपान', आ. २, पृ. २५९, २७५, ३९३-३९४)

● ● ●

एक बार चित्रकूट नामक निर्जन स्थान पर जाने का **इस जीव** को हुआ । तब एक ब्राह्मण पंडित रोज एक बार भोजन दे जाते थे ।

---

* कण-कण में केवल श्रीभगवान ही व्याप्त है, उसके प्रत्यक्ष आचरण का प्रत्यक्ष प्रयोग ।

उस समय जो कोई भोजन देने आये, उसके साथ किसी प्रकार की बातचीत मैं नहीं करता था । उस पंडितजी के साथ मैंने बातचीत नहीं की थी, परन्तु वहाँ से जाते समय उन्होंने मेरा पत्ता ले लिया था । ये पंडित एक बार नडियाद पधारे थे । मेरी माँ ने सीधा (भोजन की कच्ची सामग्री) देकर उनके पास रसोई करवाई थी, क्योंकि वे दूसरे किसी के हाथ का खाते नहीं थे । उन्होंने मुझे बतलाया कि मैं कभी घर में नहीं सोता । मैंने उनसे कहा कि, मैं तो रोज गाँव के बाहर श्मशान में सोने जाता हूँ, इसलिए तुम मेरे साथ आना । हम दोनों उस रात श्मशान में सोये । मैं रात को अपनी साधना किया करूँ और वह भी अपनी । वे मैली विद्या के साधक होंगे ऐसी छाप मेरे मन पर पड़ी थी । उस प्रकार की बातचीत उसके बाद उन्होंने मुझ से की । प्रेत की भी योनि है, जैसे मनुष्य की योनि है वैसे । मंत्रविद्या से वह प्रत्यक्ष कर सकते हैं, वैसा उन्होंने मुझे वह प्रत्यक्ष करके बतलाया । वे मुझ से कहते कि मुझे इस विद्या का अंतिम एक कदम भरना है । उसकी परिपूर्णता के लिए अमुक प्रकार का यज्ञ करके उसमें अमुक-अमुक होमना होता है । यह सारी विधि करके इसकी पूर्णाहूति हो तो मुझे इस विधि की पूरीतरह सिद्धि हो जाय । मैंने उनको कहा कि, हमें ऐसी विद्या के साथ निसबत नहीं है । हमें स्वराज चाहिए । वह कहते कि, इस प्रेतविद्या से वाइसरॉय को भी डगमगा सकते हैं, परन्तु इस विद्या की पूर्णाहुति करने की आवश्यकता है । उसमें जो सभी होमने की विधि करनी है, उसके लिए रकम लेने तुम्हारे पास आया हूँ । मैंने उन्हें मेरी आर्थिक स्थिति की वास्तविकता बतला दी । उन्होंने बतलाया कि चंदा करके मदद करो । यह मुझ से नहीं हो सकता, इसकी स्पष्टता करके अहमदाबाद जाने का किराया देकर उन्हें विदा कर दिया था । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २७६-२७७)

*मैंने एक बार कराची में रोजा किये थे । चालीस दिन के उपवास का संकल्प । अड़तीस दिन हुए तब एक गोदडिया महाराज मिले । उन्होंने

---

* श्रीमोटा इस उपवास दौरान दो बार चाय लेते, दूसरा कुछ नहीं ।

कहा, 'किसलिए इतने सारे उपवास ? बस हुआ, खा ले ।' प्रथम मैंने 'अच्छा' कहा, फिर हुआ कि दो ही दिन के लिए क्यों रोजा तोडूँ ? इतने दिन गये तो दो दिन अधिक । मैंने सूक्ष्म अहम् के जोर से गोदडिया महाराज की आज्ञा का पालन नहीं किया । उसी समय मैं अपने यजमान बुजुर्ग की कार में बैठकर कहीं जा रहा था । उस दौरान रास्ते पर के प्रांगण पर बैठे हुए मैलेकुचले ओलिया जैसे मनुष्य ने मुझे हाथ के इशारे से बुलाया । मैं कार रोककर मेरे यजमान के विरोध पर भी उनके पास गया । उस ओलिया ने कहा कि, अभी तुम्हारा अहम् नहीं गया ? ले, यह मिठाई खा ले और रोजा पूरा कर । मुझे इस वक्त समझ में आ गया कि मेरा सूक्ष्म सात्त्विक अहंकार तोड़ने भगवान ने इसे आयोजित किया, इसलिए मैंने वह मिठाई खा जाने की तैयारी बतलाई । मेरे यजमान ने कहा, 'अबे, इतने दिन के उपवास के बाद यह मिठाई नहीं खानी चाहिए । बीमार पड़ जाओगे ।' पर मैं उस ओलिया के आदेश को सिर पर चढ़ाकर उन्होंने दी मिठाई वहीं पर खा गया और रोजा पूरे किये । **शुभ संकल्पबल का अभिमान हम में हो, उसे तोड़ना होता है । ईश्वर कृपा करके हमारे पास उसे तुड़वाता है ।**

● ● ●

इस जीव ने नम्रता की तालीम जानबूझकर समझपूर्वक विकसित की थी । सेवा के क्षेत्र में हक्क छोड़कर इससे नीचे दरजे की जगह स्वीकार किया करता था । नडियाद की शाखा और आश्रम में **यह जीव** मुख्य पद पर था, पर मेरे हस्तगत शिक्षक को आचार्यपद पर रखकर उसके हस्तगत काम किया करता था । इससे उस शिक्षक को उत्तम शिक्षा मिलती, सीखने को मिलता । बोडाल आश्रम में मुख्य व्यवस्थापक के रूप में बदली हूई, पर उस स्थान में हेमन्तभाई को ही मुख्य व्यवस्थापक नियुक्त करना ऐसी मैंने स्वयं हमारे संघ की व्यवस्थापक सभा को विनती की थी । हेमन्तभाई को अपना ऊपरी मैंने स्वयं ही बनाया था और वह भी मेरी माँग से ।

एक संस्था में साथ काम करने पर भी, किसी भी दिन बिना समझे-बूझे बीच में नहीं बोला । मुख्य पदवाले को सूचनासलाह

देने का भाग्य से ही होता था । कभी आगे होकर कुछ मोल नहीं लेता था । प्रभुकृपा से हो उतना मौन रखता । काम करने में सबके साथ बराबरी में पूरी तरह रह सकता । यह हकीकत लिखने का कारण सभी स्वजन समझें और वैसा व्यवहार कर सकें ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७४ से ७७)

● ● ●

महर्षि देवेन्द्रनाथ की याद में शांतिनिकेतन की स्थापना हुई थी, तब भी उनकी मूल समाधि की जगह विस्मृत हालत में थी । फिर, रोज सुबह के नास्ते के समय रसोईघर के मकान के बाहर अनेक माँगनेवाले स्त्रीपुरुष खड़े रहते और नास्ता निपटने के बाद लूटने को झपाझपी करते–इन दो निमित्त से शांतिनिकेतन के मुख्य संचालक कविवर टागोर के पुत्र श्री रथीन्द्रनाथ को मिलने की इच्छा हुई । *श्रीमल्लिकजी ने उन्हें न मिलने का सूचन किया था, क्योंकि उनका स्वभाव इसप्रकार का था कि शायद मेरी वे अवगणना करें, **परन्तु हमने जो करने का निर्णय किया हो, उसे प्रेम और नम्रता से करना था । हमारा क्या होगा इसकी हमें दरकार नहीं होती । सच्चे साधक का यह एक लक्षण है ।** वे मिल सकते हों वैसे समय एक दिन कागज पर मेरा नाम लिखकर भेजा । उन्होंने मुझे अंदर बुलाया और मिलने आने का कारण पूछा । मैंने उन्हें बतलाया, 'इस पवित्र वातावरण में मुझे दो चीजें कचौट़ती हैं । एक तो जो स्थान पर महर्षि देवेन्द्रनाथ टागोर को आठ घण्टे की समाधि लगी और इससे 'शांतिनिकेतन' ऐसा वे बोल उठे, उस पर से इस संस्था का नाम पड़ा है । वह पवित्र समाधि की जगह विस्मृत हालत में है, ऐसी स्थिति संस्था को शरमाये ऐसी है और दूसरा सुबह के नास्ते के समय रसाईघर के बाहर भीख माँगनेवालों की जो एक बड़ी भीड़ जमती है

---

* शांतिनिकेतन के अंग्रेजी के प्रोफेसर श्री गुरुदयाल मल्लिकजी का कुटुंब कराची रहता । उनके साथ मेरा ठीक से वार्तालाप हुआ था । वे सत्संग की भावनावाले और साधना के मार्ग में प्रवेश किये हुए तथा उसके आंतरप्रदेश में पहुँचे जीवात्मा हैं । उनकी नम्रता साधना के आदर्श का अनुसरण करने योग्य है ।

और नास्ता निपटने के बाद जूठन के लिए जो झपाझपी होती है, वह एक प्रकार की दिल में जुगुप्सा जगाता है। इन दो विषयों में आप योग्य व्यवहार करें तो उत्तम होगा ऐसी विनती करने आया हूँ।' उन्होंने मेरी ये दोनों विनती ध्यान से सुन लीं। मैं उनकी समंति लेकर तुरन्त बाहर निकल आया। उन्होंने कुछ भी उत्तर न दिया था। एक शब्द न कहा था। उनके पास मैं हो आया इससे मुझे स्वयं संतोष हो गया।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २०१-२०२)

● ● ●

इस जीव के साधनाकाल में एक समय ऐसा बड़ी कठिनाई भरा आया था कि जब उससे होते सकल पुरुषार्थ से कुछ न हो पाता था। उस समय उसने ज्ञानभक्तिपूर्वक श्रीसद्गुरु का आश्रय लेकर पुकारा था, प्रार्थना अनेक की हैं।* प्रत्येक लाईन के अंत में मेरे गुरु का नाम 'केशव' आया करता। ऐसी प्रार्थनाओं से जीवन में रचनात्मक लाभ हुआ है, यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।** **श्रीसद्गुरु की मदद मिलती है। यह हकीकत सत्य है, परन्तु जब उसमें हमारा दिल**

---

* (वैष्णव नहीं हुआ तू रे ! वह ढाल)

हरि ! मैं क्या करूँ रे ! मुझे चैन न पड़े कहीं भी।
चित्त चिपके मेरा न कहीं भी, मनोमंथन भारी।
कहाँ धकेल दिया मुझको, प्रवाह भँवर में भारी। –हरि.
सुंदर मेल था जमा, मेरे जीवन का बापू !
किसने मेरा घर नष्ट किया, जो था लिपापुता ? –हरि.
जीवनपथ में कहाँ से आये सूखे रणमैदान ?
रसकस मेरे उड़ गये कहाँ ? कहाँ से ये तूफान ? –हरि.
डाँवाडोल होती मेरी नौका, चढ़ा मेरा मन बवंडर में
निवृत्ति प्रवृत्ति के बीच क्यों फँसा डाले ? –हरि.
जैसा सूझा वैसा किया करा, मदार तुझ पर रख
अब क्यों लड़खड़ाये, आयी जहाँ मुझे आँधी ? –हरि.

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १५१)

** 'केशवचरणकमळे' शीर्षक से प्रकाशित हुई पुस्तक में ये प्रार्थनाएँ हैं।

प्रेमभक्तिपूर्वक लगा होता है, तब वह अनुभव होता है । हमारा उस पर का प्रेम न्योछावर हो जाने की भावना की तुलना दूसरे किसी के साथ नहीं की जा सकती । श्रीसद्‌गुरु के प्रति हमारे दिल में प्रकट हुआ भाव हमें साधना में विशेष से विशेष एकाग्र और केन्द्रित करने को पूरी तरह शक्तिशाली है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २०४-२०५)

● ● ●

सन् १९३१ में साबरमती जेल में हेमन्तभाई और मैं साथ थे, तब उन्होंने पूछा कि क्या गुनगुना रहे हो ? उन्होंने बहुत बार पूछा तभी 'हरिः ॐ' का जप करता हूँ' ऐसा कहा था । इसके अलावा दूसरा कुछ न कहा था । दूसरे मेरे कर्मसाथिओं को इतना भी पता न था । फिर जीवन में अद्‌भुत गिने जाये ऐसे प्रसंग किसी को क्यों बताये हो ? साधनाप्रदेश के अनुभवों की कुछ हकीकत ऐसी होती है कि दिल में और दिल में भरी जीवंत पड़ी होती है । उसका सहृदयी के आगे भी मौन रखा है । यद्यपि मौन रखना और संयम रखना वह हम मानते हैं उतना सरल नहीं होता । प्रभुकृपा से जो कुछ उसका काम था, वह अत्यन्त गुप्तरूप से हो ऐसा मन में हुआ था । इसीसे १९२६ से मैं और हेमन्तभाई साथ थे, तब भी १९३८ में कराची में पहली बार **इस जीव** के आध्यात्मिक जीवन का स्पष्ट ख्याल आया था । मात्र १९३१ में हम बोडाल आश्रम में साथ थे तब अंदर के कमरे में वर्ग लेते-लेते एक बार अचानक कुछ ऐसा निमित्त मिला और उसका स्फुरण होते देहभान संपूर्णरूप से चला गया था और बाहर बरामदे पर हेमन्तभाई को बुलाने लड़के गये थे, तब उन्होंने **इस जीव** की ऐसी दशा देखी थी । तब भी मैंने 'ऐसा मुझे कभी-कभी हो जाता है' इसतरह कहा था कि उन्हें कुतूहल न हो । फिर, एक-दो बार **इस जीव** को मध्यरात्रि के एक-दो बजे बाहर दिवार के आगे या खिरनी वृक्ष के नीचे ध्यान-प्रार्थना में बैठे उन्होंने देख लिया था । पूरे दिन चलते भारी शारीरिक श्रम के बाद भी मध्यरात्रि जागकर बैठने जितनी और दूसरे दिन वही नित्यक्रम उमंग से करते रहने जितनी शक्ति मुझ में किस तरह रहती है, उसका आश्चर्य उन्हें हुआ था । एक बार

बोरसद के सार्वजनिक दवाखाने के नागर डॉक्टर साहब ने उनको कहा था कि उन्हें भजन करते-करते देहभान चला जाता है । आँख में से लगातार प्रेमभक्ति की अश्रुधारा बहती है, ऐसा अनेक बार देखा है । इसका पता उन्हें डॉक्टर साहब के द्वारा लगा सही, पर उसमें **इस जीव** की कोई इच्छा न थी । इस प्रकार, हेतुपूर्वक इतने वर्ष मौन रखा है ।

अब ऐसे प्रसंगों मैं क्यों लिख रहा हूँ ? कोई गुण योग्य और पर्याप्त प्राप्त होने के पश्चात् उनकी निरन्तर धारा विकास की अमुक कक्षाएँ पार करने के बाद वैसी की वैसी नहीं रहती । पहले इस जीव को मौन और गुप्तरूप से होती साधना उस काल तक योग्य थे वैसे अब उसकी स्थिति का प्रागट्य प्रभुकृपा से हुआ है कि जीवन की पूरी दशा बदल गई है । उसके उस दिखते देह में नया ही जन्म हुआ है । इससे अब इस मार्ग के विकास के हेतु के लिए प्रभुकृपा से हुए स्वजन के आगे व्यक्त करने का योग्य लगा है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २३२-२३४)

● ● ●

१९३१ में जब हेमन्तभाई और मैं साथ में बोडाल के हरिजन आश्रम में रहते और काम करते, उससे पहले मैं नडियाद में था, तब एक भाई ने उनके विरुद्ध मुझे बहुत कह डाला था । उनके विषय में उन्होंने अनेक शिकायतें भी की थी । इससे मैं बहक गया होता तो उनके साथ मेरा मेल कभी न रख पाता, परन्तु प्रभुकृपा से सभी का सहानुभूतिपूर्वक सुनना सही, फिर भी उसमें दिल न जाने दे इतनी तटस्थता और समता विकसित होने से उसकी कोई असर न हुई थी । **'सभी का सुने सही पर उसकी असर न होने दें' यह मानते हैं इतना सरल नहीं ।** इसलिए किसी की नकारात्मक हकीकत न सुनने में ही सार है ।

बोडाल में हमारे बीच कैसा प्रेमपूर्वक सुमेल प्रकटा था ! इसे देखकर हरिवदनभाई और परीक्षितभाई को भी आश्चर्य हुआ था और

बतलाया था कि ये लोग पति-पत्नी हों इसतरह संसार चलाते हैं ! इससे, मित्रों ने विनोद में हमारे नाम 'गुलाब' और 'कुसुम' रखा था । हेमन्तभाई एक बार सूरत गये थे, तब मजाक करने के लिए उनको खुल्ले पोस्टकार्ड में 'प्रिय गुलाब' ऐसा संबोधन कर नीचे 'तुम्हारी कुसुम' इसतरह हस्ताक्षर किये थे । इस बात को उनके कुटुंबीजन अब भी याद करते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २७०-२७१)

सन् १९३२ में जेल से छूटकर आया, तब पूज्य ठक्करबापा मुंबई में थे, इसलिए उन्हें प्रणाम करने गया । उन्होंने आदेश दिया कि अब तुम्हें जेल में नहीं जाना है । तुम्हें संघ का काम करना है । उसमें मेरे बापू ने भी सूर भरा । उन्होंने मुझे सलाह दी कि ठक्करबापा की बात सही है । मेरी भी तुम्हें यह सलाह है । मैंने उसे माना । मंत्रीपद पर नियुक्त हुआ । आश्रम का कार्यभार हाथ में आया । उस समय के मंडल की सभी संस्थाओं की देखरेख, मन में प्रकट हुई रचनात्मक जिम्मेदारी के भान के कारण मेरी साधना की भावना के प्रवाह की दिशा कुछ नरम हुई थी । उसका मनोमंथन हुआ तब मुझे दुबारा इस भाव में सतत लगे रहने के लिए प्रभुकृपा से प्रेरणा मिली थी । उसेक पश्चात् वे सारे काम गौण हो गये थे ।

अनेक बार ऐसा होता है कि अंदर समझ आती है, पर पूरा व्यक्त हो नहीं हो पाता । तब भी उसमें से नया समझ में आता है, नया अनुभव होता है और नया बल मिलता होता है । श्रीसद्गुरु के प्रति हृदय में प्रकट हुआ जीवन्त सद्भाव हमें प्रेरणा दिये बिना नहीं रह सकता, ऐसा मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३०२-३०३)

श्री हेमन्तभाई नीलकंठ मेरे साथ कराची में रहते थे, तब दिन में कितनी ही बार उन्होंने मुझे भावावस्था में देखा है । कोई सुन्दर दृश्य, भाववाला वचन, ऐसा पठन, नैसर्गिक सरलता, कोई सुंदर भजन, ऐसे-ऐसे निमित्त मिलते अनेक रूप से भावावेश आते और वे लम्बे समय तक चलते थे । यह स्थिति तीनेक वर्ष तक रही थी । भावावस्था आते-

आते उसमें भी सहजता और सातत्य आ जाता है । उसके बाद वे सहज जीवंत हो जाते हैं । फिर उसे वैसा होने की भी जरूरत नहीं रहती ।

प्रभुकृपा से हमें अक्ल होशियारी में महत्त्व नहीं लेना । पहले भी उसमें कोई गिनता नहीं था । हेमन्तभाई पुराने साथी और साक्षी हैं । वे जानते हैं कि दो-तीन कक्षा पढ़े रूप में **यह जीव** पहचाना जाता था । स्वजन नंदुभाई को एक बार हरिजन सेवक संघ की ऑफिस में मुझे टाईप करता देखकर आश्चर्य हुआ कि ओहो ! इनको इतनी अंग्रेजी आती है ! टाईप भी कर सकते हैं क्या ! **यह जीव** तो था वैसा का वैसा 'बुद्धू', 'गँवार' जैसा कहो वैसा ही है । उसे जितनी गाली पड़े उतनी पड़ने देनी, उसमें बीच में आना नहीं । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १३८)

अनेक स्वजनों की गालियाँ खायी हैं, अनेक स्वजनों से धुतकारा भी गया हूँ । कितने स्वजनों ने वापस धकेलने का भी किया है, कितनों ने अनेक विरोध किया है, कितनों ने मन में कई-कई अन्यथापन मान लिया है । उच्चजीवन में आ सके ऐसे गुण प्रसंग में आये होने पर भी उसका महत्त्व किसी को लगा नहीं । तब भी किसी के प्रति **इस जीव** का सद्‌भाव कम नहीं हुआ । उसके काम में आने हेतु प्रभुकृपा से खड़े पैर तैयार रह सका हूँ । **कोई-कोई जीव की अति गंदी गाली खाने का हुआ है, तब भी प्रभुकृपा से उन पर प्रेम करने का ही भगवान ने हमें सुझाया है । वह *उसकी* परमकृपा है ।** यदि किसी ने थोड़ा भी उपकार किया होता है, किसी का **इस जीव** पर थोड़ा भी ऋण होता है तो उसे चुकाने के लिए प्रभुकृपा से **इस जीव** ने बहुत जहमत उठाई है । जीवन में जिसका कभी आचरण नहीं किया ऐसा आचरण करने को कभी **इस जीव** ने किसी को नहीं कहा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २२५-२२६)

● ● ●

निर्जन भयभरे स्थानों पर किसी को रात बिताने नहीं दिया जाता, वहाँ भी प्रभुकृपा से मुझे संमति मिल गई है । ऐसे स्थानों पर हुए अनुभवों

का कैसे वर्णन हो ? और प्रत्यक्ष अनुभव के बिना वह कैसे ठीक से समझ में आये ? जैसे-जैसे साधना में एक के बाद एक ऊँचे शिखरों पर पहुँचते हैं, वैसे-वैसे एक दृष्टि से हम अकेले होते जाते हैं । इसलिए सभी में मिल नहीं सकते ऐसा नहीं होता । इसप्रकार के निःसंग का भाव कोई ओर प्रकार का होता है । उसमें आनंद का भाव बढ़ता है । भूज (कच्छ) में उस समय राज्य विभाग के अधिकार-पत्र की जरूरत रात बिताने के लिए रहती, क्योंकि टेकरी पर हिंसक पशुओं का खूब भय रहता था । उसकी इजाजत मिली और वहाँ रात बितायी । उस रात का भावभरा स्मरण जीवन में मुद्रांकित हो गया है । अनेक बार उसके पवित्र मीठे स्मरणमात्र से दिल में सविशेष आनंद-प्रेम आता है । **इस जीव** की आध्यात्मिक माँ की सेवा में उनके शरीर की अंत घड़ी में उपस्थित नहीं रह सका था, वह दिल में बहुत सालता था । पर उपाय क्या ? वहाँ उस टेकरी पर के मंदिर में खुल्ले चौगान में सोते मध्यरात्रि में प्रभु ने वह संतोष करवा दिया । वे स्वयं प्रत्यक्ष हुए । उनकी गोदी में सोने का लाभ ले सका और बातें भी हुई । फिर जहाँ करवट लेता हूँ, वहाँ वे अदृश्य हो गईं । वह तंद्रावस्था या स्वप्न का अनुभव नहीं था । पूरी जाग्रत अवस्था में उनके प्रत्यक्ष सशरीर दर्शन हुए थे । ऐसी हकीकत किसी के मानने में नहीं आएगी । उसी तरह पालनपुर के पास बालाराम के आगे भी प्रभुकृपा से अजब अनुभववाली रात बितायी थी ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १५९-१६०)

अनेक प्रकार के अहम् से उठते आंदोलन प्रभुकृपा से समझने को प्रयत्न करता । ऐसे ज्ञानपूर्वक के अध्ययन का परिणाम यह होने लगा कि समता, तटस्थता, शांति, विवेक, प्रसन्नता, सहिष्णुता आदि गुण अपनेआप आते अनुभव होते थे । इसप्रकार, ज्ञानभक्तिपूर्वक की जाग्रति और उसके हेतु के लिए पालन होते साधना के अभ्यास से गुण अपनेआप विकसित होते जाते हैं । अकेले गुण विकसित करने का अभ्यास **इस जीव** को कभी न था और ऐसा आता भी नहीं था । अकेले गुण विकसित करने हैं ऐसा जाग्रत ख्याल भी उस समय न था, परन्तु साधना के

ज्ञानभक्तियुक्त योग्य प्रकार के सतत अभ्यास में से ऐसे गुणों का विकसित होना हुआ और वैसे अनुभव होते ही कोई अनोखा आनंद होता और उसमें से योग्य प्रकार का आत्मविश्वास आता जाता था ।

जैसे व्यापार करने के लिए पूँजी, उसकी कला, विवेक, ज्ञान, अनुभव आदि सभी की आवश्यकता रहती है, वैसे जीवनविकास की भावना को विकसित करने के लिए भी शक्तिरूपी पूँजी की आवश्यकता रहती है । यह पूँजी प्रारंभ में लानी कहाँ से ? इस प्रश्न ने मुझे बहुत बैचेन किया । जैसे व्यापार के लिए दूसरे सभी आवश्यक साधन हों, पर धन की पूँजी न हो, और उसे पाने के लिए योग्य पहचान या संबंध न हो, ऐसे मनुष्य का व्यापार करने का बहुत विचार हो, तब भी वह अमल में नही रख सकता, वैसा **इस जीव** का हुआ था, परन्तु निराश होकर लाचारी के साथ नहीं बैठना, ऐसा मेरे सद्‌गुरु का **इस जीव** को आज्ञावचन था । गुरु के सद्‌वचन को कैसा भी भोग देकर यथार्थ रूप से व्यवहार में रखना ही रखना था, ऐसी समझ श्रीप्रभुकृपा से दिल में आ गई थी । इससे निराश दशा में से भी उबर गया था । उस समय श्रीसद्‌गुरु की भावना की धारणा को हृदयस्थ किया करता । उसे अत्यन्त आर्त और आर्द्र भाव से हृदय में हृदय से प्रार्थना किया करता । सर्व ध्यान उसका हल करने के लिए समझदारीपूर्वक का वर्तन किया करता । **इस जीव** को उसका हल अपनेआप जैसे जमीन से बांस फूट निकलता है, वैसे सूझ जाता । इससे **इस जीव** को सूझा कि, **हे जीव !** तुम्हारे जीवनविकास करने की अदम्य लालसा, उसके प्रति दृढ़ श्रद्धा, पुरुषार्थ किया करने की बड़ी लगन, शौर्य, अनंत धीरज आदि गुण की शक्तियाँ कोई जैसी-तैसी नहीं है ।

('जीवनपोकार', आ. २, पृ. १२४-१२५)

जब **इस जीव** के जीवनविकास के मार्ग पर की गाँठ पड़ी अनुभव होती सालती और हल किये बिना चैन न पड़े ऐसी उत्कट दशा रहती और हृदय में हृदय से प्रार्थना होती, तब भी वह फलीभूत न होती, तब **यह जीव** अपने आपको—मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम्—उनके

अनेक पहलू जाँच लेता । कहीं प्रतिकूल स्थिति होनी ही चाहिए, या तो प्रार्थना के भाव में वे वे मनादिकरण पूरीतरह योग्य रूप से मिले न हों अथवा ऐसी एकाग्रता या केन्द्रितता न आयी हो, ऐसा गहरा पृथक्करण कर प्रभु के भाव में एकाग्र होने उसकी कृपा से मंथन हुआ ही करता । इससे हृदय का गहरा प्रार्थनाभाव भी फलित हुआ था । फिर प्रार्थना से परिणाम लाने की लालसा भी टाल दी थी । ऐसा होना यह भी योग्य न था । **हमें अपने हिस्से के आये कर्तव्य योग्य ढंग से, पूरे भाव से, उसके संपूर्ण योग्यरूप से किये करने में यदि प्रभुकृपा से रत रहे होंगे, तो वह अपने हिस्से का जरूर करेगा ही, ऐसे आत्मविश्वास और ज्ञानमूलक श्रद्धा इस जीव में आ गये थे ।**

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १११-११२)

प्रार्थनाभाव की एकाग्रता और केन्द्रितता आने में या लाने में मन, बुद्धि कभी तर्क उठाये तो उन्हें कहता कि **जिगर सौंप दिये पीछे, बेकार तर्क क्या काम के ?** और हृदय की भावना फीकी होने पर उसे प्रेमभाव से संबोधित करता कि **चरण में खाख हो मरना, प्रणय की यह निशानी है ।**

मुझे जिस ध्येय को प्राप्त करना था, वह आठों प्रहर सन्मुख रह सके तो उत्तम यह भावना आ गयी थी । वह 'तुज चरणे' में प्रभुकृपा से व्यक्त हुई है । उसमें **उस**की प्रार्थना का भाव है, कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे साधनों से प्राप्त हो सकता है, उसका भी वर्णन है । चेतन में निष्ठा रखे, विकसित होता और **उस**के प्रसाद को पाया जीवन कैसा हो सकता है, उसकी हकीकत उसमें है । अंत में मुझे **उस**के पास क्या माँगना है, उसकी प्रार्थना है । वह प्रार्थना इसप्रकार की प्रभुकृपा से प्रकट हुई है कि इससे ध्येय की सन्मुखता सदाकाल मुझे टिकी रहती । फिर, उस प्रार्थनाओं ने मेरे जीवन का एक बड़ा कार्य भी साधा है । बचपन में मुझे हिमालय के स्वप्न आया करते । हिमालय में जाने की बार-बार प्रेरणा जागा करती । इतना ही नहीं, पर साधनाकाल में भी ऐसा हुआ करता था । गुरुमहाराज ने सद्भावना प्रकट की कि 'तुज-चरणे' की प्रार्थना मुझे छपवाना और उसमें

से जो रकम मिले, उससे हिमालय की यात्रा करनी । १९२३ की साल में उसे छपवाने के लिए छोटी रकम चाहिए थी, परन्तु इतनी रकम पाना मेरे लिए कठिन था । उसे छपवाने की रकम मेरी प्रथम आध्यात्मिक माँ ने मुझे दी थी । उसे बेचने की जुंबेश न की थी, तब भी प्रभुकृपा से मुझे ४३७ रुपए की रकम मिल सकी और हिमालय की यात्रा कर सका था ।

('जीवनपोकार', आ. २, पृ. १८१-१८२)

जीवनविकास की साधना की निरन्तर धारा न प्रकट हुई होती तो जीवन में ऐसी शक्ति कभी न आ सकी होती । **नयी शक्ति पाने हम में जो शक्ति हो, उसका उपयोग करते रहना पड़ता है । उपयोग की जैसे समझ बढ़ती है, वैसे उपयोग से बल भी मिलता है और गुण भी आते हैं । इसलिए कृपा करके भावना का उपयोग करते यदि हम सीखें और उसका निरन्तर अभ्यास करें तो ही हमें कुछ लाभ मिलता है ।** मैं कोई हिमालय की गुफा में से आकर तुम्हारे पास ऐसी बातें नहीं करता कि जिसका भरोसा किसी तरह न ही हो सके । प्रभुकृपा से जिस तरह संसार और समाज में जीवन जीना जाना है और व्यवहार करना हुआ है, उस तरह का व्यवहार करने को तुम सभी को कहा करता हूँ । ('जीवनपोकार', पृ. ३०६)

प्रार्थना उत्कट भाव से हुआ करनी चाहिए । प्रतिदिन साधना के काल में तो ऐसी कितनी ही प्रार्थनाएँ जिस दिन जो भाव आये उस भाव को दृढ़ करने को हुआ करती ! और उन प्रार्थनाओं की गूँज स्मरणभाव की धारणा में प्रकट हुआ करती । प्रभुकृपा से हृदय के उस भाव का अखंड जागृतिपूर्वक का अभ्यास अंतर में लाने का होता कि जिससे वह भाव गहरे उतर जाता और समस्त जीव का आधार वह भावमय हो जाता । हालांकि इसमें पुनरावर्तन आये ही । **किसी भी भाव का जीवन में साकारपना लाना हो तो जीवंत पुनरावर्तन आवश्यक और अनिवार्य है । पुनरावर्तन अभ्यास का हार्द है । ऐसे जीवंत पुनरावर्तन में से हृदय में नवसर्जन करानेवाले चेतन और शक्ति आते हैं ।**

पुनरावर्तन के साथ किसी न किसी प्रकार की नूतनता भी आती होती है, क्योंकि ऐसे पुनरावर्तन में हृदय का भाव रहा होता है । भाव में से नवसर्जन हुआ करता है । नवसर्जन होने से प्रत्येक पुनरावर्तन का प्रकार अलग-अलग आता रहता है । ऐसे पुनरावर्तन के भाव के सत्संगवाले भजन अनेक वर्षों तक हुआ करते थे । प्रतिदन दो या चार उस-उस समय के अंतर के भाव को दृढ़ करने को प्रार्थनागीत रचित होते थे । बड़ी तीन-चार थैलियाँ भर जाय उतनी कापी प्रार्थना की हुई थीं । ऐसे में '३०-'३२ के क्रांतिकारी के दिन आये । उसमें हिस्सा लिया । लाठीमार, जेल, दंड की प्रसादी मिली । असहकार के उस जमाने में दंड भरने का नहीं था और होता तब भी मेरे पास ऐसी शक्ति नहीं थी । नडियाद में मेरे घर चार-पाँच बार जप्ती हुई और सब उजड़ गया, उसमें वह प्रार्थना और भजन की थैलियाँ भी घिस गई । वे गई तो गई । आज की घड़ी और कल का समय ! परन्तु तब भी उसके जाने का हर्षशोक न हुआ था, क्योंकि उसके सर्जन का हेतु सधाता हुआ अनुभव किया था ।

इस पर से दूसरा प्रसंग याद आता हैं । कवि सागर के पास एक बार प्रेमलक्षणा भक्ति के गीत सुनाने सरखेज जाने का हुआ था । उन्हें सुनाने से पहले उनके साथ ठीक-ठीक सत्संग हुआ था । साधना की अंतरतम हकीकत के विषय में भी बातचीत हुई थी । उसके बाद उन्हें गीत सुनाये । उन्होंने कहा कि, तुम्हारे दिल में शुद्ध अनासक्त प्रेम है और वह बहुत ऊँची कोटि का है । तुमने कहे साधना के आंतर प्रदेश की हकीकतों से मुझे बहुत आनंद हुआ है, परन्तु प्रेमभाव से तुम्हें कहता हूँ कि लोग ऐसे उच्च प्रकार के गीतों में से भी योग्य सार ग्रहण करने के बदले अपनी जीवदशा की वृत्ति को पोषेंगे । इसलिए ये सारी कृतियाँ इस पास के तालाब में फेंक दो ।

और एक पल की भी देरी किये बिना पास के तालाब में वे सारी डाल दीं । सागर भी स्तब्ध रह गये थे । अब वह पुराने साधनाकाल की प्रार्थना में से मात्र थोड़ा ही बच गया है । ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३४१-३४२)

प्रभुकृपा से **इस जीव** को स्वप्न द्वारा साधना की अमुक सूक्ष्म रीति का पता चला। अमुक बार स्वप्न द्वारा अमुक अनुभव और करने का जानने को भी मिला। स्वप्न द्वारा श्रीसद्गुरु ने **इस जीव** को कुछ-कुछ बतलाया था। मेरे जीवन की यह ठोस हकीकत है। दूसरे जीवों से ऐसी यथार्थता का सही तथ्य नहीं स्वीकारा जा सकता, यह भी समझ सकें ऐसा है। **इस जीव** को अनेक प्रकार की प्रकृति में पड़े हुए सूक्ष्म दोषों का तीव्रतम भान स्वप्न में से जागा था। अनजाने हुए कितने दोष स्वप्न द्वारा समझ में आये थे। व्यवहारवर्तन में विवेक से वर्तन करने की कला आदि भी श्रीसद्गुरु ने स्वप्न द्वारा **इस जीव** में जगायी। स्वप्न में भी स्वप्न द्वारा श्रीसद्गुरु ने कितने ही प्रकार की सूक्ष्म विधियाँ **इस जीव** के आधार पर की थीं। ऐसी हकीकतों की तादृश्यता, अचूक और ठोस वास्तविकता आदि का ज्ञान **इस जीव** को उनकी कृपा से हुआ था। इससे **इस जीव** के साथ मेरे श्रीसद्गुरु जीवन्त मार्ग दिखाते और प्रेरित करते हुए जहाँ-तहाँ रहा करते हैं, ऐसा आत्मविश्वास प्रकट रूप से जीवन में अनुभव किया है। ये सारी हकीकतें अस्वस्थ भेजे की नहीं हैं। बहुत सारे इसे एक प्रकार की मानसिक उपज भी मानें तो उसमें उनका दोष थोड़ा भी नहीं गिना जाएगा। अनुभव से जिसे जो समझ आये वह सही। हमारी उपरोक्त हकीकत स्वीकारें ऐसा हमारा दावा नहीं। हमारे मन में जो सच हो, वह दूसरों को वैसा लगना ही चाहिए ऐसा भी कुछ नहीं है।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १०६)

'२४ की साल में एक महात्मा के पास पूज्य श्रीबालयोगी की सूचना से गया था। उनके वहाँ जिसे हम 'नैतिक' गिनते हैं ऐसा सब नहीं था। कोई भी लोग आये और मन चाहे व्यवहार करें। झगड़े भी हों। मारपीट भी हो और चोरी भी हो। यह सब देखकर मुझे तब घृणा न हुई थी या उनकी अवगणना भी न की थी, पर यह सब समझ न सका था। आज यह सब ख्याल आता है। उनका महत्त्व मुझे पता चला था, इससे अन्यथा कुछ सोचना था नहीं। तब भी ऐसा हुआ कि ऐसे महात्माओं के पास भी ऐसी मिलावट कैसे चलती होगी ? पर फिर समझ

आया - जैसे समुद्र में छोटी-बड़ी नदिओं के प्रवाह जाते हैं वैसे संत आत्मा के पास भी अनेक प्रकार के लोग अपनी-अपनी मुरादें पूरी करने के लिए जाते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १५)

● ● ●

इस जीव ने श्रीसद्‌गुरु के वचन को कभी मिथ्या नहीं जाने दिया । नडियाद में श्रीबालयोगी **इस जीव** को **इस** मार्ग में प्रवेश कराने को पधारे थे । उन्होंने कहा था कि मैं श्रीधूनीवाले दादा की आज्ञा से इस ओर आया हूँ। तेरे गुरु तो वे हैं। अब तू उनके पास जाकर आशीर्वाद ले आ । ऐसी तैयारी करके जा । 'ऐसी तैयारी' का अर्थ उस समय **यह जीव** क्या समझे ? मैंने मंत्री को सात-आठ दिन की छुट्टी की अर्जी कर दी थी । उनको यह हकीकत बतलायी तब वे बहुत नाराज हुए और कहा कि इसका नाम तैयारी नहीं है । वे तुम्हें वहाँ रहने का आदेश दें तो ? तुम्हें ऐसे प्रकार की तैयारी करनी चाहिए । मन से भी ऐसी तैयारी कर । उमंग के साथ ऐसी तैयारी को मन में भजा कर ।

अब इतना समय था नहीं । मेरी माँ वडोदरा में थी । 'मनने'-में जो 'माँ' को संबोधन किया है, ऐसी एक माँ **इस जीव** की सचमुच की माँ प्रभुकृपा से हुई थी । उनके द्वारा **इस जीव** में सच्चे प्राण प्रकट किये थे, इसलिए वडोदरा गया । मेरी माँ को उस माँ द्वारा जैसे-तैसे समझाकर आशीर्वाद लिये । नडियाद आकर परीक्षितलाल को नवसारी तार करके एकदम वहाँ बुलवाया । उन्हें सारा चार्ज सौंप दिया । ऐसा पागलपन न करने का उन्होंने बहुत कहा । माँ, विधवा भाभी, उनके छोटे बच्चे, दो छोटे भाई उन सभी को पूरी तरह निराधार रखकर जाने का । उनका पोषण हो सके ऐसी आर्थिक पूँजी न थी, ऐसे संयोगों में अचानक इस प्रकार की तैयारी करने की और वह भी उत्साह के साथ, यह उस समय में **इस जीव** के लिए अत्यधिक दुर्घट था, पर जो करना ही है, वह करके ही छुटकारा है, उसमें मीनमेख से अन्तर नहीं आ सकता, वैसा व्यवहार करना हमारा धर्म हो वैसा भाव प्रभुकृपा से चेत चेतकर **यह जीव** मंथन करता था । उसके बाद

यह जीव सांईखेड़ा गाँव जहाँ श्रीदादा बिराजते थे वहाँ गया । उन्होंने कृपा करके जहाँ होऊँ वहाँ रहने का आदेश दिया । नडियाद वापिस आया । श्री परीक्षितभाई ने प्रेमभाव से वहाँ दुबारा फिर से काम करने की संमति दी और दुबारा काम में लग गया ।

उस संस्था के जो सभासदस्य होते थे, उन्हें तीन-तीन वर्ष का व्रत लेने का होता । उसमें हरिजनों का सतत मनन चिंतन करके उत्तम सेवा करने की थी । मेरे गुरुमहाराज ने सूचित किया कि तुम्हें सभासदस्य में से मुक्त हो जाना है । काम उस क्षेत्र में करना है सही । इससे सभासदस्य और व्यवस्थापक के रूप का त्यागपत्र भेज दिया । मुझे सभासदस्य के रूप में रहने को बहुत समझाया गया, पर मैंने मना ही किया । **इस जीव** को संस्था का काम करनेवाले सभी पर सद्‌भाव रहा करता । संस्था की सभा नडियाद में इस **जीव** के घर रखी जाती । पूज्य ठक्करबापा नडियाद पधारते तो छोटे दो कमरेवाले हमारे घर में उतरते । **ऐसे जीव** का सद्‌भाव प्राप्त करने का हुआ, यह श्रीप्रभु की परमकृपा की हकीकत है । हम काम करते हों, उस क्षेत्र के जीवों की हम पर सद्‌भाव प्रकट रूप से जीवंत रह सके तो हमें बहुत सरलता मिला करेगी । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १८० से १८२)

● ● ●

मुझे मेरे गुरुमहाराज के पास होने का अनुभव जीवन में होने लगा था । तब जीवनविकास विषयक मेरी भावना बढ़ती हुई अनुभव हुई थी । जब-जब मन भटकता तब-तब उनका पास होना मानो कि प्रत्यक्ष मुझे टोकते न हों ऐसा अनुभव होता । उनका पास होना इस जीव को पथगामी प्रेरित करता । हृदय में सहानुभूति और ऊष्मा लाता । *आसरा* है ही ऐसा लगा करता । माँगी मदद मिलनेवाली ही है, ऐसा दृढ़ निर्धार हृदय में जागा करता । उनके पास होने की ऊष्मा मिला करती उसकी बात तो फिर कोई और है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १२२)

इस जीव के साधनाकाल में जीव की अपरा प्रकृति की वृत्ति कोई कम नहीं थी । श्रीप्रभुकृपा से उसे खोजता रहता, उसके लिए सतत

प्रार्थनाभाव में रमा करता था । उस समय की उसके लिए की प्रार्थनाओं के उदाहरण 'हृदयपोकार' और 'केशवचरणकमळे' में हैं । जीवप्रकार की वृत्तिओं को खोज खोजकर नींदना है । नींदना है अर्थात् क्या ? उसकी निंदा करनी है, इतना ही नहीं, पर उसे उखाड फेंकना है । नींदना कब होता है ? जब किसान को यह समझ में आये कि सही के साथ गलत उगा है, उस सही को नुकसानकारक है । उसे यदि नहीं उखाड़ेंगे तो सही को वह उगने ही नहीं देगा । इससे ऐसे गलत उगे हुए को किसान नींद डालता है । उसे नलाई कहते हैं । नलाई की क्रिया साधक को जागृति रखकर किया करनी है । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १५२)

मुझे मेरे श्रीसद्गुरु महाराज ने भंगी का मैला उठाने का काम करने को बतलाया । वह काम नडियाद में कोई न करने दे । **इस जीव** की प्रतिष्ठा अच्छी होने से ऐसा काम सोंपे भी नहीं । नवसारी में श्री परीक्षितभाई हरिजन सेवक संघ के मंत्री थे । उनको मैंने नगरपालिका में भंगी का काम मिले ऐसी व्यवस्था करने को लिखा था और उन्होंने वैसी व्यवस्था की भी सही, परन्तु श्रीगुरुमहाराज के पास उनकी आज्ञा और आशीर्वाद लेने गया, तब उन्होंने मना करते हुए कहा कि, अब तुम्हें जाने की आवश्यकता नहीं । तेरी सच्ची तैयारी थी इतना पर्याप्त है । तब भी प्रारंभ में जिन-जिन जीवों ने मौनएकांत लिया उनका मैला, पेशाब **यह जीव** ही साफ करता था ।

जो प्रसंग मिलते हैं, वह हमें कुछ सीखने के लिए मिलते हैं, परन्तु हम ज्ञानपूर्वक लाभ नहीं उठा पाते, ऐसी हमारे मन-बुद्धि की बलिहारी है । जिस समय जो प्रसंग आये वह हमें क्या सिखाने के लिए हुआ है, इसका सहज ज्ञान तत्काल उस *जीव* को हो जाता हो तो जानना, मानना और समजना कि वैसे *जीव* की भूमिका साधना के लिए पक्की हुई है । उसे सीखने में देर नहीं लगती ।
('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २१७-२१८)

प्रभुकृपा से एक सेठ के वहाँ शरीर से काम कर दिखाया है । कितना सारा काम ! ढेर सारा काम ! उसका वर्णन करने से क्या

लाभ ? शरीर भले ही टूट पड़े, परन्तु मन प्यारे प्रभु में हो तो हिम्मत मिला करती है । स्थूल मदद भी मिला करती है । अंत में दो-तीन दिन बाकी रहे, तब सेठानी भी मदद करने लगी । मेरी और उनकी खूब स्पर्धा होती । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३०२)

श्रीभगवान की कृपा से **इस जीव** के जीवन के उस प्रकार के दौर में कैसी और कितनी सँभाल रखी है, उसका भी एक इतिहास है। मेरे जीवन की साधना के अलग-अलग दौर के प्रसंगों का मुझे पूरीतरह प्रभुकृपा से तादृश्य चित्र है । उसका इतिहास लिखूँ तो वैसे रुचिकर को इतना रोमांचक और रसप्रेरक होगा कि न पूछो बात, परन्तु जहाँ तक अपनेआप जो स्वजन मिले हैं, उनमें से कोई एक भी स्वजन चेतन की भावना-निष्ठा में पूरा प्रकट हुआ अनुभव नहीं हुआ, वहाँ तक वैसा इतिहास लिखने का मुझे आदेश नहीं है । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १७२)

जीवनविकास की मेरी साधना का इतिहास लिखने की जल्दी करने का मुझे कभी मन नहीं हुआ । पत्र लिखकर व्यक्त होना भी मेरे साथ साधना के हेतु से जुड़े हुए वैसे निमित्त के कारण से ही **उस**की कृपा से होता है । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २१४)

साधनाकाल के जीवन विषयक लिखने का अभी समय पका नहीं लगता, किसी को कोई बात करूँ या लिखूँ तो उसकी पूरी यथार्थता गले उतरे ऐसे मनहृदय हुए नहीं लगते । यह हकीकत अनुभव की समझ से कह रहा हूँ ।* ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २०५)

● ● ●

---

* श्रीमोटा की अमी प्रकट हुई 'जिज्ञासा', 'श्रद्धा', 'निमित्त', 'कृपा', 'कर्मउपासना', 'श्रीसद्गुरु', 'स्वार्थ', 'मोह', 'प्रेम' विषयक रचनाओं में साधना-इतिहास के कुछ गूढ़-सूक्ष्म संकेत किये हैं । जिज्ञासु-श्रेयार्थी श्रीमोटा की उस गूढ़ व्यक्तव्य कला का स्पर्श इन पुस्तकों में से अनुभव कर सकते हैं ।

॥ हरिः ॐ ॥

६. मातृभक्ति

(१)

ओ माँ ! आज तू मुझे कितनी सारी याद आयी थी ! सभी बहनों ने राखी बाँधी, तब तुम्हारे भाव के दर्शन हुए थे । बच्चे कहीं भी भटकते हों, तब भी उसके सिर पर माँ हाथ सहलाती ही रहती है । उसके दिल का प्रेमभाव कितना अधिक न्यारा है ! माँ के बच्चों के प्रति की भावना में मर्यादा नहीं होती, माँ तो जगतजननी है । माँ सर्वव्यापी है । माँ को बच्चे भूलते हैं सही, पर माँ बच्चे को छाती से चिपकाकर ही रखती है, ऐसा जो कहा है वह बिलकुल सही है । जगत में यदि माँ न होती तो चेतना, प्राण, स्फूर्ति और रस है, वह न होता ! इस कथन का रहस्य अब मुझे समझ में आता है ! माँ के दिल की उछलती उमंग और जिसके हृदय से निर्झर होती, शहद से भी अधिक मधुकर मिठास जहाँ-जहाँ कठोरता, शुष्कता है, वहाँ-वहाँ कोमलता, प्रेम, सहानुभूति व्याप्त होती है । माँ के हृदय में दिव्य अमृत है, इससे बालक के शरीर पर हाथ सहलाकर उसे वह चेतनवंत रखा करती है । माँ कभी भवें भी चढ़ाती है सही, परन्तु उसका हार्द कल्याण की भावना है । बच्चों के हृदय में भाव लाने को माँ को गुण के साथ गुण का खेल खेलना पड़ता है । माँ की सर्जनात्मक शक्ति अनेक आत्माओं के आंतरिक स्फुलिंग को आत्मभाव में उद्दीपन कराने के लिए भी होती है ।

माँ की गोद में खुले मन से सोने का जो आनंद है, वह अनोखा है । आज भी माँ-तुझे दूर-दूर से 'माँ', 'माँ' की पुकार प्रेम से करता तेरे पास दौड़कर आता रहता हूँ । मेरे उन प्रत्येक 'माँ' के संबोधन में इतनी भावमयता होती है कि कितनी बार ऐसे आनंद से तुझे लिपट पड़ता हूँ । रात को बाहर एकांत में निर्जन स्थान पर सोता रहता हूँ, वहाँ से भोर में उठ आकर तेरे साथ सो जाने का जो लाभ मिलता, इससे सदा मेरे दिल के भाव में वृद्धि हुई मैं अनुभव करता, परन्तु तू तब मुझे बहुत उलाहना देती और बोलती, 'मेरे रखडू ! उच्छेदी ! विनाशकारी !'* बड़े

* श्रीमोटा की माँ को प्रेम से ऐसा संबोधन करने की आदत थी ।

भैंसा जैसा हुआ तब भी मेरे साथ अभी भी सो जाता है ! तुझे तो कुछ भान नहीं । तू अभी छोटा बच्चा थोड़ा ही है !' तब भी मैं उसे बहुत भाव के तान से विशेष से विशेष लिपटता और भेंटता वैसे ही वह अधिक चिल्लाया करती थी ।

माँ का प्यारभाव जीवन में ऊर्ध्वगामी होने को अनुभव करना है । माँ आनंदस्वरूप है, कल्याणमयी है, परन्तु साथ-साथ चंडिकास्वरूप और कालिका भी है । माँ के दिव्यभाव को हम प्रेमभक्ति से आकार पा सकें तो जीवन की उन्नति करने में बड़ी छलांग लगाना हो सकता है, वह साधना के प्रचंड पुरुषार्थ से भी नहीं हो सकता । माँ की शक्ति जब हमें मिलती है, तब हमारे जीवन की साधना का वेग बहुत बढ़ जाता है । सन् '३९ पश्चात् की साधनाप्रदेश की अमुक भूमिकाएँ पार करने के बाद माँ का सच्चा स्वरूप और उसकी महत्ता का मुझे उसकी कृपा से भान आया है । माँ वह माँ है । माँ का भाव दोधारवाला है । उसका जिस तरह उपयोग करोगे उस तरह माँ वृद्धि करवाती जाएगी ।

माँ स्वतंत्ररूप से जरूर हमें मदद करती है, पर वह तब ही हो सकता है, जब माँ के अंदर प्रेमभक्तिपूर्वक की भावना से हम पूरीतरह मिल गये हों ! माँ का भाव यह कोई मात्र ऊर्मि की कल्पना नहीं ! **वह** प्रत्यक्ष साक्षात् है । हमें ऐसी माँ की शरण में रहकर माँ के भाव को मदद में लेने मिली माँ को संतोष देंगे और वह भी हमारी अपनी भावना सतेज करने के हेतु से ज्ञानपूर्वक, तो माँ के दिल को प्राप्त आत्मसंतोष हमारी भावना को आर्द्र रखेगा ऐसा मेरा अपना अनुभव है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २८१-२८४)

(२)

वर्तमान में जीवित कुटुंबीजनों में सबसे बड़ा मैं, इसलिए अधिक जिम्मेदार । मेरे बड़े भाई के लड़के-लड़की तथा छोटे भाइओं को पढ़ाने के लिए मुझ से होता सारा परिश्रम मेरी उस काल की स्थिति के प्रमाण में प्रभुकृपा से लिया है, परन्तु मेरी माँ आदि को मैं पर्याप्त संतोष दे नहीं सका, वह भी मैं ठीक से जानता हूँ । मैं एक घर बनवाऊँ, धन इकट्ठाकर कुटुंब को पूँजी रूप उसे दे सकूँ और लड़कों के प्रसंग मे ज्ञातिजनों को

खिलाने और शादी कराना में अच्छी तरह सब खर्च करूँ तो वह मुझ पर खुश हो और संतोष पाये । जीवन में ज्ञातिव्यवहार के प्रसंग आये तब कुछ नहीं किया । मेरी माँ को उसमें कुटुंब की आबरू जाती लगती । इन सब कारणों से मेरी माँ को मुझ पर बहुत असंतोष था । मेरे विषय में (गाँधी) आश्रम में वह लोगों के आगे शिकायत करती । श्रीगोदडिया महाराज के पास शिकायत करती, परन्तु मेरी माँ की ऐसी स्थूल प्रकार की वृत्तिओं की परिधि में से उसकी कृपा से कहीं दूर निकल गया था । ('जीवनदर्शन', आ. ३, पृ. २८५-२८७)

(३)

श्रीप्रभुकृपा से जीवन में आदर्श की सभानता जाग गयी थी, परन्तु उससे पहले मेरी माँ तथा बड़े भाई ने मेरी सगाई कर दी थी, उसमें मेरी संमति लेने की होती ही नहीं ऐसा उनका मानना था । मैंने दोनों को कह दिया था कि मुझे जीवन को किस तरह फलीभूत करना है, उसका हल्का हल्का दर्शन प्रभुकृपा से मुझे है, उसे साकार करने याहोम हो जाने की एकमात्र इच्छा है । उसके साथ शादी की सुसंगतता कहीं ठीक बैठे वैसे नहीं है ।

तब भी उन्होंने कुछ भी लक्ष में नहीं लिया था और ऐसे वह हकीकत विस्मृत हो गई । मैं मानो वह हकीकत बिलकुल भूल गया था । मेरे मन में उसके विषय में कभी कोई विचार नहीं आये । जब सन् १९२६ में माँ के पास मेरी शादी की बात आयी, तब उसने मुझे पूछा और मैं मना ही करता रहा । माँ बेचारी घबराया करे । जब उस पर दबाव आया, तब वह मुझ पर बहुत चिढ़ी थी । मुझे कहा कि तुम्हें पालने को इस माँ ने कुटाई-पिसाई की, अत्यधिक मेहनत करके बड़ा किया, ऐसी माँ का वचन पाला नहीं जाता, तो फिर तुम अपने गुरुमहाराज के वचन क्या पालोगे ? भूतकाल में कितने ही भक्त हो गये, विवाहित थे । उन्होंने तुम्हारे जैसे फतवे न किये थे । मैं जानती हूँ कि तू भगवान के भजन किया करता है, घर में सोता नहीं है । शरीर बीमार हो तब भी

रात को गाँव के बाहर कहीं भी सो जाता है, परन्तु हमें संसार में रहना है और तेरे दूसरे भाई भी हैं । यदि तुम शादी करने से मना करोगे तो हमारे कुटुंब कुल की आबरू जाएगी । तेरे दूसरे भाइओं का क्या होगा ? तुझे शादी करनी ही पड़ेगी ।

मेरी माँ ने रोना-पीटना किया, वह मुझे सच्चा लगा था । सबसे विशेष मेरी माँ का वह वाक्यबाण, 'तुम्हें पालने को माँ ने कूटना-पीसना किया ऐसी माँ का वचन तू पालन नहीं कर सकता तो अपने गुरु का वचन क्या पाल सकेगा ?' मुझे आरपार दिल में तीर की तरह धँस गया । और मैं शादी करने को तैयार हो गया ।

शादी करने की तत्परता दिल से बतायी और साथ ही जीवन के ध्येय को साकार करने के साधना के कार्यक्रम में जरा भी फरक न पड़ा था । किसी प्रकार की डाँवाडोल स्थिति को मन में स्थान न मिला था । मात्र ऐसा होता कि यदि शादी होनी ही है, यदि वह अपनेआप आये तो भले आये । हमारा यह मनवा कितना टिकता है ,कैसे ढलता है, वह भी जानने-अनुभव करने को मिलेगा । यदि दिल का आदर्श के प्रति निश्चय दृढ़ होगा, तो वह संग्राम खेले बिना कैसे बैठ सकेगा ? वह संग्राम होगा उसमें से शूरातन, पराक्रम, तेजस्विता आदि को लाना है और जीवन पनपना है । जीवन के ध्येय को साकार करने की दिल की जिज्ञासा अग्नि जैसी है । उसे प्रज्वलित करते रहने का श्रीप्रभुकृपा से हुआ करता था ।

इसप्रकार शादी ली गई । दिल को दिल कहा करता था कि बच्चा ! अब ही तुम्हें भावना की सही समझ पड़नेवाली है । घर (नडियाद) से शादी करने निकला, तब से आदर्श की जलती रहती ज्योति प्रज्वलित हुई अनुभव करता था । भावना का प्रवाह उड़ता जाता अनुभव कर रहा था । कभी बाह्यभान भूलता तब जागृतरूप से टिकने मन में मन से भजन गाने को प्रयत्नशील होता और स्मरण प्रार्थना भी किया करता था । शादी करने मंडप में बैठा था । पुरोहित अंड-बंड बोलते

उसका कुछ भान हुआ था । उसके बाद धीरे-धीरे शरीर का भान जाने लगा था, तब भजन गाने का मौका न था । अनुचित भी लगे । मेरी माँ को पसंद नहीं । इतना ही नहीं, इतना सारा खराब लगे कि चुनिया ने मेरी आबरू ली !

मेरी माँ को भयंकर झटका लगेगा, उस कारण से बाह्यभान जाते हुए लग रहा था, उसे उकसाने के लिए भजन आदि साधन हो ही न सके । और ऐसी भावावस्था आयी कि जिसमें बाह्य का बिलकुल भान रहा न था । स्थिति घण्टे भर रही होगी । विवाहित जीवन के सही अवसर पर जिस प्रसंग ने टक्कर ली उसके फलस्वरूप भावना का अहंकार और झोक किस प्रकार का था, उसका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे उस समय हुआ । इससे श्रीप्रभुकृपा से **यह जीव** निश्चिंत हुआ । ज्वालामुखी जैसी जीवनआदर्श की जिज्ञासा सचमुच प्रकट होती है, तब उसका मार्ग यहाँ-वहाँ कर लेती है, उसका भी प्रभुकृपा से अनुभव हुआ । उस युवती की मृत्यु शादी के बाद पांचेक मास में हुई थी ।

(४)

साबरमती आश्रम में **इस जीव** के शरीर को खून के दस्त का रोग हुआ था, इससे आराम और दवा करवाने कराची गया था । सब कुछ ठीक होने के बाद, आश्रम में आने के बाद दिल में ऐसा निश्चित हो गया था कि अब यह काम नहीं करना है । अपनेआप जो-जो जीव आ मिले, उनके मानस को थोड़ा जितना भी भगवान की कृपा से उच्च ला सकूँ, इसप्रकार की सेवा करने का सद्‌भाग्य हो तो उत्तम । भावना से प्रेरित हो हरिजन सेवक संघ के काम से निवृत्त होने का दिल हुआ था । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३०७)

मेरे बड़े भाई का बेटा शांति काम में लग गया था, इसलिए वह अपना और अपनी माँ दोनों को सँभाल ले ऐसा हो गया था । माँ, मेरे छोटे भाई मूलजी या सोमाभाई के साथ रह सकती थी । मैंने अपनी सारी हकीकत उसे बतलायी । उसने मुझे कहा कि, पाव भर दाने चिड़ियों को

डालने नहीं मिलते और इतनी छोटी नौकरी है, उसे छोड़ कर कौन-सा बड़ा जंग मार डालेगा* ?

इसप्रकार, उसकी मरजी नहीं थी । इसलिए मैंने दो-चार दिन जाने दिये और फिर दुबारा उसे समझाया । उसने मुझसे कहा कि मासिक पाँच-छ रूपए मुझे उसे देने पड़ेंगे । मैंने उसकी व्यवस्था भी की, परन्तु मेरे पास उसने शर्त रखी, 'जब मैं मरने जैसी बीमार होऊँ तब मेरी अंतिम घड़ी में तुझे मेरे पास आना है ।' मैंने वह प्रेम से स्वीकार किया और कहा कि उस समय तेरी सेवा प्रेम से करनी वह मुझे अच्छी लगेगी और मेरा धर्म भी है । ऐसा पता चलने पर तुरन्त ही मैं तेरे पास जरूर आ जाऊँगा ।

उसके बाद हरिजन सेवक संघ की सेवा से निवृत्ति ली । इतने सारे वर्षों की निरन्तर एक क्षेत्र की सेवा की—उसने कोई जीवन में भाग नहीं लिया ऐसा नहीं है । मेरे संघ से निकल जाने से किसी को मेरी कोई कमी लगी हो ऐसा नहीं हुआ । सभी के साथ श्रम, सद्‌भाव और सुमेल की भावना ही लाकर काम किया था । उसके बाद मैं तो अलग जगह जाता और वहाँ रहता । दो-चार महीने में मेरी माँ के पास मैं हो आता । माँ, मेरे भाई मूलजी के साथ नडियाद रहने गई थी । फिर, मुझे दो बहनों को लेकर हिन्दू विश्वविद्यालय में बनारस जाने का हुआ था । वहाँ महीने डेढ़ महीने रहे होंगे तब मूलजी का नडियाद से मुझ पर पत्र आया कि मेरी माँ के शरीर को नडियाद में गंभीर बीमारी है । इसलिए जिनकी देखभाल रखने और जिसके साथ जाना मेरा बनारस हुआ था, उन बहनों के पिता को मैंने कराची मेरी माँ के शरीर की बीमारी के विषय में तार किया । उन्होंने तार से उत्तर दिया कि मुझे किसी को वहाँ रखकर नडियाद जाये ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३०७ से ३०९)

---

* माता के इस बोल की स्मृति में श्रीमोटा ने नडियाद के हरि:ॐ आश्रम में एक दाता की सहायता से एक चबूतरा बंधवाया है । जहाँ नियमित रोज के दस शेर जुआर-बाजरी के दाने दाताओं की सहायता से डालते हैं ।

हिन्दू युनिवर्सिटी में ऐसा नियम था कि छात्रालय से स्वतंत्ररूप से उनके मकानों में कोई बहन रहती हो तो उसके साथ उसके कोई अभिभावक होने चाहिए । मुझसे किसी को भी यौवन होती बहनों के पास रखकर जाया ही कैसे जा सकता है ? यहाँ 'किसी को भी' यानी किसी पहचान के संबंधी को । ऐसा पहचानवाला-संबंधी मुझे बनारस में से खोज निकालना ? उन बहनों के पिता को सही रूप में बनारस आ जाना चाहिए था, परन्तु उनसे आ सके ऐसा न हो । प्राप्त परिस्थिति का धर्म (जो भी सच्चा धर्म है) और उसके पश्चात् आयी दूसरी परिस्थिति का धर्म, ऐसे दोनों प्रकार के सच्चे धर्म के बीच किसको पहले पसंद किया जाय ? ऐसा एक जटिल प्रश्न खड़ा हुआ था । एक ओर मेरी माँ के शरीर की अत्यधिक बीमारी और उसे दिया वचन, दूसरी ओर इन दो बहनों की देखभाल और उनकी अध्ययन आदि की व्यवस्था के लिए उनके साथ मुझे रहना पड़ता था । सामान्य रूप से मुझे मेरी माँ के पास अंतिम बीमारी में जाने का दिल हो आये ही वह स्वाभाविक है । फिर, मैंने उसे वचन दिया था, परन्तु इन बहनों के पास रहे कौन ? उन्हें ऐसे के ऐसे रखकर जा सकें ऐसा नहीं था और माँ के पास मुझे उपस्थित हुए बिना चल सके ऐसा भी नहीं था ।

जब ऐसा लगा कि नडियाद नहीं जा सकूँगा, यहाँ बनारस में रहना पड़ेगा, तब मेरे पास भगवान की प्रार्थना के सिवा दूसरा कोई उत्तम उपाय नहीं रहा । हमारे मकान में चुपचाप मौन धारण करके बैठा रहा और भगवान को पुकारने लगा, 'हे प्रभु ! मेरी भी कैसी विचित्र परिस्थिति हुई है ! दोनों प्रकार के धर्म में, हे प्रभु ! मैं फँस गया हूँ । मेरी माँ के पास उसकी बीमारी के समय कैसे उपस्थित रहूँ, इसका हल नहीं आता । अब मैं क्या करूँ ? दिया हुआ वचन किसी भी तरह पालना चाहिए और उसे पालने की मेरी पूरी तरह तत्परता भी है, परन्तु मैं वहाँ जाऊँ किस तरह ?'

बारबार मैं भगवान को प्रार्थना ही किया करूँ । भोजन करने और दूसरी ऐसी शरीर की क्रियाएँ छोड़ दी थीं । एकमात्र भगवान को पुकारा

ही करता-मैंने अपनी माँ को वचन दिया था और मैं पालन नहीं कर सकता । 'पालन नहीं कर सकता' यानी मेरा दिल नहीं ऐसा नहीं, परन्तु मुझसे संजोगों के कारण पालन नहीं हो सकता । उसका दर्द इतना अधिक सालता कि इससे तो मानो कि मैं भगवान के चरणकमल में, जैसे उस भाई ने बालाराम में कमलपूजा की थी इसतरह, मेरा वचन पालन न कर सकने के फलस्वरूप देह का समर्पण कर दूँ !

मुझे इतनी सारी व्यथा हुई, तब भी उस प्रकार की अदम्य प्रेरणा दिल में जगती नहीं थी । मैं बारबार भगवान को पुकारा करूँ कि हे प्रभु ! हे दीनदयाल ! कैसी विकट परिस्थिति ! न यह छोड़ सकता हूँ और न वहाँ जा सकता हूँ ! वचनपालन करना ही है । तू मेरी लाज रखना । तू मेरा वचन पालन करवाना । हे भगवान ! मेरी माँ की अंतिम बीमारी के समय उसके पास उपस्थित रहने का वचन मेरी माँ ने मेरे पास माँगा था । उस बेचारी ने मेरे पास दूसरा कुछ नहीं माँगा था । मेरे पास उसे देने जैसा था भी क्या ? इतना भी न कर सकूँ ऐसी लाचारी भरी परिस्थिति में प्रभु, पड़ गया हूँ, वह अब तो तू लाज रखे तो ही टिक सके ।

मेरी माँ ऐसे समय में मेरी उपस्थिति के लिए जरूर विलाप करती होगी, उसके मन में मेरे लिए इतना विश्वास जरूर होगा कि, चुनिया जरूर आएगा । अरे ! मेरी माँ का मुझ पर जो विश्वास है, उसका भी भंग हो जाएगा । हे प्रभु ! यह तो कठिन परीक्षा है । ऐसे समय यह मेरा वचन पालने का काम तेरे सिवा दूसरा कोई कर सके ऐसा नहीं । हे मेरे प्यारे प्रभु ! दीनानाथ ! कृपा करना । मेरा तेरे पास कोई अधिकार नहीं है । तुम से मेरा काम करवाने जितना प्रेमभक्ति का नाता भी जीवन्त नहीं हुआ । तेरे जो अनेक संतभक्त हो गये हैं, उनकी चरण की रज की सी रज मैं नहीं । फिर क्या दावा कर तेरे पास मैं माँग करूँ ? परन्तु नाजुक वक्त की यह असह्य परिस्थिति में तेरी एकमात्र शरण के सिवाय मुझ गरीब का कोई उपाय नहीं । हे भगवान ! हे पिता ! तुम कर्ताहर्ता हो । मैं इस बेड़ी में जकड़ गया हूँ । इसलिए मैं नडियाद उड़कर भी जाऊँ

भी किस तरह ? मेरा दिल जरूर मेरी माँ के पास ही है, परन्तु यह स्थूल देह को किस तरह उपस्थित करूँ ? मेरे दिल का प्रण माँ के पास स्थूल देह से उपस्थित होना है । उसे दिया वचन मुझसे पालन हो वैसी तमन्ना ज्वालामुखी के जैसी धधकती भी है ।

साधना की अलग-अलग भूमिकाओं में भावना भी साकार होती है, ऐसा अनुभव भी मुझे तेरी कृपा से जरूर हुआ है, तो मेरी माँ के पास उपस्थित रहने की मेरी यह प्रचंड उत्कट भावना तेरी कृपा से आकार ले ऐसी मेरी तुझे बहुत बहुत प्रार्थना है । साधनाकाल में स्थूल माँग के लिए मैंने किसी भी दिन तेरी प्रार्थना नहीं की । साधना के क्षेत्र में जो-जो कठिनाई, विघ्न, बाधा आती थीं, उन सभी आवरणों को दूर करने के लिए मैं बारबार प्रार्थना किया करता था । हे प्रभु ! तूने प्रार्थना सुनी है और मुझे कृपा करके मदद दी भी है । तुम्हारी कृपा का एहसान कभी भी भूला सके ऐसा नहीं । मेरी त्रिशंकु स्थिति में तेरे सिवा मुझे दूसरा कोई मददगार नहीं है । तुम्हारी कृपा से संकल्पशक्ति का सामर्थ्य जबरदस्त होता है, उसका मुझे ज्ञानभान है, मेरी संकल्पशक्ति का समग्र सामर्थ्य एकमात्र तू है । तुझ में ही हे प्रभु ! सब कुछ समाया है । मेरी माँ के पास स्थूल देह से उपस्थित होने की मेरी भावना को तू ही एक साकार स्वरूप दे सकते हो । प्रभु दीनदयाल, मेरे प्यारे ! मुझ गरीब के सामने देखना । मेरी लाज रखना । मुझे वहाँ उपस्थित होकर स्वयं संतोष नहीं पाना है । मेरी स्थूल उपस्थिति से मेरी माँ को संतोष होगा कि, हाँ, चुनिया आया और उसने वचनपालन किया, इतना ही मुझे चाहिए । उसने शरीर के अवसान समय की स्थिति में उसे मेरे लिए आत्मसंतोष हो उसी हेतु से हे प्रभु ! मैं तुझसे माँगता हूँ ।

मेरे दिल में आयी इसप्रकार की भावना की छटपटाहट इतनी अधिक प्रचंड और उग्र थी कि उस छटपटाहट के साथ शायद गोपी की विरह भावना की छटपटाहट के साथ तुलना कर सके । इस छटपटाहट से सतत भगवान को पोकारा करता । उस छटपटाहट की वेदना के कारण उसमें से ऐसा आर्तनाद जो आर्द्रभाव से होता कि भगवान को उस

छटपटाहट के भाव से प्रेरित हो होकर प्रार्थना हुए जाती । यह सब अंतर में अंतर से ही हुए जाता था । ऐसी विकट परिस्थिति में प्रभु के सिवा मेरा दूसरा कोई चारा नहीं था । मेरे दिल की भावना को हमदर्दी और सहानुभूति बता सके ऐसा कोई न था । मुझे किसी के ऐसे आश्वासन की जरूरत भी न थी । मेरे हजार हाथवाले नाथ और हजार आँखवाले समर्थ यही सच्चा आश्वासन था । इसतरह अंतर की प्रार्थना में तीनेक दिन बीत गये होंगे और आर्द्रता और आर्ततायुक्त प्रार्थना की स्थिति के समय में एक पल अचानक बिजली का दीया जलता था, वह बंद हो गया । इस पर से मुझे तुरन्त लगा कि मेरी माँ के शरीर का अवसान हुआ और जीव गया । मुझ से रोया नहीं गया । उस समय भी एकमात्र भगवान की प्रार्थना में ही मेरा दिल रहा था । इसप्रकार, प्रभुकृपा से माँ के देहांत के समय का पता मुझे वहाँ रहकर भी लग गया था ।

फिर नडियाद से भाई मूलजी का तार आया कि माँ के शरीर का अवसान हो गया । उसके बाद पत्र आया उसमें उसने लिखा था कि मेरी माँ के शरीर के अवसान होने से कुछ समय पहले माँ ने मूलजी को आवाज लगाकर कहा था, 'अबे ! मूलिया ! देख, यह चुनिया आया !' तब मेरे भाई मूलजी ने मेरी माँ से कहा, 'चूनीलाल काशी में है । यहाँ कैसे आ सकता हैं !' तब फिर से मेरी माँ बोली, 'अरे, वह तो यह रहा ! मेरे पैर में सिर रखकर बैठा है । मेरे शरीर पर हाथ फेर रहा है। देख, वह यहीं पर है ।' इसप्रकार के शब्द उस पत्र में पढ़कर भगवान ने मेरी टेक रखी, मेरी लाज रखी, वचन का पालन करवाया । इससे मुझे जो हर्षोन्माद हुआ, वह आनंद कोटि ब्रह्मांड के आनंद की तुलना में नहीं आ सकता । भगवान इतना अधिक समर्थ है और उस समर्थ की मेरे सिर पर जीवन्त जबरदस्त शरण है, ऐसा एक प्रत्यक्ष प्रचंड अनुभव **उस** की कृपा से हुआ । तब से मेरा जीवन धन्य धन्य और कृतकृत्य हो गया अनुभव करता हूँ । मेरे जीवनअनुभव की दृष्टि से इस प्रसंग का मूल्यांकन मामूली नहीं है ।

मेरे दिल में **यह** प्रसंग भगवान की समर्थता और उसकी अनंत शक्ति के लिए और उन्होंने मेरे लिए जो किया है तथा मेरे लिए जो प्रत्यक्ष कर बताया, जो होना जगत की वास्तविकता की दृष्टि से हो ही नहीं सकता ऐसा है, वह मेरे प्यारे प्रभु ने कृपा करके किया। ऐसा द्वन्द्वातीत, गुणातीत प्रकार का अनुभव यह तो एक बहुत बड़ी घटना है।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३०९ से ३१७)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

७. श्रीसद्‌गुरु

(१)

मेरे जीवनप्रदाता, जीवनप्रेरक, जीवनज्योति, जीवनआत्मा के समान, पूज्यपाद गुरुमहाराज ने मुझे **इस** मार्ग में गहरा प्रवेश करवाने से पहले कहा था, वह बहुत कुछ याद आता है ! उसकी पूरी समझ तब आयी न थी, पर उसकी महत्ता समझ में आयी थी, उसकी अनिवार्यता गले उतरी थी, इससे उनका हृदय से लाभ (उनकी ही कृपा से) ले सका था। वह आवाज, उस आवाज की गंभीरता, मृदुता, सात्त्विक प्रेम, सात्त्विक हुंकार, उस आवाज में उनकी निर्मल आत्मा, यह सब आज भी वर्तमानवत् नजर के सामने हृदय के आगे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। वह सौजन्यभरी साक्षात् आत्मप्रेममय मंगल रम्य भव्य गूढ़ मूर्ति को हृदय की प्रार्थना से भावमय प्रणाम करता हूँ।

मम हृदयं ते अस्तु ।
मम चित्तं चित्तेनन्वेहि ॥
मम व्रते हृदयं ते दधामि ।
मम वाचमेकमना जुषस्व ॥

'मेरे हृदय में तेरा हृदय हो !
मेरे चित्त को तेरे चित्त द्वारा खोज-खोजाकर-अनुसर।
मेरे जीवनव्रत में तेरा हृदय रखता हूँ अथवा धारण करता हूँ।
यानी कि तुम्हारे हृदय की चेतना का भाव सतत मेरे जीवनव्रत में मैं रखा करता हूँ, मतलब कि ऐसी धारणा मेरे जीवन में मैं धारण करता हूँ।'

मेरी वाणी को एकमन द्वारा अर्थात् एकाग्र मनन द्वारा आनंद से सेवन कर ।

ये पुण्यश्लोक एक बार विद्यापीठ में गुजरात के संस्कार प्रचंड विद्वद्वर्य श्री आनंदशंकरभाई के श्रीमुख से सुना था, तब भी हृदय में जो आनंदमय भावावेश जागा था, वह आज भी इतना ही तादृश्य है ।

उपरोक्त श्लोक में साधना का सच्चा रहस्य समाया है । उनके हृदय में मेरे क्षुल्लक पामर अज्ञान हृदय को सतत पिरोने का नम्र प्रयास उनकी कृपा से ही किया करता था । मेरे चित्त द्वारा (शुद्ध करके) उनके चित्त को अनुसरण करने का जैसे सूझता वैसा प्रयत्न करता । उनके जीवनव्रत में—चरित्र में—मेरी हृदयभावना की समग्र रूप से धारणा रखा ही करने का होता जाता और उनकी वाणी को एकाग्र मन द्वारा—एक मन से—आनंद से सेवन किया करने को सतत अखंड लगातार प्रभुकृपा से प्रयत्न किया ही करता । जिन जिनके पास से जो कुछ सीखना मिला करता था, उनमें उस-उस ढंग से जीवन की वृत्ति और भाव सहजरूप से बाद में मुझ से होते थे । ऐसी वह गुरुकृपा थी ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ७ से ९)

● ● ●

प्रभुकृपा से **इस** मार्ग में जाने के लिए यौवन के प्रारंभ में मुझे किसी भी प्रकार की तमन्ना या जिज्ञासा नहीं आयी थी । उसके लिए कोई चाहना भी नहीं थी, परन्तु जैसे भूगर्भ में पेट्रोल हो तब ही उसमें से निकल सकता है, उसी तरह मुझे देश की सेवा के प्रति बहुत धुन थी और उस धुन को गुरुमहाराज ने साधना के क्षेत्र में मोड़ दी । मेरे सही गुरु श्रीकेशवानंदजी धूनीवाले दादाजी, परन्तु श्रीकेशवानंदजी, श्रीसांईबाबा आदि एक ही चेतन के आविर्भाव थे, ऐसा उन्हें बोलते मैंने सुना था । मुझे साधना में प्रथम प्रवेश करवानेवाले श्रीबालयोगी थे । कुंभ के मेले में आपश्री को मिलने दौड़कर जाना हुआ था ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २३३)

प्रभुकृपा से मुझे विश्वास है कि मेरे गुरुमहाराज जीवंत समर्थ हैं । उन्होंने मेरा प्रेमभाव से हाथ पकड़ा है । मैंने कभी उनकी छबि

पास नहीं रखी । यद्यपि प्रभुकृपा से मेरी दिल की भावना से उनका साकार स्वरूप प्रकट करने का हमेशा हुआ करा है और अंतर में उस तरह उन्हें जगाने और उनकी मदद और प्रेरणा पाने का हो सका है । श्रीसद्‌गुरु का प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का अवलंबन और उसमें से प्राप्त भाव और शक्ति कोई अलग ही प्रदेश की हकीकत है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २१६-२२०)

अभी जहाँ एलिसब्रिज है, वहाँ से टाउनहॉल की ओर जाने पर पुल के प्रारंभ के भाग में दाहिनी ओर साधुओं की छोटी जगह है । वहाँ अनेक वर्षों पहले एक बंगाली शरीर धारण किये साधु आये थे । उन्होंने **इस जीव** को नडियाद से बुलाया था । चार* दिन की छुट्टी लेकर उनके पास गया था । उन चार दिनों में उन्होंने इतना खिलाया कि न पूछो बात । खाया उसका वजन दस सेर तो होगा । कम से कम लिखा है । घण्टे घण्टे, कितनी बार आधे घण्टे में अलग-अलग भोजन के व्यंजन का थाल आया करते और हमें वह खा जाने का आदेश होता । एकदम गले तक आ गया हो और अब एक कोर भी खा सकें ऐसी दशा नहीं थी ऐसा हुआ, तथापि खा जाने का उनका आदेश होते वह खा पाता । ऐसा दिन में कितनी बार हो जाता । पर शरीर को कुछ भी न हुआ । पेट साफ भी सुबह में एक बार रोज के जैसे ही हुआ, यह एक अनुभव की बड़ी हकीकत हुई ।

('जीवनपोकार', आ. ५, पृ. १९७-१९८)

तब मुझे भक्ति या ईश्वर के विषय में कोई जिज्ञासा जगी नहीं थी । मैं भला और मेरा नडियाद का हरिजन शाला का काम भला । एक बार नानुभाई कंथारिया मेरे पास आकर कहे कि, अरे ! भगत ! अहमदाबाद में साबरमती के किनारे एक साधु रहते हैं, वह तुम्हें याद करते हैं ! वे दिन में पाँच-दस बार आवाज लगाते हैं कि नडियाद से चूनीलाल को बुलाओ । मस्त आदमी लगते हैं । मैंने कहा कि मुझे और साधु को क्या ? मैं उस समय साधुओं को समाज पर आर्थिक भाररूप मानता । मैंने

---

* श्रीमोटा केवल एक ही दिन की छुट्टी लेकर गये थे । ऐसा उनकी स्वयं की ध्वनिमुद्रित वाणी में है । (जीवता नर सेवीए (गुजराती पुस्तक, तीसरा संस्करण, पृ. ६६-६७)

नानुभाई के संदेश को कोई अहमियत नहीं दी, परन्तु कुछ दिनों बाद अहमदाबाद जाकर उस साधु को मिलने की इच्छा बलवान होने लगी । मानो वे मुझे खींच रहे हों ऐसा मुझे लगा, इसलिए मैं छुट्टी लेकर अहमदाबाद गया ।

वे बालयोगी के रूप में प्रसिद्ध । बहुत अच्छे आदमी लगे । जब नदी में वे नहाने पड़े, तब एक हाथी की तरह नहाये और उछल कूद करते । मुझे उन्होंने अपने पास सात-आठ दिन रखा । उनकी शक्ति के ऐसे परचे बताये कि मुझे उनके प्रति मान हुआ और उनकी मोहिनी के नीचे मैं तीनेक दिन के बदले इतने सारे दिन क्यों रह गया यह समझ नहीं आया ! वे मुझ से कहें कि तेरे गुरु ने तुझे दीक्षा देने मुझे भेजा है । तब मैं दीक्षा के बारे में कुछ समझता नहीं था । मैंने मन से प्रार्थना की कि आप नडियाद पधारो तो जो कुछ लाभ मिलना हो वह मिले ! ऐसा कहकर मैं नडियाद चला गया ।

मुझे मीराखेड़ी (तालुका झालोद, जिला दाहोद, गुजरात) अन्त्यज सेवा मंडल की कार्यवाहक सभा में हाजरी देने जाना था । उस दिन सुबह की फास्ट में दाहोद जाने की टिकट ली । जहाँ अंदर जाने का होता है, वहाँ मेरी दृष्टि एकाएक श्रीसद्गुरु पर पड़ी । वे प्लेटफॉर्म के बाहर एक कोने में शांत रूप से बिराजे थे । जैसी दृष्टि पड़ी कि तुरन्त मैं वापिस लौटा और उनश्री को प्रेमभक्ति से साष्टांग दंडवत् प्रणाम किये और बहुत खुश हुआ । उनश्री ने आदेश दिया कि रेलवे की टिकट मुझे वापिस दे देनी है । मैंने उत्साह से टिकट लौटा दी और मीराखेड़ी नहीं आ सकूँगा ऐसा तार दाहोद किया । उनश्री को घर आने की प्रार्थना की । वे घर पधारे । मस्ती में क्या कूदाकूद करें ! यहाँ से वहाँ नाचें ! हम तब नरखी पोल में रहते थे । ड्योढ़ी पर एक छोटी मंजिल थी । वहाँ उन्हें बिठाया । वे मंजिल में बैठे कि तुरन्त उन्होंने मुझे कहा कि मैं तुझे साधना में दीक्षित करने आया हूँ । उसके लिए एक बड़ा मकान चाहिए ।

मैंने आश्चर्यचकित होते हुए कहा कि, बापजी ! मैं तो गरीब हूँ । मेरी बड़े लोगों से जान-पहचान नहीं कि बड़ा मकान पा सकूँ । वे आवेश

में आकर शायद मुझे मार बैठते । मैं कुछ पीछे हट गया । उन्होंने कहा कि, तू तो गधा है । तुझ में कोई अक्ल नहीं । निरा बुद्धू है । ऐसा तो बहुत कुछ कहा होगा । वे फिर बोले कि, बड़ा मकान चाहिए ।

अरे ! प्रभु ! यहाँ कहीं बड़ा मकान संभव नहीं; वहाँ फिर एकांत जगह की आप बात करते हो ! ऐसा मन में बोलता हूँ वहाँ वे दुबारा भड़क उठे और बोले कि एक बड़ा मकान और वह संपूर्ण एकांत में जलाशय के पास होना चाहिए । यह प्राप्त कर जल्दी मेरे पास तू वापिस आ जा ।

ऐसा किस तरह पाना उसकी मुझे कोई सूझ न थी । इतने में मेरे काम जाने का समय हो गया । उनश्री से मैंने उसके लिए प्रार्थना की और संमति पायी । मेरी माँ को उनश्री को सौंपकर मैं मरीडा सीमान्त शाला के काम से जाने निकला ।

रास्ते जाते हुए रोज मुझे वहोरवाड में से गुजरना होता था । हम सभी विद्यापीठ में रहे थे । इसलिए उस संस्कार के कारण हिन्दू-मुस्लिम एकता का भाव भी जागा था सही । उस भाव से प्रेरित रोज जाते-आते वहोरवाड के एक प्रतिष्ठित सज्जन कासम साहब को मैं 'अस्सलाम् आलयकुम्' भाव से नियमित सलाम करता और वे भी उसी तरह फिर बोलते । ऐसा मेरा अटूट नियम था, परन्तु आज तो 'एक बड़ा मकान, एकांत जगह और पास में जलाशय !' उसी सोच में मेरा मन डूब गया था । उस कारण से हाजी कासममियाँ साहब बरामदे पर खड़े रहे थे, तथापि उन्हें मैंने नहीं देखा, और बीसेक कदम आगे चला गया । रोज की सलाम भरने के अभ्यास के कारण सलाम की स्मृति जागी । इससे वापिस आया, और कासममियाँ साहब के पास आकर उन्हें सलाम भरने का चुक गया, इसके लिए उनकी क्षमा भी माँगी । वे बोले कि, अबे ! तुम आज किस विचार में डूब गये हो ? मैंने कहा कि मेरे घर एक ओलिया साहब पधारे हैं । उन्होंने कहा कि तेरे अच्छे नसीब की हकीकत है । मैंने उनको कहा कि इतने से ही पूरा नहीं होता । वे ऐसा माँगते हैं कि जो कभी नहीं पा सकता । उन्होंने मुझे कहा कि तुम ठीक से सारी हकीकत मुझ से कहो तो सही ! मैंने उनसे सारी ब्योरेवार हकीकत कह सुनाई ।

उन्होंने कहा कि अरे भगत ! तुम घबराते क्यों हो ? हमारा एक बड़ा बंगला डभाण के रास्ते एकांत जगह में है । पास में रामतालाब है । जा, वह तुम्हें उपयोग करने को देता हूँ । ले यह उसकी चाबी । तुम्हारे ओलिया को उस बंगले में रखना । इस मकान का मुझे पता था । श्री इन्दुलालभाई के समय में वहाँ हरिजन आश्रम चलता था और कुछ समय मैं वहाँ रहा था । इससे कितना अधिक आनंद मुझे हुआ वह किस तरह समझा सकूँ और वर्णन कर सकूँ !

मुझे दौड़कर मेरे गुरुमहाराज के पास जाकर उनके पैर पड़ जाने का दिल हुआ, परन्तु कर्तव्य का भान जबरदस्त था । इससे वैसी प्रकट हुई भावना के प्रवाह से बहना छोड़कर प्राप्त कर्म में प्रयाण करना रखा । काम से निपटकर वापिस घर आया, तब उनको गद्‌गद भाव से प्रणाम किया और हुई सारी हकीकत कह सुनायी । उनको लेकर उस मकान में रहना रखा और वहाँ मुझे उनश्री ने साधना में दीक्षित किया ।

इस प्रसंग की असर मेरे जीवन पर इतनी अधिक गहरी पड़ी है कि उस असर से जो भावना प्रकट हुई, उस भावना ने मुझे साधना में टूट पड़ने से हमेशा उबारा है । वेश्री मेरे वहाँ नडियाद पधारे वह उनकी अपार करुणा का प्रत्यक्ष जीवन्त जाग्रत दृष्टान्त है । ऐसी सहज करुणा का अद्‌भुत प्रताप कभी मैं भूल न सका ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २१६ से २२०)

● ● ●

नडियाद में श्रीबालयोगी महाराज कृपा करके मेरे साथ डेढ़-दो या ढाई महीने रहे होंगे । उन्होंने कृपा करके मेरे पास आने का तीनेकबार किया था । प्रथम बार वे रहे तब उन्होंने बतलाया कि सांईखेड़ा में धूनीवाले दादा हैं । मैं उनसे प्रेरित तेरे पास आया हूँ और साधना में तुझे दीक्षित किया है । तुम उनके पास जाकर उनके आशीर्वाद ले आओ । मैं पूरीतरह तैयारी करके गया । यहाँ की मेरी नौका के सभी पाल में से मुक्त होकर जाने का किया था । इसलिए संघ में से त्यागपत्र दिया था । सांईखेड़ा जाकर धर्मशाला के एक कमरे में रहा । नहा-धोकर गुरुमहाराज

के पास जाकर पैरों में पड़ा । मुझे पता नहीं कि लोग उनसे डरकर दूर भागते हैं । मैंने उनके चरण में सिर रख दिया । लोग जोरशोर से बोल उठे, 'अरे ! हट जाओ ! हट जाओ ! दादा तुम्हारा सिर फोड़ डालेंगे ।' परन्तु मुझे कुछ नहीं हुआ ।

मैं रोज उनकी बैठक के आगे पाँच-सात फूट दूर बैठा रहता । दादा यद्वातद्वा कितनी बार बीभत्स जैसा-तैसा बोलते ! उनके बोलने से किसी प्रकार का सीधा अर्थ न निकलता । वे जो भी बीभत्स वाणी बोलते वह भी इसप्रकार की कि सुनते ही कान में कीड़े पड़े । मुझे घृणा हो आयी और वहाँ से एकदम निकलकर नडियाद वापिस आने का मन हुआ । परन्तु तत्क्षण दूसरा विचार आया कि जो बालयोगी महाराज स्वयं नडियाद पधारे थे, जिनकी भावलीला का अनुभव दर्शन मुझे बार-बार हुआ किये थे, जिन्होंने मुझे अपनी कृपा से साधना में दीक्षित किया था, उनके यह धूनीवाले दादा गुरु होते हैं । वे कितने समर्थ होने चाहिए ! इसलिए वे जो सारा बोलते हैं, चलते हैं, उसके पीछे कुछ रहस्य होना चाहिए सही, परन्तु वह परख कैसे सकते हैं ?

ऐसा जहाँ मेरे मन में हुआ वहाँ उन्हें बोलते मैंने सुना । जब वे बोलते तब दो-चार गालियाँ देते ही और कभी कसकर मार भी देते । हमें उनकी गालियाँ का प्रसाद मिला । यद्यपि किसी को पता न चले कि वे मुझे उद्देश कर बोलते हैं । वेश्री बोले कि मैं बोलूँ तब मेरे सामने झुण्ड खड़ा है, उनके मुख पर जो अंतर आता है, उसे निरखने और उस मनुष्य को याद रखकर उसके पास जाकर उसे सारी बात पूछनी । यह मुझे संबोधकर बोले थे, कारण कि उस समय मुझे उस प्रकार का प्रश्न उठा था ।

यह घटना घटने के बाद मैं उनश्री के सामने उपस्थित हुए झुण्ड को देखा करता । जिस किसी के मुँह पर अलग अंतर आता हो, उसे निहारने का मैं किया करता । रोज ऐसे पाँच-सात जीवों को मिलने का करता, तो पता चलता कि दादाश्री जो बोलते वैसा लोगों के जीवन में बना हुआ था एवं वे आपस में जो गालियाँ देते हो, उसका उच्चारण वे करते थे ।

वे अनेक लोगों की ऐसी कथनी कहते हो, इसलिए उसमें भावार्थ की अटूटता कहाँ से आ सके ? सभी का अलग-अलग हो । किसी का अच्छा हो तो किसी का खराब हो । दादाजी जिसका जिस प्रकार का हो, उसे उस प्रकार बोलते । सामान्य एक त्राहित मनुष्य को उनके बोलने में बिलकुल यद्वातद्वापन, बीभत्सपन, गलीचपन लगे और गाली बोलने के कारण से तथा लोगों को मारते भी सही, इन सभी कारणों के कारण इसकी योग्य समझ नहीं होती । कोई हिन्दी अखबार में बार-बार उनके विरुद्ध का लेख छपता । वह अखबार मेरे मित्र चूनीलाल व्यास नियमित मँगवाते और उसमें छपे मेरे गुरुमहाराज के विरुद्ध का लेख वे मुझे भिजवाना नहीं चूकते । अखबारों में ऐसे पुरुषों के विषय में आये लेख उनके जीवन का सत्य व्यक्त कर सके ऐसा नहीं हो सकता । मुझे जो उनका रहस्य समझने और अनुभव करने की सूक्ष्म कला कृपा से मिल गई, वह दूसरों को कहाँ से मिल सकती है ?

मैं वहाँ गया उसके दूसरे दिन की सुबह से दादा राजा महाराजा विषयक और उनके अंग्रेज सरकार के साथ के संबंध विषयक बोला करते थे । वे जब बोलते थे, तब झुंड में ऐसा कोई मानवी नहीं था । राजालोक किस तरह से अंग्रेजों को संतोष देते हैं, ऐसी सभी रीतरसमों को वे खोलते थे, उसमें कितने ही गंदे खेल विषयक आबेहूब बना हो वैसा वे बोलते थे । ऐसा बोलते हुए घण्टे भर हुआ होगा, वहाँ सारी सवारी आ पहुँची । दो-तीन घुड़सवार आगे, उसके पीछे कार और कुछ घुड़सवार उसके बाद पुलिस थी । कार में से उतरकर युवराज ने दो चाँदी के थाल, जिसमें एक में चांदी के रुपये थे और दूसरे में कुछ सोने के सिक्के होंगे । वे श्रीदादा के पैरों में पड़कर उनके चरणकमल में आगे रखे । उन्होंने उन दो थाल को ऐसी जोर से लात लगायी कि दोनों थाल उड़कर दूर पड़े और उसमें से रकम बिखर गई । पुलिस और राजा के दूसरे लोगों ने कॉर्डन कर लिया और सभी सिक्के बीन डाले । दादाजी उन पर थूके ।

उन्होंने युवराज को 'यहाँ क्या लेने आया है ?' ऐसा गुस्से में कहा । यह तो मैं बहुत सौम्य भाषा उपयोग करता हूँ। वे जो बोले थे, वह कागज में लिख सके ऐसा नहीं है । उनको बहुत गाली दिया और उनका सब व्यवहार खुला किया । दूसरे लोग मेरी तरह शायद समझते होंगे । उन्होंने कहा कि तेरे बाप की गादी चली जाएगी और तुझे मिलेगी । यह सब हकीकत मैंने पीछे से जाँच की तो पता लगा कि इन्दौर के उस समय के महाराजा ने अनेक कारस्तान किए होंगे और उस विषय में एक 'बावला खून केस' चलता था । इन्दोर के उत्तराधिकारी कुँअर यहाँ आये, उससे पहले से दादा उनके विषय में बोला करते थे । वह मेरी अपनी जानकारी की हकीकत थी । इससे, उनकी अंतर्यामीत्व की शक्ति जानने का मुझे प्रसंग मिला । मैं रहा वहाँ तक रोज के ऐसे पाँच-सात प्रसंगों को अलग-अलग मनुष्यों को पहचानने का किया करता । मैं सब करता था, वह मेरी बुद्धि को गुरुमहाराज की दिव्यशक्ति की समर्थता का योग्य भान प्रेरित करने के लिए करता ।

अनेक प्रकार के मनुष्य वहाँ आते । जीवन के अनेक क्षेत्र के और अलग-अलग आशा-इच्छाओं को पूरी करने बाधा-मनौती रखकर लोग आया करते थे । नर्तिकाएँ और सट्टावाले भी आते । साधु-संन्यासी, विद्वान व पंडित आते और रोगी भी आते थे । सर्वप्रथम बार वहाँ गया, तब जितने वहाँ रोगी थे, उन सभी को मिला था । लगभग तीसेक प्रतिशत मिटा हो ऐसा मुझे लगा था । दस-बारह दिन हुए होंगे । वहाँ दादाजी के हाथ में एक नारियल आया था । उन्होंने वह जोर से मेरी ओर फेंका । मेरे ललाट पर लगा और चकता भी हुआ । उन्होंने फिर मुझे हुक्म किया कि तुम अपने घर चले जाओ । वहाँ रहकर ही साधना में लग जाओ । तुम मेरी प्रार्थना किया करना । तुम्हें जो कर्म मिला है, तुम उसमें लगे रहना ।

वहाँ से मैं वडोदरा आया । डफ्रीन हॉस्पिटल के टी. बी. वॉर्ड में मेरे स्नेही श्री भगवतप्रसाद पंड्या दर्दी के रूप में थे । उन्होंने श्री ठक्करबापा के पास बहुत समय तक सेवा की थी । उनको T. B. of the testicles

(नीचे की थैली का क्षयरोग) हो गया था । उनकी तीमारदारी के लिए श्री ठक्करबापा ने उन्हें डफ्रीन हॉस्पिटल में दाखिल किया था । मैंने उन्हें दादाजी के दरबार की सारी हकीकत बतलायी । अमुक रोगिओं के रोग मिट सकते हैं, उसका प्रतिशत मैंने निकाला था, उसे सविस्तार बतलाया । तुम भी उन मिट गये में से एक क्यों न हो ? तुम जाओ तो प्रभुकृपा से मिट भी जाय उनको ऐसा मैंने कहा ।

उन्होंने मुझे कहा कि जाने-आने का किराया तुम दो तो मैं जाऊँ । मेरे पास उस समय इतनी रकम न थी । मैंने उनसे कहा कि यदि तुम्हें न मिटे तो मैं तुम्हें उतनी रकम कैसे भी करके दूँगा । दादा के पास उनका रहना हुआ, कुछ समय में उनका रोग मिट गया था ।

उन्होंने नवसारी हरिजन आश्रम को पत्र लिखा कि उनके नाम पर जो कोई पैसेटके, सरसामान हो, उस सभी को बाँट दें और उनके नाम पर कुछ न रखें । श्री ठक्करबापा को इस हकीकत का पता चलने पर उन्होंने ऐसा नहीं होने दिया । उनका बेटा बड़ा हो, तब संघ में जो रकम उनके नाम पर हो, वह उसे सुप्रत कर दें ऐसी परीक्षितलाल को सिफारिश की थी । श्री भगवतप्रसाद पंड्या दादाजी के पास सदा रहते और निर्वस्त्र भी हो गये थे । दादाजी जब-जब मेरे विषय में कुछ बोलते, तब वे या तो लिख लेते या तो ध्यान देकर ठीक से सुनते । नडियाद के श्मशान में जो प्रार्थना मैं करता, उस प्रार्थना के शब्दों शब्द दादाजी बोलते । उन्होंने लिख रखा मेरा एक भजन मैं गया, तब मुझे बताया भी था । ऐसी दो प्रार्थनाएँ उन्होंने मुझे बतायी थी ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३६० से ३६७)

प्रभु शरणचरण में रखो रे पाव पडूँ ।
रसियाजी अंतरयामी, मेरे हृदयकमल के स्वामी,
अलबेला प्रेमीनामी रे...पाव पडूँ । प्रभु.

शरणागतवत्सल जानकर, तुझे बतायी अंतर कहानी,
तब भी मन रहा अभी मान रे...पाव पडूँ । प्रभु.

बेहूदा सभी उसे टालकर, संतोष दे गिरिधारी,
पद लगा दो न ताली रे...पाव पडूँ । प्रभु.

प्यारे जी साधन कोई ना, दिल प्रेमभाव के फूल,
बिखेरता हूँ नित तम पद में रे...पाव पडूँ । प्रभु.

बालक का जोर कुछ क्या ? जो हो कुछ तो रोना,
उस जोर से मुझे तैरना रे...पाव पडूँ । प्रभु.

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३७१-३७२)

● ● ●

एक समय* जीवन में ऐसी नाजुक स्थिति आयी कि प्रार्थना दूसरे साधन कुछ काम में नहीं आ सके । कोई भी युक्ति काम न आ सके । पूरी रात रोया करता । प्रार्थना किया करता । श्मशान के पास तालाब था, उसमें खड़े रहकर प्रभु को जोर से पुकारता । नामस्मरण गंगा की धारा की तरह चला करता । ऐसे नाजुक समय के निवारण के लिए दूसरे स्थूल उपाय जानता वह लिया करता था । उस समय श्रीसद्गुरु को सूक्ष्म रीति से हृदय में प्रकट करने की कला प्राप्त न हुई थी, इसलिए उनके पास जाकर साधना के समय की उलझन की बात अपनेआप करनी और उसका हल पाना ऐसा दिल में हुआ । उनको खोजने जाने को दिल अधीर हुआ । साधु का पिहर कुंभमेला । उस समय कुंभमेला हरिद्वार में होनेवाला था । महाकठिनाई से वहाँ गया । चार दिन जहाँ-तहाँ सभी जगह सोये बिना, उनको पुकारते-पुकारते, खोजता ही रहा । अंत में मिल गये तब एकदम पास में ही ! उनके चरणकमल में सिर रखकर बहुत समय तक पड़ा रहा । जिसमें से उबरना था, उसके लिए हृदय में हृदय से प्रार्थना किये करने की प्रभुकृपा से चेतनपूर्वक की बस जागृति थी । प्रार्थनाभाव में लगभग पौने घण्टे तक पड़ा रहा होगा, उसके बाद उन्होंने मुझे उठाया । मैंने उनको कहा कि मैं चार दिन से उपवास कर रहा हूँ पर आप यहाँ पास में हो वह दिखा ही नहीं ।

'मैं तो तुम्हें देखता था, पर जहाँ तक तुम मुझे देखो नहीं, वहाँ तक सब बेकार ।'

---

* सन् १९२८ से पहले

'अरे, बाप ! मुझे थोड़ा बुलाना तो था ! आपको ऐसा भी नहीं हुआ कि यह लड़का बेचारा भूखा-प्यासा अपने गुरु को खोजा ही करता है और ज्ञानभान बिना का हो गया है ।'

'तुम्हें बुलाने का काम मेरा नहीं है । मुझे बुलाने का काम तुम्हारा है । तुम मुझे देखो नहीं, वहाँ तक बुलाना यह बेकार का होता है ।'

इसका सूक्ष्म अर्थ समझने जितनी शक्ति तब न थी । पर उनके विषय में जो सद्‌भाव और श्रद्धा मुझ में थे, इससे ये वचन स्वीकार कर सका । समय जाने पर उसका मर्म और अर्थ समझ में आए । जिस कारण के लिए गया था, उस कारण से मुक्त होने की सूक्ष्म कला और साधन कृपा कर उन्होंने **इस जीव** को बक्षे । वह साधना करने पर कंठ में प्राण आ जाय ऐसा था । पर जो करना है, वह बस करना ही है, और श्रीसद्‌गुरु के वचन में जीवन्त विश्वास था । इससे आत्मत्याग करने का साहस हो सका । इस तरह अनेक बार **यह जीव जीव**प्रकार की प्रकृति में था, तब श्रीसद्‌गुरु की मदद उसने प्राप्त की है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३९९-४००)

● ● ●

नडियाद में प्रभुकृपा से साधना में दीक्षित होने का हुआ, वैसा दूसरा एक इसप्रकार का प्रसंग वहाँ बना था । एक बार मैं मरीडा सीमान्त के वास में विद्यार्थिओं को आह्वान करता था, तब एक हरिजनभाई ने कहा कि चूनीभाई ! अपने कुंड के पीछे के खेत में एक बिलकुल नग्न व्यक्ति पड़ा हुआ है, जरा भी हिलताडुलता नहीं । मुझे प्रभुकृपा से सूझा कि नग्न होने की ताकत या तो पागल या किसी अवधूत में हो सकती है । यह विचार आने के साथ दूसरे शिक्षक भाइओं को काम सौंपकर मैं वापिस घर आया, नहाया, धोये कपड़े पहने । एक बड़ा लोटा अपने हाथों से अच्छी तरह साफ किया और उसमें लगभग दो शेर दूध लेकर जिस जगह नग्न व्यक्ति पड़ा था, वहाँ मैं गया । मुझे जगह तुरन्त मिल गई । वह व्यक्ति अभी वहाँ वैसा का वैसा पड़ा हुआ था । मैं वहाँ बैठा रहा और प्रार्थना, स्मरण आदि किया करता था । डेढ़-दो घण्टे बैठा होगा,

वहाँ वे साहब थोड़े हिलेडुले । उसके बाद धीरे-धीरे करके उन्होंने करवट ली और वह भी मेरी ओर नहीं । फिर वापिस वे पड़े रहे । फिर वापिस पौने घण्टे बाद मेरी ओर करवट ली और आँखें खोली ।

मुझे अवश्य लगा कि यह कोई पागल नहीं लगता । इससे मुझे दूसरे अनुमान पर आना पड़ा कि, यह कोई अवधूत कोटि का आत्मा होना चाहिए, ऐसा स्फुरण होते मुझे दिल में भाव तरंग उठने लगे । उनके दर्शन होने पर मन में अपना सद्‌भाग्य मानने लगा । 'हे प्रभु ! मुझ पर कृपा रखना । मेरे साधना के पुरुषार्थ में चेतनवंत वेग दिया करना और मेरी साधना निरन्तर अटूट चला करे इसप्रकार की भावना का बल प्रेरित करना ।' इसप्रकार की प्रार्थना मन में मन से किया करना सहज स्फुरित करता था । मैं प्रार्थना के भाव-तान में मशगूल था, इससे समय का कोई भान नहीं रहा ।

जब भान जागा, तब शाम के छः बजने आये होगे । वे श्री बोले कि मुझे किसी मुसलमान के घर ले जा । उनकी बोली मराठी थी ऐसा स्पष्ट लगा । मुसलमान के घर ले जाने की हकीकत सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ । फिर, वह हो भी किस तरह ? शरीर की नग्नावस्था में किसी के घर ले जाय यह सामान्य समझ की दृष्टि से अनुचित था, परन्तु **इस जीव** को अभ्यास पड़ा हुआ था कि ऐसे लोगों का जिस प्रकार का व्यक्तित्व हो, उस अनुसार पालन करने को मेरा दिल सद्‌भाव से तत्परतावाला हो जाता । विद्यापीठ से प्राप्त हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना से मुसलमान भाइओं को 'अस्सलाम आलयकुम्' करने की जो आदत थी, उस आदत ने मुझे यहाँ भी सहारा दिया ।

मरीडा सीमान्त की ओर आते उस लत्ते में एक यूनानी हकीम साहब को 'अस्सलाम् आलयकुम्' करता और वे भी उसका उत्तर भावना से देते । हमारा परस्पर इसप्रकार का नाता बहुत समय से जीवंत चला आ रहा था । इसके अलावा शायद ही हमने एकदूसरे के साथ कुछ बात की हो । मैं बापजी के पास से उठकर उस यूनानी हकीम साहब के घर गया । सद्‌भाग्य से वे उपस्थित थे । मैंने उनको बात

की कि चमार लोगों के रंगने के कुंड के पीछे एक खेत में एक ओलिया पधारे हैं। उनको किसी मुसलमान के घर रहना है। उनके पास से ही अभी मैं चला आ रहा हूँ। यदि आप कृपा करके उनको अपनी छत पर रख सको, तो उनकी मैं हरेक प्रकार की सेवा जरूर करूँगा और मैं खड़े पैर उपस्थित रहूँगा। मैं आपको किसी भी प्रकार की तकलीफ पड़ने नहीं दूँगा।

वे संमत हो गये। फिर मैंने उन्हें बतलाया कि हकीम साहब ! आपने प्रेम से संमति दी, परन्तु वे ओलिया शरीर से संपूर्ण नग्न हैं। मैं उन्हें घोड़ागाडी में सारे परदे डालकर ले आऊँगा। वे छोटा कंतान अपने शरीर के उतने भाग पर डाल रखें ऐसी उन्हें प्रार्थना और व्यवस्था अवश्य करूँगा। आप कृपा करके ऐसा एक छोटा कंतान मुझे दो। यह सुनकर वे स्तब्ध हो गये। थोड़े बहुत गुस्सा हुए ऐसा भी मुझे लगा। ऐसी स्थितिवाले व्यक्ति को अपने यहाँ रखने की उनकी तत्परता घुलती हुई लगी ऐसा स्पष्ट मुझे लगा था।

मैंने उनसे कहा कि मैं उन्हें अपने घर अवश्य ले जा सकूँ ऐसा हूँ। उनको प्रेम से रखूँ। संतराम महाराज के मंदिर के पीछे झाड़ी है, वहाँ ले जाकर भी रख सकता हूँ, परन्तु उनश्री को किसी मुसलमान के घर रहना है, इसलिए मेरी लाचारी है। इससे मैं आपको प्रार्थना करने आया हूँ। मैं उनके शरीर में कंतान जैसेतैसे लपेटकर आपकी छत पर चढ़ा दूँगा। उनका मलमूत्र आदि मैं अपने हाथ से साफ करूँगा। वे शायद ऐसे कर्म के लिए बाहर न भी निकलें, ऐसी मस्त दशा के यह व्यक्ति लगते हैं। इसके लिए मानसिक तैयारी मैंने भक्तिपूर्वक कर रखी है। ऐसे लोग बहुत धुनी होते हैं। वे कैसा बोले और कैसा व्यवहार करे उसका हमें कुछ भी पता नहीं चल सकता।

यह सुनकर हकीम साहब के मुँह पर की रेखाएँ बदली और मुझे कहने लगे कि, भगत ! तुम जाते-आते भजन गाया करते हो, और खुदा की बंदगी करते हो, यह मैंने बहुत समय से देखा है इसलिए तुम्हारे कहने से मैं संमति देता हूँ, परन्तु मुझे किसी कठिनाई में न पड़ना पड़े और

तुम जिन्हें ओलिया कहते हो, उन्हें बीच में से निकालने की आवश्यकता न हो उसकी जिम्मेदारी तुम्हारे सिर है ।

यह जिम्मेदारी मैंने प्रेम से स्वीकार की । यद्यपि वैसी जिम्मेदारी स्वीकार करने से पहले मुझे मन में जरूर हो आया कि, यह काम कठिन है । इसप्रकार के व्यक्ति एकदम निकलने को तैयार न हो । वे अड्डा जमाकर बैठे और ऐसा भी कहें कि मैं यहाँ ही बैठा हूँ और निकलूँगा नहीं । वे यदि न निकले तो मेरी बड़ी बदनामी हो । ऐसा विचार आ गया पर मुझे उनके वचन का प्रेमभक्तिपूर्वक पालन करना था । जिस समय जो होगा, उस समय देखा जाएगा । भगवान की कृपा से इसका हल अवश्य मिल आएगा । ऐसा सोचकर हकीम साहब को बेधड़क हो हाँ कर दी । प्रथम मंजिल पर देख आया, हम आये वहाँ तक मंजिल में जो कुछ सामान पड़ा है, उसे ले लेने को हकीम साहब को मैंने बतलाया । ऐसा भी कहा कि मैं आधे घण्टे रुककर आप मुझे बताओ उस तरह वह सारा स्वयं रख दूँगा, परन्तु उन्होंने मुझे मना करके स्वयं सारा करा लेंगे ऐसा बतलाया था ।

मैं निश्चिंत हो खुश होते हुए घोड़ागाड़ी लेकर ओलिया सो रहे थे वहाँ गया । घोड़ागाड़ी आयी देख वे स्वयं उठे । घोड़ागाड़ी के पर्दे मैंने नीचे डाल दिये थे । घोड़ागाड़ीवाला भी शरीर से बिलकुल नग्न ऐसे व्यक्ति को देखकर बहुत अचंबित हुआ । उनश्री को गाड़ी में बिठाकर उस टाट के कपडे को उनके शरीर के उतने भाग पर दो हाथ जोड़कर मैंने प्रार्थना की और रखे रखा । वे बिलकुल शांत रहे, इसलिए उसमें मैंने उनकी मूक संमति मान ली । इसप्रकार का हमारी वरयात्रा हकीम साहब के घर की ओर चली । हकीम साहब हमारी राह देखकर बाहर खड़े रहे थे । उन ओलिया का शरीर बहुत हृष्टपुष्ट और भारी था । मैंने उनश्री से कहा था कि, गाड़ी में से उतरकर ऊपर की मंजिल पर आप शीघ्रता से पधारें । दुनियादारी के लोग इसतरह का कुछ सहन कर नहीं सकते और उल्टे हकीम साहब की बदनामी होगी । वे स्फूर्ति से उतरे और मंजिल पर शीघ्रता से चढ़ गये !

मैंने उनसे प्रार्थना की कि पानी के लिए मटकी, दो चार मिट्टी के सकोरे, बैठने को लिए गद्दी जैसा साधन और भिक्षा का प्रसाद लेकर मैं आता हूँ, वहाँ तक आप शांत बैठे रहोगे ऐसी मेरी प्रार्थना है । दूरदर्शिता रखकर उसके अलावा झाड़ू भी लाया था । उनश्री को धूल ना उड़े उस तरह धीरे-धीरे से सारा साफ किया । उनके बैठने के लिए गद्दी और आसन बिछाये । पर उस पर बैठे नहीं । मैंने उनको इसके लिए आग्रह नहीं किया । हकीम साहब के वहाँ से एक सकोरा लेकर उसमें धूल भर लाया । दो-चार ईंट भी लाया । उन ईंटों को बिठाकर उसके बीच धूलवाला सकोरा रखा जिससे उन्हें मलत्याग करना हो, तब सरलता से करें ।

ये सारे मेरे खेल वे देखा करते थे । इस समय के दौरान मैं भी कुछ बोलता नहीं और वे भी कुछ न बोलते । उसके बाद हाथ धोकर उनके आगे भिक्षा का प्रसाद रखना किया । मेरे पास उस समय उनश्री को प्रसाद देने को बाजरी का रोट, शाक और दूध के सिवा दूसरा न था । वे प्रेम से रोट, शाक, दूध खा गये । इतना ही नहीं, पर रोट के कुछ कण जमीन पर गिर गये थे, वह भी उठाकर खा गये । मैंने जाना कि वे अपने हाथ मुँह धोयेंगे, परन्तु उन्होंने कुछ किया नहीं । इसलिए मैंने अंगोछा को पानी से कुछ भिगोकर धीरे-धीरे उनके हाथ और मुँह पोंछ दिये ।

मुझे रात को विचार आया कि उनके सोने का क्या करें ? वे कभी मराठी में बोलते और कुछ टूटीफूटी हिन्दी में बोलते, परन्तु मुझे कुछ समझ में न आये । मेरी हिंमत पूछने की न होती । मुझे बिछौने बिना चला जाता वैसा अभ्यास था । मैंने जैसेतैसे करके दरी या बिछौना ले आने की बात की पर वे उत्तर देते ही नहीं थे, इसलिए अधिक पूछना छोड़ दिया और पास जाकर उनके पैरों लगकर धीरे-धीरे उनके पैरों पर हाथ फेरने लगा । फिर हिंमत आने पर सेवा करने की अच्छी तक मिली, परन्तु वैसा एक ही दिन करने दिया । उसके बाद उन्होंने मुझे सो जाने का आदेश दिया । मैं सो गया । सुबह दाँतुन देने को किया तो उसे उन्होंने फेंक दिया । उनके पास पानी का लोटा और तसला रखकर मुँह

साफ करने की उनको मैंने प्रार्थना की, परन्तु उन्होंने कुछ नहीं किया । उनके लिए दो बार भोजन ले जाता । वे भोजन लेते थे सही पर मलमूत्र की व्यवस्था की थी, उसका उपयोग न करते, छत पर कहीं भी वे दिशा पर बैठते । मैं प्रेम से साफ कर लेता और उनके शरीर का वह भाग भी मैं स्वयं धोता । मेरी अनुपस्थिति में दो-चार बार इसतरह वे टट्टी गये थे, तब उन्होंने वह भाग धोया न था । मैं जब आया तब वे सारा मैंने साफ कर दिया था । गोबर मिट्टी से वह जगह अच्छी तरह लींपा था । वह सारा दूर जाकर म्युनिसिपालटी की कचरापेटी में डाल आने का किया था । उसके बाद दो-तीन दिन तक या शायद चार दिन भी हो, मलमूत्र त्याग की क्रिया से वे बिलकुल मुक्त रह सके थे ।

हमारा परस्पर बोलने का शायद ही होता । मैं प्रार्थना, स्मरण आदि साधना के अभ्यास में अपना समय व्यतीत करता था । प्रारंभ में जिस खेत में वे पड़े थे, वहाँ उन्होंने जब चक्षु खोले तब जिस प्रकार की प्रार्थना मैंने की थी, उस भाव में जीवंत रहा करने का प्रभुकृपा से होता । दो-एक दिन उन्होंने मेरी अनुपस्थिति में उन हकीम साहब के साथ कुछ बात की थी, ऐसा उन हकीम साहब के कहने पर से लगा था । ग्यारह-बारह दिन के बाद वे एक दिन जाने का उपक्रम करते लगे । मैं घोड़ागाड़ी ले आया और उनश्री को उत्तरसंडा की ओर ले जाने का हुआ । गाँव से बहुत दूर गाड़ी खड़ा रखवाकर उनके मैं पैरों पड़ा और उतर जाने का कहा । गाड़ीवाले के पैसे चुकाकर मैं उनके पीछे दौड़कर उनके साथ हो गया । कुछ दूर तक उनके साथ चला होऊँगा, तब वे बोले कि तू मेरे साथ चल ।

मैंने उनको प्रार्थनाभाव से कहा, 'प्राप्त कर्म, प्राप्त परिस्थिति, प्राप्त संयोग का श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ यथायोग्यता से प्रेमभक्ति से पालन करना उसे मैं प्रत्यक्ष धर्म मानता हूँ । तब भी यदि आप मुझे साधना में आगे वेग प्राप्त करने का दान दो तो मैं आऊँ ।' वे तुरन्त बोले नहीं, पर बाद में बोले कि जरूर तुम मेरे ठिकाने आओ । उनश्री को मैंने कहा, 'एक, साधना का मेरा उद्देश्य फलित करने की आप कृपा करें । दूसरा,

मुझे आपके ही एकमात्र दर्शन हुआ करें और आपकी भावना मन में महत्त्वरूप से हुआ करे । तीसरा, स्थान जहाँ हो वहाँ मुझे जानेआने के लिए गाड़ी- भाड़े की रकम अचानक किसी के पास से स्वयं मिल जाये । यह तीन विनती का यदि आप कृपा कर स्वीकार करें तो मैं आपके ठिकाने आ सकूँ ।' इसके बाद वे चले गये और मुझे लौट जाने को कहा ।

शहर में आकर हकीम साहब के घर जाकर, उनकी मंजिल पर का सब ठीकठाक करके उनका मैंने बहुत-बहुत आभार माना । हकीम साहब ने मुझे कहा कि ये बहुत बड़े ओलिया हैं । वे साकोरी* में रहते हैं और उनका नाम है उपासनी महाराज । साकोरी से जानबूझकर चुपचाप निकल आये हैं । भगत ! तुम्हें उनकी सेवा करने की उत्तम तक मिली । तुम भाग्यशाली हो । तुम्हारे लिए उन्हें बहुत हेत प्रकट किया है । मैंने भी उन्हें बताया कि उनश्री ने मुझे अपने साथ ले जाने की तैयारी बतायी थी । फिर, उनश्री को मैंने तीन विनती प्रार्थनाभाव से की थी, वह हकीम साहब को कह सुनायी । हकीम साहब ने मुझे कहा कि, तुमने ठीक नहीं किया । तुम उनके साथ गये होते तो उसमें तुम्हारा कल्याण होता, परन्तु मुझे इससे जरा भी अफसोस नहीं हुआ ।

इसके बाद कुछ समय बीत गया । बारडोली सत्याग्रह की लड़ाई चली थी । उसमें बुलाये तब जाने की तैयारीवाले स्वयंसेवकों की सूची में मैंने नाम लिखवाया था । जिस दिन मुझे बारडोली जाने का हुक्म का कागज मिला, उसी दिन मुझे अचानक श्रीउपासनी महाराज के दर्शन हुए और वहाँ जाने का दिल हुआ । किसी दिन नहीं और आज क्यों ऐसा हुआ ? ऐसा सोच सोचकर जाँच लिया । बारबार श्रीउपासनी महाराज के दर्शन हुआ करते । उनश्री को की तीन विनती का मुझे भान हुआ । मुझे वहाँ जाने-आने का गाड़ीभाड़ा की रकम स्वयं मिले, तब जाने की बात थी, ऐसा मन से निश्चित कर लिया और निश्चिंत हो गया । यदि उस दिन अपनेआप वहाँ जाने का गाड़ीभाड़ा की रकम मिल जाय, तो फिर बारडोली जाने का बंद करके साकोरी जाना ही ऐसा निर्णय भी कर लिया ।

---

* साकुरी (शिरडी के नजदिक, महाराष्ट्र)

प्रतिदिन मुझे मरीडा सीमान्त वैष्णव की हवेली के पास से जाने-आने का होता और कुछ दिनों से अभी मैं श्री दयारामभाई का *'वैष्णव नहीं हुआ तू रे, क्यों गुमान में घूमे ?'* यह भजन मैं स्वयं को उद्देश कर प्रार्थनाभाव से जाते-आते जोर से गाया करता था । उस भजन का वाक्य, *'वैष्णव नहीं हुआ तू रे, क्यों गुमान में घूमे ?'* प्रतिदिन वैष्णव की हवेली के आगे से जाते बोला जाता था । मैं कुछ किसी को सुनाने के लिए यह न गाता था । एक दिन एक वैष्णव सद्‌गृहस्थ मेरा वह भजन सुनकर गुस्सा हो गये और मुझे धौल मार दी थी । मैंने उनसे कहा था कि आपको संबोधकर मैं यह नहीं गाता । मैं तो अपने आपको मठारने के लिए प्रार्थनाभाव से सतत गाया करता हूँ, परन्तु उस भाई ने तो मानो मैं उनके लिए गाता होऊँ ऐसे सिर पर लिया था और उसे सुनकर गुस्सा हो गये थे ।

अब इस दिन मुझे साकोरी जाने का दिल हुआ करता था और बारबार श्रीमद् उपासनी महाराज के दर्शन हुआ करते थे । तब उस भजन को जोर से गाता-गाता वैष्णव की हवेली के आगे से पसार हो रहा था, उस समय एक दूसरे सद्‌गृहस्थ ने आकर मेरे हाथ में पैंतालीस रूपये रख दिए । मुझे आश्चर्य हुआ, 'भाई ! यह रकम किसलिए और मुझे क्यों दे रहो हो ?' उन्होंने कहा, 'रोज तुम इस मार्ग से जातेआते भजन गाया करते हो । ऐसा तुम्हारा अभ्यास कितने समय से जारी है, यह मैं देखा करता हूँ । फिर, रोज रात तुम काकरखाड की ओर से संतराम सीमान्त जाते हो, तब संतराम मंदिर से वापिस आते मैंने तुम्हें अनेकबार रोज जोर से गाते सुना है । तुम बस जहाँ-वहाँ भगवान के भजन गाने का किया करते हो, इससे मुझे तुम पर भाव जागता है । कुछ दिनों से तुम्हें कुछ दूँ-दूँ ऐसा मन में हुआ करता था, परन्तु आज देने की भावना विशेष प्रबल हुई और हाथ में जो रकम आई उस रकम को लेकर तुम्हारी राह देखता सामने चबूतरे पर बैठा था । तुम्हें जहाँ *'वैष्णव नहीं हुआ तू रे'* ऐसा गाते सुना कि तुरन्त तुम्हारे पास आया हूँ । इसलिए कृपा करके इतनी रकम का स्वीकार करो । मुझे तब हुआ, यही भजन गाने से एक

सज्जन ने धौल की प्रसादी दी थी और यह एक दूसरे सज्जन ने पैंतालीस रूपये की रकम दी ! अब अपना साकोरी जाने का पक्का हो गया । छुट्टी का पत्र डाक में डालकर हम निकल पड़े साकोरी जाने गाड़ी में ।

वहाँ पहुँचकर सामान एक ठिकाने रखकर नहाधोकर मैं महाराजश्री के पैरों लगा । उन्होंने मुझे जिस लकड़ी के बड़े पिंजरे में वे बैठे रहते, उसके पास बैठ जाने की आज्ञा दी । मैं वहाँ बैठ गया और अपने साधना अभ्यास में लगातार लग गया । पाँच-छः घण्टे बीत गये । फिर मुझे लघुशंका करने की वृत्ति हुई । मैं उठकर बाहर जाने गतिमान हुआ, परन्तु मुझ से उठा ही नहीं गया । मैंने माना कि लगातार पाँच-छः घण्टे बैठे रहने से मेरे पैर अकड़ गये लगते हैं । मैंने अपने पैरों को ठीक से हिलाकर देखा तो वे ठीक से हिलते-डुलते थे । घूंटनों में से ठीक से मुड सकते थे । पैर अकड़ गये हो ऐसा मुझे नहीं लगा । तब भी खड़ा क्यों नहीं हो पा रहा । यह मेरे लिए एक बड़ी पहेली हो गई । मैं उठे बिना बैठे-बैठे खिसकर दूर जाने का प्रयत्न करने लगा, परन्तु वह भी हुआ नहीं । ऐसे दो-ढाई घण्टे चले गये, क्योंकि मैं प्रार्थना आदि साधना में ही रहा करता था ।

फिर शरीर का भान आते लघुशंका की वृत्ति बलवान हुई । अब यह किये बिना कोई चारा नहीं, परन्तु इस जगह लघुशंका कैसे हो सकती है ? यह प्रश्न बहुत उलझाता और संकोच भी सही । फिर से प्रार्थना आदि की भावना में टिकने के लिए सभान हो प्रयत्न कर देखा । आधाएक घण्टा ध्यान की परिस्थिति में बीता न बीता वहाँ जाग जाने का हुआ, और लघुशंका करने की वृत्ति जबरदस्त बलवान होकर उठी । फिर, प्रार्थना, स्मरण, ध्यान आदि की भावना में मशगूल होने का प्रयत्न किया तब ध्यानस्थ दशा के भाव में मुझे सुझा कि यह सारी करामात इन उपासनी महाराज की हैं । बाकी मेरे पैर अकड़ नहीं गये । मेरी ऐसी दशा करने में उनका कोई उद्देश्य होना चाहिए ।

मुझे ऐसा ज्ञान होते ही वहाँ लघुशंका करने के संकोच चला गया, और वहाँ ही उस अनुसार वर्तन किया । पानी तो क्या निकले क्या निकले ! पार बिना का ! मुझे वहाँ इकट्ठे हुए लोग बहुत गाली देने लगे । फिर पाखाना भी वहाँ ही हुआ करता । मलमूत्र इतनी बार हुआ कि जिसका कोई हिसाब नहीं । मेरे कपड़े उसमें लदबद हो गये । वह चार फूट की जगह मलमूत्र से भर गयी थी । लगभग पाँचेक दिन पानी या खाना कुछ नहीं मिला, तब भी इतना सारा मलमूत्र निकला करता कि जिसका अंदाजा न था । मल का मानो एक बड़ा बिस्तर उस जगह में हो गया हो ऐसा हुआ था ।

मुझे लोगों ने मार मारना जारी रखा था । लोग बोलते कि साले को बाबा (उपासनी) हो जाना है । उठाकर फेंक दो बाहर ! अमुक ऐसा करने को तैयार हुए, किन्तु मल की शय्या में पैर रखने का उनसे साहस न हो सका । मेरे शरीर को लोग दूर से पत्थर या ईंट मारा करते थे । यह सारा खेल उपासनी महाराज देखा करते, परन्तु वे संपूर्ण साक्षीवत् रहते । एक तेरह-चौदह वर्ष की लड़की मुझे नहीं मारने को लोगों को बारबार समझाती और मुझे बचाने का प्रयत्न करती थी । (यह बहन वह दूसरी कोई नहीं पर श्रीगोदावरी माता स्वयं ही । यह हकीकत का पता पीछे से चलाथा ।) इतनी सारी मार पड़ा करती थी, तब भी मनादिकरण की समाधि के भाव में थोड़ा भी भंग न पड़ता था । एक ओर उस भाव की सतत लगातार पतिपावनी गंगधारा चला करती थी, दूसरी ओर से लोगों के मार की गंगधारा चलती थी, पर वह थोड़ी-थोड़ी थी । तीसरी ओर मलमूत्र क्रिया का प्रवाह जारी रहा करता था, साक्षीभाव से यह तीनों पहलुओं का समरस एकसमान एकस्थपन का जीवित जागृत टिका हुआ अनुभव होता था ।

पाँचेक दिन ऐसे एक क्षणभर में बीत जाते हो ऐसी वह स्थिति थी । उपासनी महाराजश्री ने गरम पानी मंगवाकर मुझे पीने दिलाया । दो-तीन दिन तक यह कार्यक्रम चला । शरीर की स्थिति पूर्ववत् थी । मलमूत्र के भारी प्रमाण में त्याग हुआ जा रहा था । उसके बाद एक

बिलकुल सूखे रोट का टुकडा महाराजश्री ने मुझे दिलाया । ग्यारहक दिन ऐसी स्थिति में रहने का भगवान की कृपा से हुआ । बाद में अचानक ऐसा लगा कि अब उठकर चला जा सकता है । मैं तुरन्त ही उठा और दूर-दूर जाकर उस मल से गंदे और मैले हुए कपड़ों से मुक्त हुआ और शरीर अच्छी तरह साफ किया, परन्तु वह कहाँ किस तरह साफ किया यह बिलकुल याद नहीं । उसके बाद लंगोट पहनकर फावड़ा तसला कहीं से ले आकर श्रीउपासनी महाराज के पिंजरे के पास की सारी जगह लगभग बेहोशी की अवस्था में पूरीतरह साफ की । फावड़े से साफ करने के बाद उस जगह को हाथ से, गिले कपड़े से और पानी से साफ कर दिया । मैं बाजार में जाकर चंदन के तेल की एक शीशी ले आया और सभी जगह अच्छी तरह से छाँटा । इस काम से उबरा कि तुरन्त ही उपासनी महाराज से प्रेमभाव के साथ नडियाद वापिस जाने की संमति माँगी, परन्तु वे बोले नहीं । आधे घण्टे बाद उन्होंने मुझे नडियाद जाने की संमति दी और बोले, कि अब तुम्हारी यह स्थिति हमेशा जीवंत रहेगी ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३४१-३५९)

● ● ●

साधना की इन सभी गहरी सूक्ष्म रीतों का मुझे कुछ ज्ञानभान न था । मैं उनमें मेरे गुरुमहाराज का ध्यानभाव रखता । पहली बार जब मेरे गुरुमहाराज के पास जाने का हुआ, तब उन्हें अनेक बार बोलते सुना था, 'मैं सांईबाबा हूँ, ताजुद्दीनबाबा हूँ, मैं उपासनी महाराज हूँ, मैं अक्कलकोट का स्वामी हूँ ।' ऐसे कितने ही नाम वे स्वमुख से बोलते और वापिस कहते, 'वे सभी मैं ही हूँ ।' तब मुझे उसकी समझ नहीं पड़ती थी और वह वदतोव्याघात जैसा लगता । ऐसा कैसे हो सकता है, वह कुछ भी समझ नहीं पड़ती थी । साकोरी में आने के बाद उपासनी महाराज के शरीर में मुझे अपने सद्गुरु के प्रत्यक्ष जीवन्त साक्षात् दर्शन हुए । मेरे दिल में मेरे श्रीसद्गुरु के प्रेम की भक्ति की जो प्रचंड जीवंत भावना थी, वह उनमें प्रत्यक्ष साकार हुई हो, ऐसा हमें लगे । गुरुमहाराज

बोलते कि मैं सांईबाबा हूँ, उपासनीबाबा हूँ, ताजुद्दीनबाबा हूँ, उनके वचनों की योग्य सर्जकता अनुभव हूई । मैं नडियाद वापिस आकर अपने काम में लग गया ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३५९-३६०)

● ● ●

परन्तु साधना के प्रति की भावना में थोड़ी भी मंदता या धीमी गति **इस जीव** से सहन नहीं होती थी । मैं अपने श्रीसद्‌गुरु को बारबार प्रार्थना करता । **प्रार्थना में हमारा दिल प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक मिला हो तो हमें श्रीसद्‌गुरु उत्तर भी देते हैं, वह किस तरह देते हैं, वह खुल्ले दिल से और प्रेम से लिखता हूँ ।** मुझे कुदरत का सौंदर्य और एकांत अत्यन्त पसंद हैं । नडियाद में काम करता उस समय छुट्टी पड़ती, तब विद्यार्थिओं को लेकर शेढी नदी के दक्षिणी घाट पर चला जाता । मेरा समय वहाँ एकांत में उपासना, प्रार्थना और साधना में प्रभुकृपा से बितता । रात्रि की रात्रियाँ साधना में बितानी होती । बोडाल आश्रम में कोई-कोई बार खिरनी के पेड़ के नीचे बैठे कितनों ने देखा है । १९३२ के संग्राम के समय में नवसारी आश्रम में मुझे आना होता, तब किसी एकांत जगह जाने का नहीं हुआ था । इससे विद्यार्थिओं की संमति लेकर वर्तमान में जहाँ सूपा गुरुकुल है, वहाँ से थोड़ी दूर छोटा जंगल है, वहाँ हमने जाने का सोचा । सभी सरसामान हाथगाड़ी में भर के चलते विद्यार्थिओं के साथ आनंद करते हम सोचे हुए ठिकाने पहुँचे और नदी की रेत में पड़ाव डाला था । विद्यार्थी आगे-पीछे से लकड़ी बीन लाये । हमारा रात को जहाँ पड़ाव था, वहाँ आगे हमने धूनी जलायी थी । छोटे विद्यार्थी रात के साढ़े दस तक और फिर बड़े विद्यार्थी छावनी के आगे-पीछे पहरा देते थे ।

मैं धूनी के पास कई बार प्रार्थना में, तो कई बार ध्यान में, तो कई बार फिर दूसरे प्रकार की साधना में रहा करता । आंतरिक प्रार्थना का भाव उस समय दिल में दिल से एकसमान प्रकटा रहा करता था । मध्य रात्रि बीतने के बाद थोड़ी देर में मुझे धूनी के पास श्रीसद्‌गुरु के दर्शन

हुए । दिल भक्तिभाव से प्रेरित हो अपनेआप सहजता से उन्हें नमन किया । इस समय नामस्मरण लगातार अखंड चला करता, परन्तु उसमें बार-बार धीमी गति हो जाती और वह बहुत सालता था । इस साधना की स्थिति में भी मन और बुद्धि नहीं पिघले थे, उसका प्रत्यक्ष भान प्रभुकृपा से तब हुआ था ।

प्रभुकृपा के उस अनुभव को मन और बुद्धि न मानते । वे कहते, 'वे पंचत्व को पाने के बाद कहाँ से हो ? यह तेरा उनके प्रति प्रेमभक्तिभरा अंतर का भाव है, यह इसतरह साकार हुआ है ।' इस तरह मन और बुद्धि ने समाधान पाया, परन्तु उस क्षण श्रीसद्गुरु बोले, 'हे मूर्ख ! मैं प्रत्यक्षरूप से, वास्तविक रूप से, यहाँ स्थूल रूप से उपस्थित हुआ हूँ और तुझे चेताने के लिए । तुम्हारा जो महत्त्व का कर्म है, जिसे तू जीवनविकास की साधना मानता है, उसे पक्की करने तुम्हें प्रभुकृपा से यह परिस्थिति मिली है । जो जीव प्रेमभक्तिपूर्वक प्रभु का दिल में दिल से भक्त बन जाता है, उसका योगक्षेम वह कृपा करके अपने हाथ में ले लेते होते हैं । वह योगक्षेम कोई एक प्रकार का नहीं होता । योगक्षेम के अनेक अर्थ हो सकते हैं । जीवन का एक-एक पहलू साधना का भाव बढ़ाने के लिए है और जिसका यह जीवंत भाव लगातार टिका रहता है, उसे श्रीभगवान कृपा करके अपना बना लेकर उसका सकल प्रकार का तंत्र वे चलाते होते हैं । तू निश्चिंत हो जा । तुम्हारा सभी भगवान कृपा करके चलानेवाले हैं, उसका तू पूरीतरह विश्वास रख ।' फिर दुबारा उनश्री ने कहा, 'मेरे अदृश्य होने के बाद तेरे मनबुद्धि कोई संशय पैदा करे तो मैं तुम्हें कह देता हूँ कि यहाँ एक सचमुच मृतदेह पड़ा है, वैसे मैं प्रत्यक्ष हुआ हूँ ।'

ऐसा पतितपावन दर्शन हुआ करता था । उस समय मैंने अपने आपको पूरी तरह जाँच लिया कि मैं संपूर्ण जागृत हूँ, सभान हूँ और मुझे जो दर्शन होता है, वह बिलकुल वास्तविक है । यह प्रसंग थोड़ी मिनट में पूरा हो गया, परन्तु **यह जीव** पर उसकी असर हुई है कि कितने ही जन्मों के पुरुषार्थ द्वारा जो फल नहीं पाया जा सकता, वह इस पतितपावन

दर्शन से प्रकटा है । उस समय मनबुद्धि इस प्रसंग को प्रेमभक्तिपूर्वक कबूल न करे । वे कहे कि, 'ऐसा हो ही नहीं सकता । मैं मनबुद्धि को टोकता कि, भला मैंने अपनी सगी आँखों से देखा है । कान से अपनेआप उनश्री के शब्द सुने हैं । उन्होंने जो-जो कहा, उसकी गूँज दिल में प्रकटी है । उन्होंने स्वयं ही कहा है कि जैसे यहाँ मृतदेह पड़ा है वैसे मैं स्थूल रूप में तेरे पास उपस्थित हुआ हूँ । तो मनबुद्धि कहे कि यहाँ मृतदेह कहाँ पड़ा है ? मैंने मनबुद्धि को फिर कहा, 'वेश्री अकेले मात्र बोले ही नहीं, परन्तु उनके दाये पैर के अंगूठे से गोल वृत्त करके बोले हैं । इस रेत में कितने सारे घण्टे से विद्यार्थी यहाँ वहाँ खेला ही करते हैं ! इसलिए ताजा हुआ वृत्त हो तो ही वह स्पष्ट रूप से दिखेगा, बाकी तो मिट जाय !' (उन्होंने ऐसी जगह वृत्त किया था कि जहाँ सतत विद्यार्थी भाई अलग-अलग प्रकार के खेल खेला ही करते थे ।)

ऐसी सारी उलझन मनबुद्धि में चला करती थी, उस समय पहरा देते दो बड़े विद्यार्थी को मैंने बुलाया और उन्हें पूछा कि, भाई ! देखो न, तुम्हें इस धूनी के आसपास बड़ा वृत्त खिंचा दिखता है ? उन्होंने बैटरी से प्रकाश फेंककर देखा तो वृत्त ताजा किया हो ऐसा लगा । फिर मनबुद्धि कहे कि पर यहाँ मृतदेह कहाँ है ? उस पर से बड़े विद्यार्थिओं को इकट्ठा कर वृत्त जितनी जगह में गड्ढा खोदने को कहा, यद्यपि मुझे प्रभुकृपा से दिल में प्रतीति थी कि मृतदेह होना चाहिए । मनबुद्धि को प्रभुकृपा से साबित हो तो प्रेमभक्तिपूर्वक का समाधान हो सके । दिल की भावना में अंतर के सभी करणों का प्रेमभरा सहकार, साथ मिलना बहुत जरूरी है । विद्यार्थिओं ने लगभग दो हाथ खोदा, तो पानी का आना हुआ पर मृतदेह नहीं मिला । मनबुद्धि कहे कि देखा न, यहाँ शव कहाँ है ? तब भी दिल में प्रतीति थी, इसलिए अधिक गहरे खोदने को कहा । लगभग एकाद फूट पानी के नीचे एक मरे हुए पंडुक का शव निकला । वह शव पानी में होने पर भी बिलकुल कोरा ! इस प्रत्यक्ष प्रमाण से मनबुद्धि को भी समाधान हुआ ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ७-१२)

● ● ●

प्रभुकृपा से श्रीसद्‌गुरु महाराज की आज्ञा का प्रेमभक्तिपूर्वक पालन करता उसके दो प्रसंग कराची में हुए थे । वहाँ रहता तब रोज कहीं न कहीं घूमने जाया करता था । एक बार सुबह में समुद्रकिनारे दूर तक घूमने गया । उस समय श्रीसद्‌गुरु महाराज की आज्ञा समुद्र में चले जाने की मुझे हुई । स्थूल रूप से वेश्री वहाँ हाजिर न थे, परन्तु दिल में उन्होंने प्रकट होकर ऐसी आज्ञा की थी । यह कोई भ्रमणा का प्रसंग नहीं अथवा पागलपन भी नहीं । उन्होंने मुझे समुद्र में चले जाने का आदेश किया कि तुरन्त प्रेमभक्ति की उमंग से उसका पालन किया । मुँह तक समुद्र का पानी आ गया, वहाँ तक एकमात्र श्रीसद्‌गुरु के चरणकमल में प्रार्थना का जीवित जाग्रत भाव रहा था । उसके बाद क्या हुआ उसका कुछ पता नहीं । कराची के क्लिफ्टन के बंगले से कई दूर बहुत आगे समुद्र के पानी से दूर फेंकाकर शरीर पड़ा हुआ था । और शरीर के कपड़े भीगे थे । मैं जागा तब वे पानी से लदबद नहीं हुए थे । इसलिए माना कि कुछ समय शरीर की बेहोशी की अवस्था में वहाँ पड़े रहने का हुआ होगा ! शरीर का भान आते ही उठकर चलने लगा और बंगले में आया । कपड़े भीगे थे यह देखकर सभी ने बहुत पूछताछ की थी ।

दूसरे प्रसंग की हकीकत ऐसी है कि मैं रमझान महीने में रोजा करता था । कराची में वैसा किया था । ईद के दिन ईदगाह के मैदान में हजारों मुसलमान भाई एकसाथ नमाज पढ़ते हैं । वहाँ जाने का मुझे बहुत-बहुत आतुरता से दिल हुआ । सभी ने कहा कि, ऐसी तुम्हारी धोती, कुरता और टोपी के वेश से मुसलमानभाई शायद तुम्हें कुछ कर बैठें तो ? सभी ने उस विषय का भय भी बहुत बताया और मुझे रोकने को किया, परन्तु मुझे जाना था, इसलिए मोटर लेकर उस स्थान पर पहुँच गया । नमाज की जगह में हजारों की संख्या में मुसलमानभाई इकट्ठे हुए थे । वे नमाज पढ़ते जिस तरह झुकते और खड़े होते और घुटनों से झुकते, वैसा मैं भी करता । मैं मेरे दिल में दिल से प्रार्थना करता । वह सब पूरा हुआ और सभी अलग होने लगे । वहाँ मुझे श्रीसद्‌गुरु के अचानक दर्शन हुए । मैं गद्‌गदभाव से पैरों पड़ा । उन्होंने मेरी पीठ थपथपाई और

सिर पर हाथ रख आदेश किया कि यहाँ से नग्न होकर अपने घर चले जाओ !

मुझे बिलकुल सच दिल में लग गया कि अब यह सचमुच का क्षण आ गया । यह पल चूके तो आखरी समय चूके । यह पल ही प्रेमभक्ति से आज्ञा पालने की सच्ची पल थी । देह का ममत्व, देह की उलझन और देह पर का संकोच—उन सभी से मुक्त होने का यह एक अमूल्य प्रसंग भगवान ने कृपा करके दिया है । उसी जगह पर यदि मेरे कपड़े निकालकर मैं ड्राईवर भीमजीभाई को सौंप दूँ, तो वे मुझे ऐसा न करने दें । मुझे मोटर में उठाकर रख कर बंगले में ले जाय । हमारे बंगले में कभी-कभी मलबार के वतनी श्री कल्याणपुर आते और उनको ऐसे मार्ग के प्रति कुछ अभिरुचि भी सही । वे भाई मेरे इसप्रकार के आज्ञापालन को शायद समझ सकें ऐसा जानकर उनके घर जाने-बैठने का बहाना निकालकर मोटर को कल्याणपुर के वहाँ ले जाने की सूचना दी । फिर भीमजीभाई को कहा कि बापु और सभी को कहना कि मैं कल्याणपुर के यहाँ हूँ और आराम से आऊँगा । मेरी कोई फिकर न करें और सभी खाना खा लें ।

मैं सीढ़ी चढ़कर श्री कल्याणपुर के वहाँ गया । उनको मैंने बतलाया कि आज परम सद्‌भाग्य और सौभाग्य का सूरज उगा है । मुझे महेबूब का हुक्म मिला है, और उसका मुझे प्रेमभक्ति से पालन करना है । वह भी घबरा गये - नहीं, नहीं, यहाँ नहीं, यहाँ नहीं ! मैंने उन्हें शांत कर सूचित किया की तुम घबराओ नहीं । तुम नीचे रास्ते पर आओ । तुम्हारे घर के कुछ आगे जाकर मैं अपने कपड़े तुम्हें उतारकर देता हूँ । वे सभी कपड़े लेकर साइकिल पर क्लिफ्टन के बंगले पर जाना । बापु (परसदभाई) को तथा सभी को मेरी यह हकीकत बतलाना । कोई थोड़ा भी घबराना नहीं । मैं आराम से सभी जगह घूमता-घूमता घर अवश्य आ जाऊँगा । मात्र कब घर पहुँच सकूँगा यह निश्चितरूप से नहीं कह सकता ।

फिर मेरे सभी कपड़े शरीर पर से उतारकर भाई कल्याणपुर को मैंने सौंप दिये । जैसे ही कपड़े उतरे कि तुरन्त शरीर के रोमरोम में एक

ऐसे प्रकार का भाव और मस्ती प्रकट हुए और उसका आवेश और जोर इतना सारा प्रचंड था कि जमीन पर पैर भी टिक नहीं सकते थे । मानो पृथ्वी से ऊपर उड़ता होऊँ ऐसा मुझे लगता । कुछ क्षणों में वैसा भान भी विलीन हो गया । शरीर चला करता था, परन्तु उस चलने के भान से अधिक, कोई अलग ही प्रकार का भान अंतर में अंतर से व्याप्त होता था । ऐसी स्थिति में कराची के बड़े-बड़े रास्तों पर से होकर कहाँ-कहाँ से चलना हुआ होगा, उसका कुछ भी पता नहीं है । मात्र एक स्थान पर एक गोरे सार्जन्ट ने मुझे रोकने का प्रयत्न किया था, यह ख्याल धुंधला-सा है । तब ऐसी प्रचंड आवाज की थी कि गोरा सर्जन्ट ने 'सांईबाबा, ईद मुबारक !' ऐसा बोलकर सलाम भरी थी, उतना ही पार्थिव भान मुझे हुआ और फिर विलीन हो गया ।

मैं गवर्नर के बंगले के पास आया, तब श्रीसद्गुरु स्वयं वहाँ खड़े थे । उन्होंने मुझे छाती से चिपकाकर बहुत प्यार किया । मेरी पीठ खूब थपथपायी । यह सभी मुझे ठीक याद रह गया है । उन्होंने मुझे रोजा खोलने के लिए पाँच रुपये की रकम दी । इसके पश्चात् दुबारा सारा भान चला गया और चलना प्रारंभ हुआ उसका कोई भान नहीं हैं । मात्र समुद्र की ओर से क्लिफ्टन के बंगले से दो सौ एक फूट दूर होऊँगा, तब शरीर का भान आया और वहाँ से खूब जोर से आवाज देकर मेरे पहनने के कपड़े मँगवाये थे ।

मेरे जीवन में श्रीसद्गुरु महाराज की आज्ञा का प्रेमभक्तिपूर्वक पालन करने के जो-जो प्रसंग हैं, वे सभी आश्चर्य कर सकें, इस तरह के हैं । और सामान्य मनुष्य की बुद्धि उसे सच मान न सकें ऐसे हैं ।

इस प्रकार के आज्ञापालन से वे मुझ पर अत्यन्त खुश हुए थे और संतोष हुआ था, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण उनश्री ने मुझे बहुत बड़े टोकरे दिये वह है । एक बड़े करंड में अलग-अलग फल और सूखे मेवे थे । सामान्य तौर में रविवार को हम सभी कहीं बाहर जाते नहीं, परन्तु एक रविवार को मुझे कराची शहर में आयी मार्केट कि जहाँ से मैं रोज सब्जी खरीदता, वहाँ जाने का दिल हुआ । छोटी बहन मेरा मजाक करती

हुई कहे कि तुम्हें तुम्हारे सांईबाबा बुलाते होंगे ! ऐसा कहकर मुझे उस दिन उसने शहर में नहीं जाने दिया । उस दिन श्रीसद्गुरु की उपस्थिति का भान पूरे दिन रहा था । दूसरे दिन सुबह सिंधिया स्टीम नेवीगेशन की ऑफिस में सभी को रखकर मोटर लेकर मैं सब्जीमंडी गया । पैसों का पर्स ऑफिस में ही रह गया था । रोज ही एक ही दुकान से सब्जी लेता था, इसलिए सब्जीवाले भाई ने सभी देखकर सब्जी मुझे दी । जहाँ मैं दरवाजे से बाहर निकलता हूँ, वही श्रीगुरुमहाराज स्वयं खड़े थे । उनके दर्शन होने के साथ ही हृदय में इतना सारा प्रेम का फुहारा फूटा कि मुझ से उनको सख्त रूप से लिपटकर चिपक गया । उनश्री ने भी मुझे बहुत प्रेम से चूम लिया था । फिर मुझे कहा, 'कल तुम्हारी कितनी प्रतीक्षा की । दो बड़े टोकरे तुम्हारे लिए प्रसाद रूप लाया था । वह आखिर में तेरे नाम पर मैंने खैरात कर दिया । अब यह दो बड़े टोकरे मैं तेरे लिए खुश होकर प्रसाद रूप लाया हूँ, वह तू ले जा ।'

मोटर में आये ऐसे न थे इसलिए मजदूर कर के ले गया था । यह प्रसंग जिस दिन हुआ तब बापू ने मुझे कहा कि तुम अपने गुरुमहाराज को हमारे घर बुला लाओ । चाय पीकर उनको विदाई देंगे, परन्तु वे अभी कहाँ होंगे और कहाँ रहते होंगे उसका मुझे कुछ पता न था । इस विषय में पूछने का कभी मुझे दिल में न हुआ । बापू ने मुझे बतलाया कि तुम ध्यान में संकल्प करो, इससे वेश्री कहाँ हैं, वह तुम्हें स्वयं पता लग जायेगा । फिर उनको तुम ले आना ।

प्रभुकृपा से हुई सूचना का स्वीकार करने का अभ्यास बहुत लम्बे समय से चला आ रहा था । हम तो लगे ध्यान लगाने और तदाकारता होते शरीर की मूर्च्छा होने के समीप की क्षण में उनश्री के स्थान के भाव विषयक संकल्प हृदय आधार में **उस**की कृपा से रखने का हो सका था । उनश्री की कृपा से उनके दर्शन कराची शहर से बहुत दूर समुद्र तट पर वे चला करते थे, वैसी उनकी गतिमान स्थिति में मुझे हुए थे । मैंने उनको तब चाय पीने आने का आर्द्रता नम्रता से कहा । उन्होंने स्वयं वह सुनकर कहा कि, 'यदि तुम्हें मुझे चाय ही पिलानी है न ? तो, ले, यह

मैं चाय पीता हूँ।' ऐसा कहकर स्वयं चाय पीने लगे थे, ऐसा भी मैंने ध्यान में ही प्रत्यक्ष देखा था। ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २२२-२३१)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

८. साक्षात्कार

मुझे साधनाकाल में या उसके पश्चात् संन्यास लेने का विचार कभी उठा नहीं। प्रारंभ से ही जीवन का स्वीकार यह मेरा ध्येय था। साधना की अगली कक्षा में जब अजपाजप होता, तब कान को आंतरिक रूप से स्पष्टरूप से सुनाई देता। अजपाजप सर्पदंश के बाद यानी कि लगभग १९२८ के पश्चात् प्रारंभ हुआ। मन की नीरवता १९३० के आसपास में प्राप्त हुई। उस समय निद्रा न के समान आती। पूरी रात के रात जाग्रत दशा में रहने का होता। वर्षों के वर्ष वैसे वीत गये हैं। दिन के बारह-बारह घण्टे गुजरात हरिजन सेवक संघ की ऑफिस का काम करता था। भावना के प्राबल्य को लेकर वैसा अपनेआप होता रहता है। इससे शरीर को या उसके दूसरे आंतरिक भागों को कोई नुकसान नहीं होता। भूख, प्यास, शौच, इच्छा आदि पर संपूर्ण काबू आ जाने के बाद मुक्त दशा का आरंभ होता है। भावना के जोश को लेकर यह सभी वास्तविक हो सकते है। मन, प्राण और शरीर की सभी माँग तब शांत हो जाती है और उन सभी पर सहज रूप से काबू आता है।

मुझे नीरवता का साक्षात्कार १९३० में हुआ। द्वैत का साक्षात्कार १९३४ में हुआ। फिर पाँच वर्ष के बाद १९३९ में अद्वैत का साक्षात्कार हुआ। अद्वैत के साक्षात्कार की क्षण से मुक्त की दशा व्याप्त है।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३८५-३८७)

● ● ●

सगुण ब्रह्म के साक्षात्कार में मुझे कृष्ण के दो-तीन बार दर्शन हुए थे। वे कृष्ण मुरलीधारी या पार्थिव शरीर के तत्त्वों के नहीं थे। यद्यपि

परम सौंदर्य से छलाछल अपार तेज के पुंज से भरे सदेही कृष्ण के वे दर्शन थे । बहुत सौंदर्यमय था । सौंदर्य ही सौंदर्य । वे अवर्णनीय दर्शन थे । वह स्वरूप ऐसा मनोहारी और हृदयाकर्षक था कि जिसकी तुलना में दूसरी कल्पना आनी असंभव है । वह मुलायम, आरपार दर्शक, स्फटिक जैसे खुले, नीलवर्णरंगी, जीवंत दर्शन था । दर्शन स्थिर नहीं था, खेलता, हिलता चलता, पल में पास आता और पल में कुछ दूर जाता लगता, तो फिर पल में शरीर के अंदर भी घुस जाता अनुभव होता और वह आधार के अलग-अलग मनादिकरणों को स्पर्श करता और वहाँ कोई सूक्ष्म प्रक्रिया करता हो ऐसा लगा करता था । कहीं-कहीं वह अंदर प्रवेशकर मरम्मत करता भी अनुभव होता । भृकुटि और ब्रह्मरंध्र के भाग में स्वयं को प्रस्थापित करता और हृदय में बिराजा हुआ भी अनुभव होता । समग्र आधार तप्तवर्णी और पूर्ण प्रकाश से आलोकित हुआ लगता था । स्वयं अपने को भी अनुभव कर सके ऐसी भूमिका भी अनुभव होती थी, तो कुछ पल में उसका विस्तार भी अनुभव होता था । श्रीकृष्ण का अलौकिक दर्शन इतना अद्‌भुत, रोमांचक, मुग्ध, स्निग्ध, कोमल था कि न पूछो बात ! समग्र शरीर वजन बिना का हो गया हो ऐसा लगता था और हवा में लटक रहा हो ऐसा लगता । उसकी असर चिरस्थायी समग्र आधार में और उन करणों में रही हुई अनुभव हुआ करती है । फिर उसकी असर चिरस्थायी **उस**की कृपा से प्राप्त है ।

इस अनुभव बाद में सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम और दिव्य प्रदेशों के विघ्न आये न थे ऐसा कुछ नहीं है । पर दिव्य कृपा की मदद से उसका निवारण हो सका था । उसके ऐसे कृपामय मंगल दर्शन-अनुभव के पश्चात् आधार के केन्द्र में कोई अवर्णनीय पलटा आ गया हुआ अनुभव होता था और फिर वह हमेशा ज्वलंत प्रकटा हुआ रहा करा था ।

ऐसे परम दर्शन की प्राप्ति के पश्चात् उसके मुग्ध और आह्लादकारक परम चैतन्य सजीव और चेतनात्मक रूप से जीवन में आये हैं कि जिसका सातत्य कभी फिर टूट नहीं सकता । ऐसे आकर्षण का भाव उत्तरोत्तर

इतना अधिक गाढ़ हुआ करता है कि हम उससे भाव की सहज अवस्था में आ जाते होते हैं । ऐसा भाव जो पहले दर्शन की सर्जन अवस्था में जो एक में एकाग्र और केन्द्रित था, वह भाव उसकी एकाग्र और केन्द्रितता की संपूर्ण चोटी पर पहुँचता है, उसके बाद उसी भाव को विस्तार के पंख आते हैं । वैसा भाव बाद में तो कोई सुंदर रमणीय दृश्य, कुदरत का नैसर्गिक सौंदर्य, किसी नदी का खलखल बहता दृश्य, नवपल्लवित होता वृक्ष, सुंदर आरोग्यपूर्ण बालक का दृश्य, या ऐसा स्थूल रूप का दृश्य, कोई भावनात्मक विचार का व्यक्तव्य या ऐसा कोई भावात्मक भजन—ऐसे-ऐसे प्रकार के निमित्त होते वैसे भाव वैसे-वैसे दर्शन से उत्कटता से जिसे प्रकट होता है, ऐसे जीवात्मा को अपनेआप भावसमाधि प्रकट होती जाती है और उससे वह धन्य होता जाता है । उसकी असर भी उसे लंबे समय तक दिन के कर्म व्यवहार में और प्रतिदिन के व्यवहार में भी जीवंत चेतनात्मकरूप रहा करती है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३७७-३७९)

● ● ●

कानपुर से ता. १३-३-'३९ के दिन काशी आया था । फिर, कानपुर जाते प्रयाग के स्टेशन पर पूज्य गाँधीजी के पैरों लगा तब से दर्द प्रारंभ हुआ । ता. २९-३-'३९ को उसकी तीव्रतम मात्रा में था । सहन नहीं हो पा रहा था । यद्यपि मन अस्वस्थ न हुआ था । उदासी नहीं आयी थी, परन्तु दर्द इतना सख़्त था कि सभी के साथ आनंदपूर्वक जो विनोद करता हूँ और होहो करता हूँ, वह सभी न था । तब भी प्रत्यक्ष आ मिले कर्म प्रभुकृपा से पूरे होते जाते थे । हमें रहने के लिए वहाँ सुविधा करनी थी, बहुतों को मिलना था, उसमें दूसरा सब भी व्यवस्थित करना था । यह सभी करता होऊँ वह मानो सतह पर की चेतना से होता हो ऐसा लगता था । रात को क्या होना है, ऐसे विचार भी न आते थे । रात को दर्द बहुत बढ़ता है ऐसे अनुभव बहुत हुए । यह दर्द दिनों दिन चीख पड़ा दे ऐसा था । जीव गहरे उतरता जाता लगता, इसलिए बाहर

की चेतना काम चले उतनी बहुत कम हो गयी थी, पर अंदर की चेतना एकदम तीव्रतम जागृत हुई थी । कराची में मिले हुए... बाबा की सूचना अनुसार ता. २९-३-'३९ को कुछ होनेवाला है, इसका पता बहन* को था । इससे वह कुछ अनमनी-सी फिरती थी, परन्तु मैं रात को आराम से सोया ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २)

● ● ●

रात के एक बजने से दसेक मिनट में हमारे बंगले के आगे से 'हरिः ॐ' की दो आवाजें एकाएक सुनाई दीं । मुझे ही संबोधनकर यह आवाज दी गयी थी । यह तुरन्त समझ में आया । मैंने भी सामने वैसी 'हरिः ॐ' की आवाज दी । आवाज देनेवाले भाई सामने से आये । वे संपूर्ण नग्न थे । उनके सिर पर बहुत सारे उलझे हुए बाल थे । नीचे उतरा और जाना कि वे मुझे ऐसी मध्यरात्रि को कहीं ले जाना चाहते हैं ।....बहन को चिट्ठी लिखकर ऊपर रख आया कि जिससे मेरी चिंता न हो । मेरी अनुपस्थिति में वे जाग गयी थी और मुझे न देखकर सहज फिकर चिंता भी हुई, परन्तु ऐसा सब कराची में हुआ करता, इससे उसे विश्वास बैठा था कि सब कुछ ठीक हो जाएगा । फिर, ता. २९-३-'३९ के दिन कुछ होनेवाला है, उसे उसका पता था इसलिए निश्चिंत हुई थी ।

उस भाई ने मुझे बताया कि मुझे मणिकर्णिका घाट की उस ओर गंगाजी की उस पार जहाँ उनके गुरुमहाराज रहते थे, वहाँ जाना था । उन्होंने उसे भेजा था । उन गुरु के पास मुझे रहना था । मैंने कहा, 'मैं रात को वहाँ जाऊँ और सुबह यहाँ वापिस आऊँ । मेरा कर्तव्य इन बहनों के पास रहना है, इसलिए उसे छोड़कर दूसरा कुछ करने जाना वह परधर्म है– फिर इससे भले ही मुझे कितना भी लाभ प्राप्त होता हो ! *'परधर्मो भयावहः'* इसलिए यदि आप मुझे रात्रि में वहाँ आने का कहते हों तो

---

* सद्‌गत श्री नरसिंहराव दिवेटिया की दोहित्री

आऊँ ।' इस विषय में उन्होंने मना किया । फिर, ...बाबा ने कराची में बताया ध्यान करने को उन्होंने साफ मना कर दिया, 'करोगे तो भयंकर आफत होगी । फिर, वह ध्यान प्रारंभ करो, तब तुम्हारी अत्यन्त हृदयभरी सँभाल हो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए । इस विषय में तेरी कोई प्रेमभक्तिवाली माँ या बहन हो तो उनकी कोमल देखरेख के नीचे तुझे रहना है अथवा हमारे गुरुजी के पास चल । वहाँ तुम्हारी ऐसी सँभाल हम रखेंगे ।' मैंने कहा अभी इन बहनों की सँभाल मुझे लेनी है, इसलिए एक-दो महीने बाद मैं आऊँ । उसने साफ मना कर दिया, 'आना हो तो अभी ही चलो ।' मैंने बिलकुल मना कर दिया । कराची... बाबा ने अत्यन्त गुप्तरूप से दी विद्या के विषय में और उसका प्रयोग करनेवाला हूँ इस विषय में, यह भाई यहाँ काशी में किस तरह जान गये ऐसा, अथवा सचमुच मुझे भयंकर आफत पड़ेगी, ऐसे सभी विचार मुझे नहीं हुए । इस प्रयोग के विषय में जैसा होता हो वैसा होने देना सोचकर ऊपर की मंज़िल पर आ गया और कराची में मिले हुए ... बाबा ने बतलाया हुआ प्रयोग करने बैठा ।

अभी प्रारंभ हुआ ही था वहीं पर समग्र चेतन एकाग्र होता अनुभव हुआ । शरीर, मन, दूसरे सभी करण भिन्न हैं, ऐसा स्पष्ट रूप से अनुभव होता गया । कुछ देर हुई वहाँ सिर के बीच के भाग में सख़्त गरमी के झरनें बहते हों, ऐसा भान जागा और पूरे शरीर में ऐसी असह्य जलन हुई लगभग बेहोश हो गया था । गिर गया था । जीभ लगभग जल गये जैसी हो गयी थी । पेट से नीचे तक का भाग पर का वह भाग पूरी तरह जल गया वैसा लगा । पूरा शरीर आग जैसा गरम हो गया था... बहन को कुछ पता न था । प्रभुकृपा से अचानक उसे शौच जाने का हुआ । मुझे बेहोश पड़ा देखा कुछ तीमारदारी भी की । हमारे साथ कराची के एक संगीत शिक्षक थे । वह बिचारे इस विषय में कुछ समझ नहीं सकते थे । .....बहन ने बहुत ध्यान से सँभाल ली । कुछ देर बाद कुछ सूझ आयी । इसकी असर दो दिन तक रही ।

इस सभी का कोई अर्थ समझ में न आया । कोई टेढ़ेमेढ़े विचार भी मन में उद्‌भव नहीं हुए । एक ही प्रकार की भावना में अखंडितता प्रकट हुई थी । गंगाजी के प्रवाह जैसा वह भाव लगातार टिक सके । मात्र एक ही लक्ष और एक ही लक्ष्य **उस**की कृपा से रहा करे । समुद्र की लहरों की तरह भावना और आनंद आनंद के भाव सहित रोम-रोम में जो एक अकथ्य भाव प्रकट हुआ करता है, वह शब्दों में कैसे लिख सकते हैं ?

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३-५)

● ● ●

सन् १९३९ की २९ मार्च रामनवमी की रात में काशी में अद्वैत के साक्षात्कार का अनुभव हुआ । मानो अनेक कोटि सूर्यों का प्रकाश आसपास बिछकर शरीर में प्रवेश किया, तब महासमाधि में उतर जाने का हुआ । समाधि से जागते शरीर का गुप्त भाग और उसके आसपास का भाग जल गया था, जिसकी दवा बनारस युनिवर्सिटी के आयुर्वेदिक कोलेज के डीन डॉ. बालकृष्ण अमरजी पाठक की करवाई । उस अनुभव के समय से मुक्तदशा का प्रारंभ हो चुका । 'I am Omnipresent **मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ ।**' ऐसी चेतनात्मक भावना का सर्व रूप से विकास प्रवर्तमान था और है ।

उस समय जो अनुभव हुआ वह एक सगुण का था । उसमें से तत्काल हनुमान छलांग लगाकर निर्गुण के अनुभव का स्वयं के आधार में संपूर्ण प्रतिष्ठि हो जाने का होने से उसमें संपूर्ण केन्द्रितता जीवंतरूप से प्रकट होने के पश्चात् उसके भाव का विस्तार हुआ करने का अनुभव प्रकट हुआ । वह भावरूप में था वैसा भी नहीं कह सकते । वह एक-रूप प्रवर्तता अनुभव हो वैसे वह सभी में होने पर भी भिन्न भी हो ऐसा सतत अनुभव होता जाता । तादात्म्य का चेतन का गुणधर्म उसके बाद जीवन में प्रकट होने लगा ऐसा अवश्य कह सकते हैं ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३८०-३८१)

● ● ●

*१९४२ में ट्रिची से सीधे मुंबई इस काम के लिए आये और पूज्य ठक्करबापा उस समय मुंबई में थे, इसलिए उनको मिलना रखा। चंदा इकट्ठा करने के लिए एक सिफारिशपत्र लिख देने की विनती की। उन्होंने कहा, 'तुम वर्तमान में संघ का मंत्री, सभासद, शिक्षक नहीं हो, फिर 'तुम संघ में से अलग हो गये हो, इसलिए संवैधानिक रूप से तुम्हें सिफारिशपत्र कैसे लिखकर दूँ ? सचमुच में तो तुम्हें ऐसा चंदा इकट्ठा नहीं करने देना चाहिए। पर तुम पर मुझे विश्वास है, इसलिए भले वह काम तुम करो और बारबार मुझे लिखते रहना !' भील सेवा मंडल के भाईश्री डाह्याभाई नायक और श्री अंबालाल व्यास तब पूज्य ठक्करबापा के साथ थे। भील सेवा मंडल के लिए फंड तीन दिन में मुंबई में से पूज्य बापा ने कर लिया था। भाई नायक मुझे कहते, 'मुंबई में पहचान बिना तुम्हारे अकेले से यह फंड का काम होना संभव नहीं। इस फंड का काम हम मानते हैं, उतना सरल नहीं। बिना पहचान के रकम प्राप्त करना सरल बात नहीं।'

'मैंने कहाँ यह काम अपने लिए लिया है ? १९ वर्ष तक हरिजन सेवक संघ में काम किया। उसके नमक से शरीर निभा। उस संघ ने भगवद्कर्म कर सकने की सुविधा और अनुकूलता कर दी। उस संस्था को उसके संकट के समय में मदद करने में धर्म रहा है, ऐसी भावना से प्रभुभक्ति का उत्कट से उत्कट भाव दृढ़कर श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ यह काम सिर पर लिया है।'

---

* ई.स. १९३९ के बाद श्रीमोटा ने हरिजन सेवक संघ और अन्य कार्य में से मुक्ति ले ली। श्रीमोटा, स्नेहीओं के यहाँ रहते और स्वजनों को जीवन में साधना विषयक प्रत्यक्ष मार्गदर्शन देते। ई.स. १९४२ में हुई घटना उनके जीवन की एक महत्त्व की घटना है। ट्रिची से दस मील दूर श्री नंदलाल शाह साधना निमित्त एकांत में रहते थे। '४२ के जुलाई की अंतिम तारीख पर श्रीमोटा श्री नंदुभाई के पास गये थे, किन्तु नौ अगस्त '४२ में देशभर के नेताओं को पकड़ लिया गया। उस समय में श्रीमोटा को अंतर में से आज्ञा हुई कि हरिजन सेवक संघ के बालकों और कार्यकर पैसों की कमी के कारण कठिनाई में आ गये हैं और उन लोगों के लिए धन इकट्ठा करना यह उनका कर्तव्य है। श्रीमोटा ने इस अंतर की आवाज को अपने गुरुमहाराज की आज्ञा मानी।

पूज्य ठक्करबापा ने सिफारिशपत्र लिखकर नहीं दिया, तब भी मैं मुंबई में घूमा करता था । हमारे संघ के एक दाता श्री शाह के वहाँ मैं गया और १९४२ की साल की सारी हकीकत बतलायी, 'मुख्य कार्यकर्ता सभी जेल में हैं और संघ का कोई रक्षक नहीं रहा । आश्रम में बालकों को निभाने के लिए पैसों की बहुत आवश्यकता है ।' उन्होंने कहा, 'वस्तुस्थिति यथार्थ है । मैं मदद करने को तैयार हूँ, परन्तु तुम्हें मैं पहचानता नहीं । तुम बदमाश न हो उसका क्या भरोसा ?' इससे, मुझे बहुत हँसना आया और उन्होंने मुझे हँसने का कारण पूछा । मैंने कहा, 'आपने मुझे ऐसे शब्दों से बिरदाया, इससे अब मेरा काम ठीक से होगा इसका मुझे भरोसा हुआ ।'

फिर तुरन्त ही पूना की ट्रेन पकड़कर पूज्य ठक्करबापा के पास गया । उन्होंने मुझे देखकर कहा, 'क्यों अबे ! कितनी रकम इकट्ठी की ?' मैंने इकट्ठी हुई रकम और श्री शाह की हकीकत कही । पूज्य बापा ने आश्चर्य से कहा, 'हें ! उन्होंने तुम्हें बदमाश कहा !' उन्होंने अपना पैड निकालकर उस पर मुझे सुंदर सिफारिशपत्र लिख दिया । उसे लेकर दूसरे दिन श्री शाह को मिला । मैंने पूना जाकर पूज्य ठक्करबापा के पास से किस तरह सिफारिसपत्र प्राप्त किया उसकी हकीकत बतलायी । विशेष में कहा कि समाज जब ऐसा पक्का भरोसा कर दान देता रहे, तब कोई लुच्चा इस विषय में लाभ नहीं उठा सकेगा । मैंने उन्हें अभिनंदन और मुबारकबादी दी थी ।

वह समय मुंबई में बहुत कठिन था । कोई सफेद टोपीवाला या खादी पहनेवाला जल्दी से नजर में चढ़ता नहीं था । सभी काम करनेवालों ने वेशपलटा कर लिया था । कोई कोट पैन्ट और टाई पहनते थे ।* ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३६ से ३९)

---

* दूसरे फिर पठान का वेश लेकर फिरते । श्रीमोटा इन सभी को देखते और पहचानते । उन कार्यकर्ताओं को होता कि चूनीभाई हमें पहचानकर आवाज देंगे । इसलिए वे लोग मुँह पर उँगली रख चूप रहने की निशानी करते । खादी के पोषाकवालों की बहुत बार तलाशी ली जाती और मारकुटाई होती । श्रीमोटा

एक दिन श्री जीवणलाल मोतीचंद एल्यूमिनियमवाले के यहाँ चंदे के लिए गया था । उनके यहाँ पूज्य गाँधीजी के निकट के सहवर्ती रूप में जिन्होंने बहुत वर्ष बिताये थे और जो गुजराती भाषा के अच्छे विद्वान लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं, वे भी वहाँ बैठे थे । वे शायद स्वातंत्र्य युद्ध की भूगर्भ प्रवृत्ति में हों, क्योंकि खुल्मखुल्ला यदि बाहर रहे होते तो सरकार ने उन्हें जरूर पकड़ लिया होता । मैंने श्री जीवणलालभाई को सारी परिस्थिति बतलाकर कहा कि, यह कामकाज एक शुद्ध धर्मभावना से प्रेरित होकर प्रभुकृपा से कर रहा हूँ । मुंबई के बस-गाड़ी आदि का खर्च भी स्वयं का है । कोई भी वेतन बिना मात्र प्रभुप्रीत्यर्थ यह काम सिर पर लिया है । इतना कहना पूरा होते उस बैठे विद्वान बुजुर्ग सज्जन ने कहा कि, अभी दूसरी किसी प्रवृत्ति को स्थान नहीं है । संपूर्ण हिन्दुस्तान का लक्ष एकाग्र और केन्द्रित एक प्रवृत्ति में रहना चाहिए । तुम यह क्या ले बैठे हो ? उन्होंने उत्तेजित होकर आधे घण्टे तक प्रवचन किया ।

खादी का पोषाक पहनकर हरिजन सेवक संघ का रिपोर्ट और रसीद बुक थैली में रख फंड इकट्ठा करने घूमते । उनको पुलिस ने पाँच से छः बार पकड़ा था और तलाशी ली थी । पुलिस ऐसा समझती कि यह आदमी कोंग्रेस का फंड इकट्ठा कर रहा है । उस समय में मुंबई जैसे शहर में बहुत हैरानगति होती । एक बार श्रीमोटा पर पुलिस ने आरोप रखा कि, यह आदमी हरिजन सेवक संघ के नाम से कोंग्रेस का फंड इकट्ठा करता है । उनको मुंबई के सिक्कानगर की सामने के मारबावडी पोलिस लोक-अप में रखा गया और दो दिन और एक रात पानी या खाना दिये बिना बहुत मारपीट की । श्रीमोटा ने एक नये आये फौजदार समक्ष हकीकत प्रस्तुत की । पूज्य ठक्करबापा की बात की । फौजदार ने श्रीमोटा को छोड़ देने का आदेश दिया ।

श्रीमोटा ने पूज्य ठक्करबापा का सिफारिशपत्र 'जन्मभूमि' में प्रगट करवाया । उस समय 'जन्मभूमि' में उनके मित्र और प्रसिद्ध कविश्री करसनदास माणेक काम करते थे । श्रीमोटा ने जहाँ तक हरिजन सेवक संघ के लिए फंड इकट्ठा करने का काम जारी रखा, वहाँ तक पूज्य बापा ने दिया प्रमाणपत्र अपने पास रखा । इससे पुलिस की हैरानगति रुकी । उस समय सरकार में भी पूज्य ठक्करबापा के लिए बहुत मान था ।

प्रभुकृपा से शान्त और मुग्धभाव से वह सब सुन लिया । उनका संभाषण पूरा होने के बाद श्री जीवणलालभाई को फिर विनती की कि, इस कठिन समय में आश्रमों के बालकों के लिए और हरिजन की इतर प्रवृत्तिओं को चलाने के लिए धन की बहुत आवश्यकता है । जिस कर्म के लिए स्वयं की पसंदगी है और जिस कर्म के लिए जो खपा है वह कर्म उसके लिए श्रेष्ठ है । उन्होंने मुझे... रकम का चेक दिया । उनका आभार मानकर वहाँ से रवाना हुआ । उन बुजुर्ग स्वजन को उसके बाद मैंने नीचे के अनुसार एक कविता लिखकर सौ. हर्षिदाबहन के द्वारा भिजवायी ।

शक्ति के खिलौने

(शिखरिणी - मंदाक्रांता)

गढ़ता है, जो जो निज जीवन में दुःख को शीर्ष लिये,
गढ़ता है, जो जो अन्य जन के कारण यज्ञ करे,
गढ़ता है, जो जो निज जीवन को प्रेमभाव से अर्पण करे
गढ़ता है, जो जो निज जीवन को भेंट मान ही बर्ते । १

गढ़ता है, जो जो निज जीवन में उच्च आदर्श रखे,
गढ़ता है, जो जो निज जीवन को लक्ष्यवेधी बनाये,
गढ़ता है, जो जो निज जीवन के हेतु के लिए जिये,
गढ़ता है, जो जो सतत निज का भाव उसमें रखे । २

गढ़ाने के लिए परिस्थिति प्राप्त सर्व को विश्व में,
होता उस हेतु का निज हृदय में भान धन्य किसी समय,
तब भी डूबा निज रस में मानवी खो बैठता,
परम्परा में अपनी निज जीवन को क्या वह घिसटता । ३

जन जिसे सेवा दूसरे जन की मानते, उसमें भी
कितने रागद्वेष में पड़े रहे वह कौन जान सके ?
महत्त्वाकांक्षाएँ निज हृदय की शुद्धता से भरीं,
पड़े हुए सेवा में, निज जीवन के तत्त्व का श्रेय पाये । ४

सही सेवार्थी वह निज मन सदा जो हल करता है,
होंगे कैसे-कैसे मन में भरे वह सदा जो निहारे,
निहारने से ऐसा नहीं कुछ मिले खाली यदि वह निहारे,
गढ़ेगा ऐसा जो विरल वीरला युद्ध उस साथ करे । ५

नहीं सेवा स्वयं निज पाट में एकदेशीय कहीं भी,
रहे सेवा में भी विविध रीति के लक्षण, क्षेत्र, दिशा,
सही सेवा यह तो निज जीवन को सर्वतोमुखी रखे,
रुंध न रखे कोई निज जीवन की एक बाजु में वह । ६

करे सेवा स्वयं अन्य जन की वही वह सत्य माने,
होती सेवा कैसी निज जीवन की वे न उसे जाँचते,
चुना जिसे है निज जीवन में सत्य को किसी तरह,
वहाँ वे सत्य से निज जीवन में सर्व अंग जाँचते । ७

करता है सेवा जो निज जीवन में मात्र सेवा के लिए,
नहीं कोई इच्छा अन्य भी कोई एक सेवा बिना वहाँ,
कभी जो वह सेवा भी न करे सर्व अंगी विकास,
रही वहाँ कमी कहीं भी कहीं जान लेना चाहिए ही । ८

(मंदाक्रांता)

स्वयं जो जो कुछ करता वही है मात्र सच,
उस बिना का अन्य कोई जो सत्य की कमीवाला,
स्वयं बिना भ्रमित मति के जो दूसरे चलनेवाले,
सेवाभावी कितने कितने देखें मान्यता ऐसी वाले । ९

जिसने सच निज जीवन का कार्य ही ऊर्ध्वगामी
माना, उसमें निज जीवन का सर्व कुछ समर्पित किया
भले रास आये कोई भी भले क्षेत्र हो वह कोई भी
सेवा ऐसा भी जगत की अपनी तरह करता है । १०

जिससे कितने जगत पर के सर्वसामान्य ऐसे,
जो जो निज जीवन में कुछ सामर्थ्य पाये,
ऐसी शक्ति गूढ़ सकल को जो खेला रही जहाँ,
उस शक्ति के सभी खिलौने हम तो बिचारें । ११

मेरी यह कविता पढ़कर उन्होंने निम्नलिखित प्रत्युत्तर दिया है ।

मुंबई, ता. २०-१२-'४२

स्नेही भाईश्री,

तुम्हारी कविता मुझे मिली । पढ़कर बहुत खुश हुआ । **कर्म वही योग और वही जीवन का सच्चा रसायण है । सेवा सीढ़ी है, कर्म सामग्री है, मनुष्य सतत कर्म और सेवा करके ही गढ़ता है ।** तुम्हारी इस भावना से मैं सम्मत हूँ । तुम्हारे आगे मैंने अपने अंतर के उद्‌गार निकाले, यह इस उद्देश्य से कि प्रत्येक सच्चा मनुष्य अपने अंगीकृत कार्य के पीछे मर मिटता हो, तब दूसरे किसी ओर मुड़ने, देखने या विक्षेप पाने का उसे अवकाश ही न होना चाहिए । फिर भी सभी के अंगीकृत कर्म भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । मनुष्य ने की पसंदगी यथोचित हुई है कि क्यों यह दूसरे न देखे, स्वयं ही देखे ।

'तृणादपि सुनिचेण तरोरिव सहिष्णुता'

तिनके के भी नीचे रहने की नम्रतावाला और तरुवर जितनी सहनशीलतावाला सेवक समाज के भूषणरूप है । तुम्हारे काम में तुम्हें सफलता मिले ऐसा चाहता हूँ ।

लि. सेवक...

ऐसा उनका पत्र मिला इससे बहुत आनंद हुआ । उन्होंने सच्ची वस्तु स्वीकार की और सद्‌भावयुक्त नम्रता रखी यह सद्‌गुण सद्‌बोध रूप है । कर्म का विवेक कितना सूक्ष्म है, वह अनुभव के बिना कोई नहीं जान सकता । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ९२ से ९६)

(२)

पूज्य बड़े भाई (श्री वाड़ीभाई भोगीलाल शाह)ने स्वतंत्ररूप से उमंग से पूज्य मामा (श्री गोपालभाई मेहता) को ट्रिची लिखा था कि

जौहरी बाजार में से संघ के लिए अच्छा फंड करवाकर दे । वे मुंबई आये तब फोन में मैंने कहा कि, तुम्हें कष्ट देने का दिल नहीं होता, क्योंकि बाकी की रकम मिल जायेगी । उस शाम को उनको पीढ़ी में मिला, तब कहने लगे कि यह समय ऐसा है कि पैसे जल्दी मिल जायेंगे । तुम्हें यदि अधिक रकम अभी करनी हो तो तुम्हें मैं दो-चार ठिकाने ले जाऊँ । मैंने कहा, 'यदि तुम्हें संकोच न होता हो तो सोने से अधिक अच्छा क्या ?' जौहरी बाजार में चार-पाँच ठिकाने मुझे ले गये, तब भी कुछ न मिला । ऐसे दिन भी गये हैं, जब खूब भटकना हुआ हो, तब भी कुछ न मिले पर निराशा न हुई । **कोई कैसे भी सुनाये तब भी शांति बनी रहे, अहम् को आघात लगे ऐसा कोई व्यवहार करे तब भी सप्रमाण रहा जाय । ऐसे अनुभव जिसे लेने हो, उसे ऐसे काम साधना रूप करना बहुत जरूरी है । सोची हुई रकम तक धीरज और सहनशीलता की ठीक-ठीक परीक्षा हो जाती है सही । निश्चय की दृढ़ता न आयी हो तो मानव जरूर डिग भी जाय ।** पूना में गोपालदास मेहता मुझे ४-५ ठिकाने ले गये और कुछ न मिला । इससे उन्होंने मुझे कहा कि, तुम्हारी सोची रकम में घटती बाकी की मेरे खुद में से दे दूँगा, परन्तु मैंने वेसा करने से आग्रहपूर्वक मना किया था ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०८, १०९)

(३)

मुंबई में फंड के विषय में एक मंडल के मंत्री के पास गया । उन्होंने मुझे कहा कि एक-दो दिन में मंडल की सभा होनेवाली है, उसमें तुम आओ तो मंडल के सभी सभा-सदस्यों से बात कर सकते हैं और गले उतर जाय तो वहीं फंड की उगाही भी हो जाय । उनकी सभा हुई तब उसमें उपस्थित हुआ । सभा की रूढि अनुसार सारा काम निपटने पर मंत्री ने सभी सभा-सदस्यों को मेरी पहचान करवायी । मेरी वास्तविकता सहानुभूतिपूर्वक सुनने की विनती भी की । सारी यथार्थता ऐसी भावना से कही कि सभी के दिल में प्रभुकृपा से भाव जागा । सभी ने अपनी रकम नोट करवायी । प्रमुख साहब ने पाँच सौ एक रुपये सबसे पहले

भरे और दूसरे सभी ने अपनी शक्ति अनुसार छोटी-बड़ी रकम भरी । दो-तीन दिन बाद प्रमुख साहब की पीढ़ी पर गया और उन्हें प्रणाम करके बैठा । उन्होंने एक सौ एक रुपए का चेक देने को कहा । मैं भौंचक ही रह गया । 'पाँच सौ एक के बदले एक सौ एक ही क्यों ?' ऐसा पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया कि, यदि मैंने पाँच सौ एक न भरे होते तो तुम्हारे फंड में इतनी रकम न हुई होती । वह रकम भरने से तो तुम्हें तो लाभ हुआ है । तुम्हें अच्छी रकम मिले इस उद्देश्य से पाँच सौ एक भरे थे, नहीं कि तुम्हें उतनी रकम देने के उद्देश्य से । यह सुनकर दिग्मूढ़ हो गया । ऐसा अनुभव सर्व प्रथम था ।

मैंने उनको सद्भाव और नम्रता से कहा कि मुझे पाँच सौ एक खपेंगे, वह नहीं दोगे वहाँ तक मैं आपकी पीढ़ी पर आकर बैठा रहूँगा । उसके बाद प्रतिदिन इसतरह पीढ़ी पर जाकर बैठता । मुझ पर आये पत्रों का उत्तर देने में लगातार समय बीताता । एक-दोबार प्रमुख साहब बहुत बोले भी सही । उस विषय में मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया । रोज आकर उनको प्रणाम करता । सभी के जाने के बाद और ताला लगने के बाद ही मैं रास्ता मापता । इस तरह सप्ताह हो गया । मैं प्रतिदिन मेरा सारा समय पत्र लिखने में बीताता था । वे यह देखते थे ।

सातवें दिन उन्होंने मुझे अपने पास बुलाकर पूछा, 'तुम प्रतिदिन इतना सारा क्या लिख-लिख करते हो ?' मैंने बतलाया कि मेरे मित्रों के पत्र आते हैं, उनके उत्तर लिखता हूँ । आज के लिखें पत्र देखने का तुम्हारा दिल हो तो देख सकते हो । सातों दिन उन्होंने मुझे लगातार लिखते देखा होने से उन्हें हुआ कि यह आदमी रोज इतना सारा क्या लिखता होगा । एक प्रकार की कुतूहलता जन्मी होगी इस कारण से प्रेरित हो, उन्होंने मेरे लिखे पत्र देखने लगे और देखते-देखते कुछ रस पड़ने से पढ़ने भी लगे । बहुत सारे पत्र वे देख गये । अंत में वे बोले, 'वाह, तुम तो कोई ज्ञानी लगते हो । तुम अपने मित्रों को साधना के मार्ग का जिस प्रकार का लिखते हो वह सचमुच उत्तम है । ऐसी उत्तम भावना सीधी सादी सरल भाषा में लिखी है, यह बड़ी हकीकत है । तुम सात दिन धीरज

रखकर बैठे और रोज सुबह-शाम मुझे प्रणाम करते थे । मैंने तुम्हें दो कड़वे बोल भी कहे हैं । तुम्हारा यह मीठा सत्याग्रह मुझे जीवन में याद रह जाएगा । तुम्हारे शांत सद्‌भावयुक्त व्यवहार से खुश हुआ हूँ । उसमें तुम्हारे पत्र की ऐसी लिखावट से तुम्हारे प्रति मेरा सद्‌भाव बढ़ा है । तुम्हें सात दिन तपाया उसके लिए मुझे माफ करना । सात दिन तक तुम्हारा काम बंद रहा उसका मुझे अफसोस अवश्य है । तुम्हारी नम्रता और सद्‌भाव ने पाँच सौ एक की रकम देने को मुझे प्रेरित किया है, ऐसा कहकर उन्होंने अंत में पाँच सौ एक रुपये दिये थे ।'

मुझे वह मिलने पर बहुत आनंद हुआ और प्रभु का उपकार प्रार्थना भाव से गद्‌गद कंठ से माना । आँख से आँसू भी पड़े । प्रभु की कृपा का वह प्रसाद जीवन को धन्य करनेवाला था । व्यापारी सद्‌गृहस्थ ने भले मेरे सद्‌भाव नम्रता को वह रकम देने में महत्त्व की गिनायी हो, परन्तु सच्चा रहस्य तो श्रीभगवान की कृपा का था ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२१ से १२३)

(४)

हरिजन सेवक संघ के १९४२ में चंदे की रकम दस हजार* तक होने आयी । उस समय दौरान एक विनोदप्रिय प्रसंग हुआ । एक बहुत बड़े सुविख्यात पीढ़ी के सेठ की ऑफिस में जाने का हुआ । मुलाकात के लिए नाम लिखकर चपरासी को दिया । साढ़े ग्यारह से चार बजे तक राह देखते बैठ रहा पर अंदर जाने किसी ने बुलाया नहीं । धीरज की भी मर्यादा होती है और काम में तो खास । मैंने सोच लिया कि, अंदर प्रवेश करते वे मिलने से मना करेंगे तब भी भले, निकाल देंगे तब भी आनंद, परन्तु अब अंदर घुसना ही घुसना है । मैं ऐसा दृढ़ विचार कर अंदर घुस गया । क्लर्क और चपरासी दोनों पीछे दौड़ते आये, 'साहब, यह आदमी अनुमति बिना घुसा है ।' सेठ साहब ने भौंहे चढ़ायी । मुझे धमकाकर कहने

* पूज्य श्रीमोटा तथा श्री नंदुभाई हरिजन सेवक संघ के लिए फंड इकट्ठा करने कोलंबो गये थे । संघ के प्रति अपना भाव व्यक्त करने ३६ हजार रुपयों का फंड करके आये थे ।

लगे, 'गँवार हो क्या ? अनुमति बिना अंदर नहीं जा सकते इतना भी नहीं जानते, क्या पढ़े हो ?' पढ़े होने की हकीकत जानकर उन्होंने मुझे खुरसी पर बैठने को कहा । फिर मैंने बताया कि साहब ! ये भाई कहते हैं वह हकीकत सही है, परन्तु साढ़े ग्यारह से चार बजे तक आपकी ऑफिस के बाहर तप किया है । मेरी हकीकत कृपा करके यदि सुनो तो दो मिनट में सुना दूँ । वे शांत रहे इसलिए मैं शीघ्रता से भावपूर्वक कहने लगा और अंत में बताया कि मुझे प्रभुकृपा और आपके आशीर्वाद से विवेक का ज्ञान है, परन्तु चार-पाँच घण्टे होने आये, तब भी आपको मिलने का मौका भी न मिले, इससे यह अघटित कदम उठाया है तो मुझे क्षमा करना । यह सुनकर सेठ साहब ने उस क्लर्क और चपरासी को कहा कि अब से मुझे मिलने आनेवाले को आधे घण्टे से अधिक रुकना न पड़े ऐसा करना । इस नियम को ठीक से पालना है इसका ध्यान रखना । मेरा इतना समय खराब हुआ उस बात के लिए उन्होंने क्षमा माँगी । यह उनका सद्भाव और सज्जनता भूले ऐसी नहीं । संघ के लिए अच्छी रकम का चेक भी लिख दिया । इसप्रकार, **कितनी बार समझकर ज्ञानपूर्वक अविवेक का कदम भरना पड़ता है । उसमें साहस, हिंमत और प्रेरणा की भी आवश्यकता सही ।** ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२७-१२८)

(५)

ता. १७-१-'४३ की रात को गुजरात मेल में नडियाद जाने के लिए बैठा । उस डिब्बे के पाखाने में बोम फटा । दूसरे वर्ग के डिब्बे में भी ऐसा हुआ । इसलिए कीम स्टेशन पर मेल खड़ी रही । हमारे डिब्बे के पाखाने से धुएँ के बादल निकल रहे थे । मैं तख्ते पर सो रहा था । वहाँ से मैंने आवाज दी कि साँकल खींचो, साँकल खींचो । किसी ने साँकल खींची । गाड़ी खड़ी रही । पुलिस के आदमी हमारे डिब्बे के आगे आये और किसने साँकल खींची ऐसा जोर से बोले । साँकल प्रत्यक्ष खींचनेवाला कोई दूसरा था, क्योंकि मैं सो रहा था, उस जगह से साँकल खिंची जाय ऐसा न था । मैंने उसे अपने सिर ले लिया । मैंने पुलिस से

कहा कि पाखाने में कुछ फूटने का जोर से बड़ा धड़ाका हुआ है। सभी ने उसे सुना है। उसमें से यह धुएँ के बादल निकल रहे हैं और गंधक की बास आती है। इससे शायद सारा डिब्बा जल उठे और मनुष्यों का जीव जोखिम हो, इससे दूरंदेशी रख मैंने साँकल खींची है !

पुलिस ने मेरे खादी के कपड़े देखकर मुझे नीचे उतारा और धमकाकर कहा कि पाखाने में तूने ही बाँब रखा है, इसलिए तू मान जा। कबूल कर ले और कहाँ से बाँब लाया है, कहाँ वह बनता है और दूसरे कौन-कौन उसमें शामिल हुए हैं, वह सब कह दे, नहीं तो तेरी आ बनी समझ। तेरी हड्डी सीधी नहीं रहेगी। कुछ देर गाड़ी खड़ी रही और कीम स्टेशन पर मेल खड़ा रहा। फिर दुबारा मेरी तलाशी ली गई। मैंने पहले कहा था वह ही कहा। भरूच स्टेशन पर तुम्हारी तलाशी ली जायेगी, ऐसी धमकी देकर एक पुलिस को मेरे डिब्बे में बिठाया और गाड़ी चल पड़ी। भरूच स्टेशन पर जैसे ही गाड़ी खड़ी रही कि तुरन्त पुलिस का झुण्ड, दो-चार पुलिस इन्स्पेक्टर आकर खड़े रहे। उन्होंने मुझे एकदम हाथ पकड़कर जोर से खींचकर डिब्बे से बाहर धक्का देकर निकाला। स्टेशन पर के वेइटिंग रुम के एक कमरे में ले गये और सारी हकीकत पूछी। मैंने जो बना था, वह संपूर्ण स्वस्थता से कहा। मुझे बहुत-बहुत धमकाया पर जानता होऊँ तो दूसरा कहूँ न ? कुछ मारपीट भी हुई। फिर फौजदार साहब गरजकर बोले कि, साले को बराबर गरम करो, उसके बिना वह नहीं मानेगा।

उस समय, कौन जाने दिल में ऐसा हो आया कि क्षणभर में शरीर पर के सारे कपड़े अपने आप निकाल दिये। यह देखकर वे लोग सभी स्तब्ध हो गये। मैंने कहा कि अब इस शरीर को मारने में तुम्हें बहुत सरलता हो जाएगी। इसे चाहिए उतना मार लो। इससे बहुत गुस्सा होकर उन्होंने कहा, 'तुम पहले कपड़े पहन लो फिर दूसरी बात।' फौजदार साहब ने मेरा सारा विवरण पूछा। नाम पूछा और मुझे भरूच में रोक लेने का हुक्म दिया। मैंने कहा कि मेरी टिकट नडियाद की है। किसी

भी मुसाफिर को चलती गाड़ी से बीच में नहीं उतार सकते । मुझे नडियाद में तुम्हें रोकना हो उतना रोकना । इन दिनों में कानून का राज बिलकुल न था, तब भी उन लोगों ने फिर मेरा कहा माना, यह प्रभु का उपकार ।

सुबह नडियाद स्टेशन पर उतरते ही वहाँ की पुलिस सामने थी ही । उन्होंने भी सारा दुबारा से पूछा । मैंने सभी हकीकत सुनाई । इससे किसके वहाँ जाना है, कितना रहना है, कहाँ जानेवाले हो ? यह सारा पूछा । 'मेरे छोटे भाई मूलजीभाई भगत के यहाँ और शाम को साबरमती गांधी आश्रम जानेवाला हूँ ।' ऐसा बतलाने पर एक पुलिस अधिकारी ने कहा कि, यदि यह भाई आज के आज जानेवाला है तो हम इस सारे झंझट में क्यों पड़े ? शाम को अहमदाबाद उतरा वहाँ पुलिस मिली । उस दिन मुझे सीधे आश्रम में जाने दिया वह उनका बड़ा उपकार । दूसरे दिन आश्रम में एक पुलिस अधिकारी आकर मेरा निवेदन लिखवा गये ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७० से २७३)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

९. निष्काम कर्म

भगवान की कृपा से पैसे बिना यह जीव हैरान होनेवाला नहीं । उसे पैसे से अधिक दिल की और प्रेम की कितनी अधिक आवश्यकता है ! अभी तक जीवन में नंदुभाई या हेमंतभाई आदि कहाँ थे ? तब भी जीवन की नौका श्रीहरिकृपा से चली है । वेतन स्वेच्छा से बहुत कम मिलता था और कुटुंब में व्यक्ति अधिक थे । जीवन में आर्थिक कठिनाई न आयी हो ऐसा नहीं है । भगवान की कृपा ने **इस जीव** को मदद की है । अकेले, तनहा, ख्याति बिना के **जीव** को संघ के काम के लिए बड़ी रकम मिले यह साधारण अनुभव है ?

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १८८-१८९)

मैंने यह काम अपने धर्म के लिए लिया है, नहीं कि संघ के कारण या परीक्षितलाल या ठक्करबापा के कारण । यह काम करते हुए मार खायी । शरीर को हैरानगति हुई । वजन ११७ में से ९७ होकर २० शेर

घटा । तब भी कदर हो ऐसी अपेक्षा बिलकुल न थी । **यह काम हाथ में लेने से मुझे यह ज्ञान मिला कि जो कोई अनुभवी है, उसे कैसी भी आफत होने पर भी स्वयं प्राप्त योग्य धर्म का परिपालन करना ही । वह किसी से भी अलग नहीं रह सकता । उन सभी में समय आने पर समरस हो । अलग हो या अलग होगा उसे अनुभवी कैसे कहेंगे ! उसकी तटस्थता और तादात्म्य की किसी से तुलना न हो सके वैसी होती है ।** ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १२४)

फिर एक बार ठक्करबापा को मिलने गया था । उन्होंने मुझे मंत्रीपद लेने को बहुत कहा, परन्तु साफ मना कर दिया, तब उन्होंने सूचित किया कि 'हेमन्तभाई को रखकर तुम्हें सारी देखरेख रखनी है। परीक्षितलाल आये तब तुम्हें छोड़ देना है ।' उन्होंने वेतन लेने को मुझे सूचित किया था, परन्तु उस विषय में मैंने स्पष्ट मना कर दिया ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४५)

उगाही की भी सारी हकीकत पूछी । अकेले हाथ कोई जानपहचान बिना इतनी बड़ी रकम इकट्ठी हो सकी, इसके लिए उन्होंने बहुत खुशी बतायी । गुजरात हरिजन सेवक संघ को एक वर्ष की शान्ति हो गयी । पू. बापा ने कहा, 'संघ में से मुक्त होने के बाद भी, तुम स्वयं इतना सारा काम करोगे ऐसा भरोसा न था । तुम्हारे इस काम से खुश हुआ हूँ ।'

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४५)

वडोदरावाले पूज्य घनुभाई को जिन्होंने मुझे शिक्षा में आगे बढ़ने के लिए मदद की थी, उन्हें मददरूप हो सकूँ उसके लिए मैंने पू. ठक्करबापा को लिखा था, उन्होंने मासिक ३० से ३५ रुपए देने को मुझे कहा था । यह सत्य बताकर पू. ठक्करबापा का पत्र पूज्य बापू (बुजुर्ग स्वजन) को कराची जेल में बताया था ।*

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १९८)

● ● ●

---

* श्री घनुभाई के ऋण-स्वीकार का श्रीमोटा का उद्देश्य था ।

॥ हरिः ॐ ॥

१०. दूसरों के लिए आत्मभोग

यहाँ अमुक जो अद्भुत घटनाओं का उल्लेख है, वह हकीकत सत्य होने पर भी कैसा कभी दुबारा होना चाहिए ऐसा उसका कोई नियम नहीं होता। यद्यपि ऐसा सब कुछ यद्वातद्वापन से हेतु बिना वह नहीं होता। उसकी भी कोई गूढ़ सूक्ष्म कार्यकारण परम्परा होनी चाहिए। उसकी कार्यकारण परम्परा जाननेवाले कोई वीरले होते हैं। अद्‌भुत घटनाएँ जिस **जीव** को उसके सत्य स्वरूप में समझने या स्वीकारने का होता है, तो ऐसे **जीव** को उच्च आना सरल हो जाता है। **जिस *जीव* से जीवन में प्राप्त ऐसे उत्तम कृपामौके को पहचानना, समझना उसके यथार्थ गूढ़ भावार्थ से स्वीकार करना नहीं हो पाता, उस जीव की अभी अंतर की आँख खुली नहीं ऐसा निश्चित समझना।** ऐसे चमत्कारिक प्रसंग अपने जीवन में प्रत्यक्ष रूप से हुए अनुभव करना वह भी कोई साधारण बात नहीं। कृपा होने पर भी, कृपा को उसके योग्य भावार्थ में हृदय से स्वीकार नहीं होती, तब कृपा को व्यक्त होने के कारण वह स्वयं (वैसा **जीव**) अफल बना देता है। फिर भले वैसा उन **जीवों** से उसके वास्तविक रूप में स्वीकार न करते हो।* ('जीवनपोकार', प्रस्तावना)

१९३९ की रामनवमी की रात के साक्षात्कार के पाँचेक महीने के बाद एक सुबह अहमदाबाद से कराची जाते प्रेममय वातावरण भूल नहीं सकता। कितने अधिक इकट्ठे हुए थे। वह भी उमंग, प्रेमभाव से। वह **उस**की बड़ी से बड़ी कृपा है। वह सब ज्ञानभक्तिपूर्वक **उस**के ही

---

* १९३९ में पूज्य श्रीमोटा का जिस विशेष भाव से **जीवन प्रागट्य** हुआ, उसके पश्चात् **जीव**दशा की तर्कसंगति में न बैठे ऐसे अनेक अनुभव, प्रसंग हुए हैं। कोई श्रेयार्थी **जीव** अधिक चेतनात्मक हो, ऐसे उद्देश्य से ये प्रसंग यहाँ तथा अन्यत्र प्रकट किये हैं, पर कोई साधक पुरुषार्थ को अलग रख मात्र कृपा-याचना, पंगुता, निर्बल या प्रमादी हो और ऐसे प्रकार के चमत्कारों में ही रुचि लेता रहा करे, इसके समक्ष पूज्य श्रीमोटा का उग्र रोष और सख़्त विरोध भी है।

चरणकमल में ही रखता हूँ । इतनी सारी बहनों के निर्मल प्रेमभाव की तुलना में क्या आ सके ? बाकी, आश्रम में मात्र छोटी से छोटी चड्डी पहनकर फिरनेवाले, 'बुद्धू' जैसा जानबूझकर दिखानेवाला, कहलाती सभ्यता थोड़ी भी न पालनेवाला, गांधीजी के आश्रम जैसे गंभीर वातावरण में भी जो...र से आवाज देकर कितनों को आघात और वह नहीं तो ताजुबी, घृणा, अवमानना पैदा करनेवाला, कितनों को अनपढ़ दिखानेवाले, कितनी आश्रम कन्याएँ मुझे पागल समझतीं और कैसा परेशान करतीं ! वहाँ की सभ्य रीतिरिवाज में भी बिलकुल गंजा सिर रखकर नि:संकोच हो घूमता, फटे कपड़े पहनकर सेन्ट्रल बैंक में जाने से क्लर्क पैसे देने से मना करता और मैनेजर को मिलना पड़ता ऐसा दिखनेवाला, हो सके उतना पूरा गँवार दिखनेवाला, अक्ल होशियारी का मुँह पर छींटा...भी ना मिले और उस तरह 'गधे' की उपमा भी पानेवाला, ऐसे मुझ पर इन सभी का इतना भाव कहाँ से !

'दीखे बारहों मेघ सम वर्षता प्रेम जीवन में
डूबता उसमें जो, तरकर बने धन्य बस वह ।'
इतना सारा और ऐसा भाव वह क्यों मिले ?
'वह है प्रताप **पद** की रजधूलिका का,
ढिंढोरा पीट जगत को कहूँ ध्यान लेना ।'

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १५-१६)

● ● ●

परम कृपालु श्रीभगवान ने **इस जीव** का स्वांग और जीवनप्रवाह बदलाया है । इससे देखता हूँ कि मुझे उसके निमित्तरूप होकर जो स्वजन इस मार्ग में जाने के उद्देश्य से मिलेंगे, उनको **उस**की कृपा से रास्ता दिखाना है । इसप्रकार **उस**का साधन, **उस**का निमित्तरूप, **उस**ने ही बनाने की इच्छा की है, फिर उस विषयक कर्मों में दूसरा तत्त्व प्रवेश न करेगा, ऐसी दृढ़ श्रद्धा **उस**की कृपा से थी और है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १६-१७)

(१)

ध्यान का चमत्कार कहो या ध्यान में से प्रकाश पाता संकल्प किस प्रकार का आकार लेता है, उसका एक प्रसंग कहो वैसा एक मेरे जीवन का सच्चा बना हुआ उदाहरण रखूँ ।

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी में एक बंगला किराये पर ले दो बहनों* के साथ मुझे रहना था । सामान्य रूप से वे गहने बहुत कम पहनते । एक बार दोनों बहनें बाहर घूमकर आकर उनके पास जो कुछ गहने थे, वे सभी मुझे दे दिये । मुझ मूर्ख ने वह अपने कुरते की जेब में रखा । कुछ घण्टे बाद उन दो बहनों के साथ मुझे विश्वनाथ के प्रख्यात मंदिर में महादेव के दर्शन जाने का हुआ । हमने धक्कामुक्की में से होकर मंदिर के गर्भद्वार में जाकर प्रेमभाव से दर्शन किये । वहाँ मधुरभाव से शहनाई बज रही थी, उसे सुनने के लिए रुके । उसके बाद हम अपने मुकाम वापस आये ।

दूसरे दिन हमें गंगा नदी में नौकाविहार के लिए जाना था...बहन ने मुझे कहा कि अपने कपड़े सभी बदले । सभी कपड़े मैंने बदले । पहने कुरते की जेब से सब कुछ नये कुरते की जेब में रखने के लिए पुराने कुरते की जेब को टटोलने लगा । उस समय पता चला कि मेरे कुरते की जेब कट गई थी । गहने चोरी हो गये हैं ! मुझे हुआ कि मेरे भरोसे जो रखा उसकी सलामती और जिम्मेदारी मेरी अपनी जरूर है, इसका भान मुझे बहुत तीव्रतम हुआ । बहन को सच्चाई बताई उसने उसे जरा भी महत्त्व नहीं दिया । उसके लिए यह बहुत उत्तम था, परन्तु उसका मुझे दुःख और दर्द था ।

हम गंगामाता के पुनीत प्रवाह में नौकाविहार के लिए गये । नौका में बहन की एक सखी ने मुग्ध कर दे इस भाव से कुछ भजन गाये । भजन सुनते हुए मुझे दिल में भावावेश जगा और शरीर की स्थिति बाह्यभानरहित की हो गई । उसके पहले गहनों को जेब से किसने काटा होगा और मैं

---

* सद्‌गत श्री नरसिंहराव दिवेटिया की दोहित्रिओं ।

अपनी जिम्मेदारी अदा न कर सका, उस दर्द का विचार स्फुरित हुआ था सही । भावावस्था में गहराई पर जाने से वहाँ एक दृश्य का अनुभव हुआ । वह अद्‌भुत और रोमांचकारी था । विश्वनाथ के मंदिर में किसने और किस तरह जेब काटी वह दृश्य हूबहू दिखा । उस समय मुझसे कहा गया कि, 'अरे, यह गहने मेरे नहीं हैं । किसी ने मुझे रखने दिये हैं और मैं तो गरीब आदमी हूँ । मैं भरपाई कर सकूँ ऐसा नहीं । यह संपत्ति तुझसे हज़म नहीं हो सकेगी । तू मुझे वापिस लौटा दे । मेरा निवास अमुक जगह है । सुबह परीक्षा का समय होने से आधा-पौना घंटा हिन्दू युनिवर्सिटी में अमुक जगह पर हूँ । यह सब ध्यानावस्था में हुआ था । इस अवस्था से छोटी बहन मुझ पर बहुत चिढ़ती । उसे ऐसा न रुचे यह स्वाभाविक था । नौका किनारे पर आयी, तब जैसेतैसे मुझे भान में लाने का बड़ी बहन कर पायी । उसके बाद हम वापिस हिन्दू युनिवर्सिटी के हमारे मकान में आ गये ।'

दूसरे दिन युनिवर्सिटी के जिस मकान में परीक्षा ली जानी थी, वहाँ हम ऊपर की मंजिल पर थे । बड़ी बहन अपने परीक्षा खंड में थी । मैं तथा बहन की एक सखी बाहर के बरामदे में खड़े थे । उस समय दूर से एक आदमी हांफते दौड़ते आ रहा था और मुझे बुलाने का संकेत कर रहा था । मेरे साथ की बहन ने मेरा लक्ष्य बताया । मुझे उस भाई ने आवाज देकर बताया कि, 'भाई साहब ! कृपा कर नीचे उतरो ।' मैं नीचे गया और उसे मिला । उसने मुझे कहा, 'यह तुम्हारे गहने वापिस ले लो । मैं पूरे शरीर से इतना अधिक जलकर मरता हूँ कि मुझ से अग्नि का दाह सहन नहीं होता । कृपाकर वह मिट जाये ऐसा करो ।'

प्रभु की कृपा का चमत्कार अनुभव कर मेरा हृदय भाव से गद्‌गद हो गया । मुझे गहने मिल जाने से ऐसे आराम का अनुभव हुआ कि जिसका वर्णन भाषा में उतार सकूँ ऐसी शक्ति मेरी कलम में नहीं । फिर, उस आदमी ने गिड़गिड़ाकर मुझे पैरों में पड़कर कहा कि, 'भाई

साहब ! मेरा यह प्रचंड दाह मिटा दो ।' मैंने उससे कहा कि, 'भाई ! यह मेरे भगवान की करामात है, तुम कैसे परख सके कि इन गहनों का मालिक मैं स्वयं हूँ ?' उसने कहा कि, 'कल शाम से मुझे अचानक ऐसा पूरे शरीर में प्रचंड दाह हुआ कि वह सहन नहीं होता । इस पूरे समय दौरान मुझे तुम्हारे शरीर की आकृति हूबहू बार-बार नजर के सामने तैरा करती थी । तुम कहाँ रहते हो, उस जगह का मुझे पता चला था । सुबह को तुम कहाँ होगे वह भी मैं देख सकता था । रात को आने की मेरे शरीर में शक्ति न थी । अब भी नहीं है पर जैसेतैसे आ सका हूँ । निकला तब चल न सकूँगा ऐसा लगा था । पर फिर इतनी सारी गति आई कि दौड़ता ही रहा और एक ही श्वास में यहाँ आया हूँ । इसलिए कृपाकर तुम इस दाह को मिटाओ ।'

मैंने उसे अचानक कहा, 'भाई ! तुम अब एक व्रत लो । विश्वनाथ के मंदिर में दर्शन करनेवालों का जेब नही काटूँगा । तुम उस वचन का पूरी तरह पालन करोगे तो प्रभुकृपा से तुम्हारे शरीर का दाह जरूर मिट जाएगा । कोई बिचारा मेरे जैसा गरीब दर्शन करने आये और उसकी जेब तेरे जैसों से कट जाय, तो उसकी कैसी दशा होगी ? उस बिचारे गरीब को कितनी परेशानी भोगनी पड़े । इसलिए कृपाकर मंदिर में किसी की जेब मत काटना । इसका दृढ़ नियम ले ।' उसने कहा, 'भूख से मर जाऊँगा पर मंदिर में किसी की जेब नहीं काटूँगा ।' मुझे उसके कथन पर विश्वास हुआ । मैंने प्रभु से उसका दाह मिटा देने की दिल में दिल से प्रार्थना की और कुछ देर में उसके शरीर का दाह मिट गया उसने अनुभव किया और वह आदमी मेरे पैरों पड़कर चला गया ।

इसप्रकार का अनुभव मुझे प्रभुकृपा से हुआ । ध्यानावस्था में शरीर का भान जाते-जाते जो संकल्प हो अथवा जो संकल्प उस समय करने का ज्ञानयुक्त संयम हम से यदि रखा जाय तो वह संकल्प कैसे साकार हो जाता है, उसका स्वयं हुआ प्रत्यक्ष प्रयोग था ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ९४ से ९९)

कानपुर में एक पागल जैसे व्यक्ति को मिलने गये थे । नवाबगंज में एक राजाराम करके सद्‌गृहस्थ रहते थे । (१९३९ में) लगभग उनकी उम्र ७० वर्ष की, स्वयं का घर है, घर बिलकुल बेहाल, खराब स्थिति में । आंगन में एक छोटा-सा कुँआ है । स्वयं कोई संग्रह नहीं करते । स्वयं सुबहशाम घूमने निकले तो निकले । लोग उसे पागल समझते हैं । मुसलमानों को सलाम करता और हिन्दुओं को 'सीताराम' कहता । कोई पाई पैसे दे और फिर लहर में हो तो ले और किसी को दे दे । कभी-कभी चाय स्वयं बनाये और उसमें दही डाले ! कोई खाना दे तो खाये । किसी की कोई परवाह नहीं । आकाशवृत्ति रखे । सरस भजन और साखी गाता । मस्तराम था । ता. २२-९-१९३९ की रात को हम उसके पास गये थे । वह और मैं ध्यान में चले गये । ध्यान चले जाने के बाद हम दोनों खूब भेंटे । वे ध्यान में मुझे पैरों पड़े थे । दूसरे दिन वापिस हम जब खाली बातें करने और मिलने गये, तब अलग पड़ते समय वह भेंटे । **इस जीव** के पैरों पड़ते हुए कुछ दूर हट गया । वह तो दूर तक मुझे छोड़ने आते थे, पर मैंने मना किया, तब उन्होंने स्वयं कहा, 'कल तो तुम्हारे पैरों में मैं पड़ा था । आज क्यों नहीं लगने देते ?' मस्त लोगों के उलटे व्यवहार होते हैं । उनका प्रेम भी ऐसे ही जबरदस्त होता है । उस समय उनके सुंदर भाव की झाँकी अनुभव हुई, परन्तु 'रबकी मरजी क्या जाने !' ('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १६६-१६७)

(२)

मेरे एक बुजुर्ग की दस वर्ष की बालिका खूब रो रही थी । उसे उसकी माँ याद आया करती । उसकी याद इतनी अधिक उत्कट थी, कि उसका रोना ही बंद न हो । माँ बिना की बालिका के हृदय में असीम तड़प थी । उसकी तड़प की उत्कट भावना से प्रभुकृपा से हृदय में खूब करुणा का भाव जागा । उसकी माँ को गुजरे हुए पाँचेक वर्ष हो गये थे । तब भी प्रभुकृपा से कहा गया, 'बहन ! माँ तुम्हें जरूर दिखाई देगी । हाँ, हाँ, जरूर दिखाई देगी । तुम देखो !' और सचमुच ही उसकी सद्‌गत माँ उसे दिखाई दी । उन्होंने उसे शांति दी और रोने से मना किया । यह

हकीकत उसने हमें बतायी, तब **दिल में ऐसी एक भावना प्रकट हुई कि हम भी उस बालिका की तरह पूरे विश्वासवाले हो सके हों तो हमें भी उसकी माँ की तरह प्रभु के दर्शन कभी के हो गये होते ।**

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २३०)

(अनुष्टुप)

मरा हुआ हो संपूर्ण अंदर से तूमड़ा यदि
स्वयं को तारने शक्ति पाता वह हृदय में ही ।
पारा जब मरा हो, शक्ति रोग सुधारने,
-स्वयं ही मिले उसे, ऐसा अपना जानना ।
महात्मा धन्य कि जिसने मृत्यु को घोल पी लिया !
ऐसी कृपा की क्या शक्ति, आज वह जानने मिला !
मृत्यु को भेंटने में भी जिसे प्रेम रहा करे,
मृत्यु व जीना- दोनों से वह नित्य बसे परे ।

उपरोक्त लेख एक कागज में लिखकर रखा था । हसमुखभाई उसे पढ़ने जा रहे थे तब मैंने खींच लिया । महात्मा गाँधीजी की बिगड़ी तबीअत विषयक रेडियो में ब्रोडकास्ट हो जाने के बाद पढ़ने दूँगा ऐसा कहा था । एक बार तो मानो जाते-जाते चेतन हमें मौका देने **उस**ने रहने दिया । उस प्रसंग के स्मरण के अनुभव पर उपरोक्त लेख लिखा था ।

उसी तरह कविवर टागोर के शरीर का मृत्यु विषयक पहले से जानने का हो सका था । मैं और हेमन्तभाई खार (मुंबाई का उपनगर) में बाजार में घूमने निकले थे । उस समय कुछ भी अखबार के समाचार जाने बिना उन्हें वह हकीकत कहना हुआ था । यह सब लिखने में **इस जीव** का महत्त्व सभी में प्रकट करने का हेतु नहीं है, परन्तु साधनामार्ग में आगे जाते जाते ऐसी संभावनाएँ भी हैं । यह समझाने के लिए उपरोक्त हकीकत लिखनी पड़ी है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४६-३४७)

(३)

गाँधीजी के पेशाब में जहरीले जंतु अधिक दिखाई दे रहे थे, उस विषयक 'आज अब नहीं होंगे' ऐसा ता. २४-२-'४३ के दिन उस

विषयक ब्रोडकास्ट में जाहिर हुआ, उससे पहले मैंने बतलाया था । मेरा पेशाब लेकर सुबह से पहले हसमुखभाई को तत्काल जाँच करा लाने सुधराई के अस्पताल में भेजा था । गाँधीजी के साथ का हृदय से सरलता भरा भाव, अत्यन्त स्निग्ध मार्दवयुक्त आदरभाव, १९ वर्ष उस क्षेत्र में काम किया होने से हृदय का प्रेमभाव रहा हो, इससे उनके साथ तटस्थतायुक्त तादात्म्य प्रकटते उनका हमारे में वैसा प्रगटाते हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४९)

(४)

कुंभकोणम् में दोपहर के समय ऐसे ही जागता पड़ा था, तब शरीर को अचानक धक्का लगा । सोने की जगह से ४०० फूट दूर आश्रम का दरवाजा चुना जा रहा था । वहाँ एक राज काम करता था । एक छोटी बेंच, देवदारु का बक्स और बक्स पर खड़ा-खड़ा वह सिमेंट का प्लास्टरिंग करता था । उसके शरीर के भार से देवदारु का बक्स झुका और शरीर धड़ाम के साथ नीचे पड़ा । उसके बाद मैं उठकर वहाँ गया और नंदुभाई को आवाज दी । नंदुभाई राज का काम करते थे वहीं बैठे थे । उनको पूछा, 'उसे बहुत लगा तो नहीं है न ?' प्रभुकृपा से उसे कोई आँच नहीं आयी थी, और काम कर सकता था । कुछ दिन पहले एक वृक्ष का बड़ा तना चार मजूर आश्रम में उठा रहे थे । उनमें से तना फिसला और एक जन पर पड़ा । कंधे से जांघ पर, जांघ से घुटनों पर और घुटनों से पैर की हड्डी पर और पैर की हड्डी से एड़ी के ऊपर के हिस्से पर पड़ा । डेढ़ घण्टे तक उसे शेक करना पड़ा । पर बीस मन से अधिक का बोझ पड़ने पर भी प्रभुकृपा से उसे कोई ईजा नहीं हुई ।

यहाँ आश्रम में काम चल रहा था, उस समय कितनी घटनाएँ घटी, जिसमें स्वयं सहन करके भी दूसरे **जीवों** को इस काम निमित्त कोई आँच न आये ऐसा प्रभुकृपा से हुआ, परन्तु उसमें हमारी कोई खूबी नहीं है । यह सारी करामात यदि हो तो वह श्रीभगवान की कृपा की है ।

('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. १३६-१३७)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

११. प्रभुकृपा

भगवान का भाव वह तो सचराचर है और साक्षात् है । उसके अनुभव भी **उस**ने कृपाकर जीवन में इतने कम समय में भी करवाये हैं । उसकी प्रत्यक्षता मही गलतेश्वर जाते उसने बतलायी थी । मैंने और हेमन्तभाई ने कहीं खास एकांत में जाकर एकाद दिन रहकर वहाँ ध्यानमग्न रहें ऐसा सोचा था । पहले हम गोधरा गये । वहाँ पहुँचे वहाँ तक तो कुछ नहीं । रात हुई और मुसलाधार बरसात । बिजली की कड़कड़ाहट औऱ बड़े-बड़े पेड़ हिल उठे ऐसा तूफान आया । सुबह निकलकर मही गलतेश्वर जाना बिलकुल असंभव लग रहा था और ट्रेन तो प्रातःकाल साढ़े चार बजे निकल जाती । इसलिए आश्रम में से (गोधरा के) साढ़े तीन बजे निकलना पड़े ऐसा था । फिर भी प्रभुकृपा से ठीक निकलते समय ही बरसात बंद हो गयी ! ऐसी तूफानी रात को इतने जल्दी बाहर गाँव जानेवाले भी कौन हो ? रेलवे के हमारे पूरे कंपार्टमेन्ट में हम दो ही अकेले थे । एकांत में प्रभुकृपा से हेमन्तभाई के एक हाथ का स्पर्श जीवंत जारी रहे इस तरह भावस्थ दशा में जाने का हुआ । उनका जीवनप्रयाण कैसे घोर वन में से मेरी सोबत में होगा और कैसा दावानल उस वन में जलेगा तथा असंख्य पुराने (जीवप्रकृतिरूपी) गाडरें और चमगादड़े आदि उसमें जलकर कैसे भस्म हो जाएँगे और हम मंदिर में पहुँचेंगे - यह सब प्रभुकृपा से सिनेमा की तरह प्रत्यक्ष रूप से दिखाई दिया । उन्होंने यह सब कहा था, इसलिए हमारे जाने का हेतु तो तभी ही मही गलतेश्वर जाने से पहले, सिद्ध हो गया था, परन्तु उसकी खास इच्छा से हम अंगाडी स्टेशन पर उतरे थे । सुबह पाँचेक बजे स्टेशन पर उतरे तब अंधेरे में मही गलतेश्वर का रास्ता कहाँ से सूझे ? इससे हम अंदर ही अंदर बात कर रहे थे कि क्या करें, इतने में एक दूसरा प्रवासी आगे स्टेशन पर उतरा होगा या स्टेशन पर पहले से ही होगा । उसने हमारी बात सुनकर स्वयं तुरन्त ही कहा, 'चलो, मेरे साथ । मुझे वहीं जाना है ।' मूसलाधार बरसात हम निकले तब ही रह जाता, ट्रेन में हमारे डिब्बे में कोई भी दूसरा न हो, अंगाडी स्टेशन पर कोई एक ही तैयार खड़ा

हो और हमें रास्ता बिना पूछे बताये—यह सभी योगानुयोग में प्रभु का हाथ—**उन**का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हमें क्या नहीं दिखता ?

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३६७)

● ● ●

हम सभी हिमालय की यात्रा पर जा रहे थे । एक बहन हमारे साथ प्रातःकाल मुसाफिरी में पैदल निकल पड़ती । नंदुभाई सारा सामान ठीक करने के बाद देर से निकलते । हम दोनों तो जल्दी निकल जाते । कितनी ही बार सिर पर बरसात हो रही हो और मैं जोर से सुन सके इस तरह हम ठिकाने पहुँचे वहाँ तक बरसात रुक जाने की प्रार्थना करता । ऐसा कोई एक-दो बार नहीं हुआ । बहुत बार ऐसा हुआ कि प्रार्थना से बरसात होता रुक जाता* ।

रास्ते में चलते-चलते उन बहन को मरोड़ आ गई थी । और मरोड़ भी कैसी ! वह थोड़े पीछे थी । **यह जीव** आगे चलता था । उसने यह हकीकत नहीं बतलायी थी । उसे शेक की बहुत जरूरत थी । हमारे साथ रसोइया था । उसने और **इस जीव** ने होकर जल सके इतनी लकड़ियाँ इकट्ठी की । उसके पास दियासलाई थी, वह सभी उसने जलाकर देखी, परन्तु कर्म संजोग से सभी खत्म हो गई । अग्नि न जला तो न जला । अब दियासलाई तो रही नहीं, लकड़ी जलानी बहुत आवश्यक था । वहाँ घास और ऐसा सभी जो इकट्ठा किया था और उस पर छोटे- छोटे जल्दी जल सके ऐसे शलाका लगाकर रखे थे । वहाँ आगे **यह जीव** मुँह से धौंकनी जैसे फूँकने लगा । बहुत देर तक ऐसे फूँकता ही रहा और प्रभुकृपा से लकड़ी जली ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ६४-६५)

फिर जिस स्थान पर हमें पहुँचना था, वह ढाई मील दूर था । थोड़ी-थोड़ी वर्षा हुआ ही करती थी । यहाँ की वर्षा और हिमालय में

---

* हमारे साथ नौ व्यक्ति थे । उनके पास ओढ़ने-बिछाने के खास साधन नहीं । बरसात में वे भीगते । इससे करुणा जागी । निमित्त के संयोग से बरसात को रोकने की प्रार्थना करता ।

होती वर्षा में अंतर है । वर्षा में हम इतना चलते रहे सिर पर होती वर्षा अनुभव करते और चलते-चलते ठिकाने पर पहुँचे वहाँ तक सिर पर वैसी वर्षा होती ही रही । तब भी हम पहुँचे तब हमारे कपड़े कोरे थे । गिरती वर्षा में इतना सारा चलने पर भी कपड़े पानी से सराबोर नहीं हुए थे । यह बड़ा आश्चर्य नहीं तो दूसरा क्या ? हमने कुछ भी सिर पर ओढ़ा न था । यह निश्चित बात है ।

एक बार पूज्य बड़ी बा की पालकी गिर पड़ी । मैं स्वयं पालकी के स्थान से बहुत दूर था । मैं फिसला और बोला, 'आज तो बा की पालकी गिरी और सभी बच गये ।'

हिमालय में रास्ता चढ़ते श्री नंदुभाई की पत्नी कान्ताबा को अधिक थकान हुई और बहुत प्यास लगी । कंठ में मानो कांटे भोंकते हो वैसा लगा करे । अब एक कदम आगे चल सके ऐसी स्थिति नहीं रही । प्यास कहे मेरा काम ! एक जगह कगार के नीचे पानी का बड़ा झरना बहता था । उतरना बहुत खतरनाक और कठिन था सही, पर करें क्या ? प्यास छिपाये बिना उनसे चला जाय ऐसा न था । मैंने उस समय श्रीभगवान की प्रार्थना की । अंत में स्वयं पानी लेने नीचे उतरने की तैयारी की । जैसे ही कदम बढ़ाया वहाँ अचानक एक लड़का एकदम बहुत ही पास पानी लेकर खड़ा दिखा और बहन को पानी दिया । उस बहन ने पेट भरकर पानी पिया । स्वयं तृप्त होकर पीछे मुड़कर देखा तो वह लड़का न दिखा । रास्ता सीधा था । नीचे खाई में उतरा हो तो वह दीखे ऐसा था । जैसे भी हुआ पर प्रभुकृपा से पानी मिला । यह सत्य कोई जैसा-तैसा नहीं । लड़का शायद शीघ्रता से कहीं चला गया हो और दीखा न हो ऐसा भी हो ।

हमारी रात रहने की जगह बहुत ही रमणीय थी । वहाँ बड़ी बेल आदि चढ़ी हुई थी, इससे वह याद रह जाय ऐसा था । रात को सामान आदि पैक करके दसेक बजे निपट पाये और मध्य रात्रि के दो-ढाई बजे तो वहाँ से निकले होंगे और रुद्रप्रयाग आठेक बजे पहुँच गये थे । हमें शरीर से किसी को कोई थकान नहीं हुई और बहन को तो रसोई करने

का भी वहाँ काम था । घी न था, इसलिए उस बहन को भिक्षा माँगकर लाने को कहा । इतने सारे मील लगातार चलना और रात को मात्र कुछ घण्टे ही सोना मिला हो ऐसी स्थिति में शरीर को थकान न लगना और फिर काम में लग जाना और फिर जिसे जीवन में चलने का थोड़ा भी अभ्यास न हो उसके लिए—यह सारी घटना सामान्य मनुष्य से हो सके ऐसा नहीं । अट्ठाईस घण्टे में हम लगभग बत्तीस मील चले होंगे । तीन बारी में उतना पंथ कटा था । तेरह घण्टे चलने में गये थे । श्री नंदुभाई अपनी हिमालय यात्रा के विवरण में लिखते हैं 'अट्ठाईस घण्टे में (जिसमें चलने के घण्टे तो तेरह थे) हम सभी बत्तीस मील चले । यह एक आश्चर्य लगे ऐसी घटना मुझे लगी और जब कि चमोली में तो शरीर-दु:ख से थककर हार गया ज्ञानसिंग भी अट्ठाईस घण्टे में बत्तीस मील पालकी लेकर चला । यह ज्ञानसिंग बीमार था । उसे चमेली से छोड़ ही देना था, और कर भी दिया था । उसके बदले दूसरा आदमी रख लिया था । उसे पालकी उठानेवाले व्यक्तिओं के साथ रात को सुलाया पर प्रात:काल वह निश्चित किया व्यक्ति कहीं भाग गया था, ज्ञानसिंग भी चलते बना था, जिसे दूसरा आदमी दौड़कर दूर से बुला लाया । तब इस ज्ञानसिंग की चलने की घटना और हम सभी के चलने की यह घटना आश्चर्यजनक गिनी जायेगी !'

हिमालय की यात्रा को निकले तब हम ऋषिकेश सीधे जाकर श्रीकाली कामलीवाले बाबा की धर्मशाला में रुके थे । वहाँ से हम हरिद्वार आये थे । हरिद्वार में भाई सिद्धार्थ का शरीर अच्छा नहीं था । उसके शरीर को बहुत जुलाब भी हुए करते थे । वह अहमदाबाद था, तब से दवा तो शुरू की थी और निकलते समय भी जुलाब थे ।

हरिद्वार में ऋषिकेश से आकर दवा तो शुरू की थी पर मिटते न थे । हम उसकी दवा लेकर वापिस ऋषिकेश जाते थे, तब अपनेआप उच्चारण हुआ कि कल से तो हमारी हिमालय यात्रा प्रारंभ होगी और सिद्धार्थ के जुलाब अभी तक बंद नहीं हुए । उसका शरीर स्वस्थ होता तो बहुत आनंद आता । तब नंदुभाई ने कहा, 'उसे स्वस्थ कर दो न !'

क्या घटना हुई वह तो केवल श्रीप्रभु ही जाने पर उसी समय से ही उसके शरीर को अच्छा हुआ, परंतु उसे जो पीड़ा थी और रोग था वह **यह जीव** भोगता था । इतना शरीर से भुगतते होने पर भी उसकी अशक्ति शरीर को न थी और हिमालय में चढ़ना आराम से हो सकता था ।

यह सब लिखने के पीछे दूसरा एक ऐसा भी हेतु है कि जिससे अच्छी तरह हृदय की भावना से प्रयत्न करनेवाले *जीव* जीवन प्रकट करने में प्रार्थना के रहस्य की कितनी कितनी उपयोगिता है, वह समझें और प्रार्थना का ज्ञानभक्तिपूर्वक का अंतर से आश्रय ले ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ६६ से ७१)

● ● ●

कराची में रहता था, तब किसी के एक जन पर कागज आते थे और कागज को खोले बिना उसमें क्या-क्या लिखा है, यह सारी हकीकत उनकी उपस्थिति में कहने का प्रभुकृपा से होता । ऐसे प्रसंग एक-दो बार नहीं, पर आठ-दस बार हुआ । यह तो एक प्रयोग रूप अनुभव करने पर्याप्त वैसा हुआ था । ऐसा प्रयोग जारी नहीं रख सकते । फिर, कराची में पूज्य बापू मुझे अमुक व्यक्तियों के बारे में पूछते, तब वह जीव विषयक कहने का होता, परन्तु प्रभुकृपा करके सूझा कि ऐसा करना और वैसा कहना यह अयोग्य है । फिर उनको भी मैंने बतला दिया कि फिर से वे मुझे कृपा करके न पूछें । साधना की अमुक कक्षाएँ पार करने के बाद ऐसी स्थिति प्रकट होती है यह हकीकत है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४५-२४६)

● ● ●

ता. २१-२-'४३ के दिन तांजोर छोड़ने के बाद आनंद की लहर बढ़ने लगी, ब्रह्मरंध्र में अंदरबाहर सारा प्रदेश खुल गया । रोमरोम में आनंद के उत्सव का उत्साह नृत्य प्रसरित हुआ । वैसा अत्यन्त उत्कट मात्रा में पौने घण्टे था । उसेक बाद कुछ उतरता था । वह रात में वापिस चढ़ता था । यह क्रिया लगातार, प्रशांत, सक्रिय, वेधक, छंदोमय और सुखद थी तब भी वह पीड़ा करती थी, क्योंकि जब गुजरती थी, तब

उसे अपना मार्ग करने के लिए कुछ सख़्त गाँठ काटने का होता था । यद्यपि अतिशय आनंद के कारण दु:ख होने पर भी लगता न था और तब भी उस दु:ख के अनुभव का भान तो था ही ।

उपरोक्त अनुभूति के भाव, मुझ में और मेरे ऐसे पारस्परिक थे । फिर भी वह मैं तटस्थभाव से अकेला अनुभव करता हूँ । एक साथ त्रिविध क्रियाएँ और साक्षी चौथा, तथापि चारों की एकरूपता-एकसाम्यता-एकरसता एक में ही अनुभव होते हैं, ऐसा वह लीला-खेल था । यह तो अपने हृदय में दूसरे के प्रति जो हृदय का प्रेम होता है, उस प्रेम में जितने प्रमाण में एकरूपता हृदय-हृदय के बीच जमने लगती है, तब ऐसा अनुभव हुए बिना नहीं रहता । इसमें महत्त्व और महत्ता हो तो वह प्रेम की है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३३-३३४)

● ● ●

एक बार हेमन्तभाई और **यह जीव** दोनों चोरवाड गये थे । वहाँ एक सद्‌भावी सज्जन श्री हरखचंदभाई थे । वे श्री जीवणलाल एल्यूमिनियमवाले के सगे भाई होते हैं । बहुत सेवाभावी और गाँधीजी की आदर्श भावना से जीवन में रंगे हुए थे । पूज्य श्री ठक्करबापा के लिए उन्हें बहुत-बहुत प्रेमभाव और भक्ति थी । जिन्हें 'स्वर्ग की सीढ़ी' इत्यादि प्रकार के पुस्तक लिखे हैं, वे स्वर्गस्थ श्री अमृतलाल पढियार और उनका अति निकट का समागम था । उनके रहने के लिए उन्होंने एक घर भी बाँध दिया था । अभी तक उनके नाम से प्रख्यात है । किसी को जपादि साधना करना हो तो वहाँ बैठकर वह आराम से कर सकता है । उसके लिए जो सरलता चाहिए, वह सारी सुविधाएँ और सरलता वहाँ मिल सकें ।

वे श्री हरखचंदभाई ने **इस जीव** को तार करके उनके वहाँ रहने का आमंत्रण दिया था । वहाँ दोतीन दिन रहे होंगे । उनकी चोरवाड में जमीन-जायदाद भी बहुत थी । बाड़ी-बगीचे के बहुत शौकीन थे । किसानों और उनका संबंध हृदय के अनोखे भाव का । आये हुए किसानों

के लिए, उनकी पत्नी स्वयं रोट-सब्जी आदि बनाती । श्री हरखचंदभाई उन्हें स्वयं प्रेम से परोसते । एक दिन तो अचानक १२-१४ किसान आ चढ़े । उस समय **इस जीव** ने भी परोसने का काम उनके साथ किया था । श्री हरखचंदभाई को उन लोगों को खिलाने में जो प्रेमभाव हृदय में प्रकट होते देखा है, वह जीवन में याद रह जाय ऐसा था ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३०२)

● ● ●

वहाँ **इस जीव** को पीलिया हुआ और उसमें से सख़्त पीलिया हुआ । हम वहाँ थे, तब जूनागढ़ के नवाब साहब भी वहाँ थे । उनके डाक्टर भी वहाँ थे । उनके पास योग्य तीमारदारी करने का उन्होंने बहुत कहा, परन्तु **इस जीव** को तो जीव बस उठा तो वह उठा ही । उन्होंने तो बहुत आग्रह किया, कि ऐसी दशा में वहाँ ट्रिची तक १५०० मील दूर कहाँ से आराम लिये बिना — लगातार इतने सारे मील आगगाड़ी में जाना और वह भी इस शरीर से — वह बहुत जोखिमी है ।

पर यह मूर्खानंद कोई माने ऐसा थोड़ा था ! यह निकला तो निकला । वीरमगाम तो आ पहुँचे । उस जमाने में (१९४४ में) दूसरे दर्जे की टिकट अचानक मिलनी यह तो असंभव घटना थी । बल्कि मिल ही न सके न । वीरमगाम में एक टिकट इन्स्पेक्टर मिल गया । उन्होंने ही **इस जीव** को पहचाना । वे नड़ियाद के थे । उनको मेरे निर्णय की बात की । उन्होंने दूसरे दर्जे की टिकट लेकर दी । मैंने मुंबई पहुँचकर, उसी दिन दोपहर में डेढ़ बजे चलती गाड़ी में मद्रास जाने दूसरे दर्जे की टिकट तो न मिली । इन्टर की मिली, वह भी बड़ी कठिनाई से । मुंबई से मद्रास पहुँचकर, मद्रास में कहीं उतरे बिना वहाँ से उसी ही रात ट्रिची जाने की गाड़ी पकड़ी थी । प्रातःकाल त्रिचिनापल्ली जंक्शन पहुँचकर बैलगाड़ी करके केरापट्टी (ट्रिची शहर के पास का छोटा ख्रिस्ती लोगों का उपनगर) पहुँचा था । शरीर के बिगड़े पीलिये की दशा में इसतरह चोरवाड से ट्रिची आ सकने का हो, यह हकीकत श्रीभगवान की प्रत्यक्ष कृपा ही थी ।

उस समय **इस** शरीर की दवा आदि करने का पूज्य मामा और नंदुभाई ने बहुत ही आग्रहपूर्वक कहा था । उनको बताया कि अभी नहीं, यह रोग अपनेआप मिट जाएगा । उसके बाद **इस** शरीर में जो सारा होता है, वह सभी ही लिखवाऊँगा । उसके बाद दवा करवाने का रखेंगे । कुछ दिनों के बाद वह रोग मिट गया । पश्चात् **इस** शरीर में जो-जो हुआ था, वह श्री नंदुभाई के पास लिखवाया था । दो-चार पन्ने भरकर वह लिखा हुआ था । नंदुभाई ने तो इस शरीर में जो-जो होता था, उस विषय में लिखा हुआ कागज डॉक्टर के हाथ में रख दिया । यह पढ़कर वे तो चकित ही हो गये होंगे ! फिर उन्होंने कहा कि, यह कागज मैं अपने पास रखता हूँ । इसका मैं ठीक अध्ययन करूँगा । तुम कल आना । फिर दवा करना प्रारंभ करेंगे । दूसरे दिन शरीर देखा और दवा शुरू की । नंदुभाई ने डॉक्टर के वहाँ जाने के लिए एक बैलगाड़ी किराये पर रखी । उसमें रोज वहाँ जाता । प्रत्येक ४-५ दिन में तो कई बार ३-४ दिन में शरीर में अलग-अलग लक्षण दिखते थे, वैसे-वैसे वे दवा में भी बदलाव किया करते ।

एक दिन अस्पताल में मुझे आधे घण्टे से अधिक बिगाड़ना पड़ा । जाने की बारी आते मैंने डाक्टर से कहा, Well Doctor Saheb ! I am not in the habit of waiting (डाक्टर साहब, मुझे प्रतीक्षा करने की आदत नहीं ।) डॉक्टर ने तुरन्त ही मेरे सामने देखकर कहा, 'हाँ मैं यह हकीकत जानता हूँ । इससे अब तुम आओ तब तुरन्त ही जरा भी संकोच किये बिना मेरे पास आ जाना । तुरन्त ही तुम्हें देख लूँगा और तुम्हें जाने के लिए समयसर ही मुक्त कर दूँगा ।' फिर उस डाक्टर ने कहा कि सामियार, (दक्षिण में संत के लिए उपयोग होता शब्द) तुम्हें दवा लेने की जरूरत ही नहीं । दवा किसकी करूँ ? आज अमुक हो तो कल फिर दूसरा तो अमुक बार वह तीसरा हो । उसके बाद खास गंभीर आवाज से उन्होंने कहा कि, मुझे तुम्हारे आगे मेरे जीवन की पूरी कथनी कह सुनानी और खाली हो जाने का दिल इन दो-तीन दिन से हुआ ही करता है । अगर वैसी की वैसी प्रेरणा अदम्य

होगी तो किसी दिन तुम्हारे पास आकर सब कह देकर शांत हो जाऊँगा। ऐसा कभी मुझे हुआ नहीं। तुम्हारे पास ही हृदय खाली करने का दिल हुआ करता है।

उसके पश्चात् बारह बजे के बाद एक दिन भाई रहते थे, उस जगह उनकी कार में आ पहुँचे और कहने लगे कि तुम्हारे पास आये बिना अंत में तो रहा ही नहीं गया, इसलिए आया हूँ। और अपने जीवन की हकीकत खोलकर रख दी।

कुछ उनकी जीवन की कथनी में अभिनव उतार-चढाव था। वह सभी ही लगातार बिलकुल हिचके बिना वे बस कहते ही गये। और कहने के बाद उन्हें शांति हुई हो ऐसा उन्हें जरूर लगा था।

यह संबंध तब से ही जीवंत हुआ है, वह संबंध आज भी स्थायी है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३०३ से ३०६)

● ● ●

भाई हेमन्तकुमार को परम पूज्य श्री नानचंद्रजी महाराज साहब के पास 'जीवनसोपान' का हाथ से लिखा सारा लेख पढ़कर सुनाकर उनकी (महाराजश्री की) प्रस्तावना लेने के लिए जाना हुआ। जो एक दिन तो अच्छी तरह पढ़ने का हुआ, परन्तु दूसरे दिन बाहर शौच जाने का होने से उनके पढ़ने के चश्मे कहीं गिर गये। तब भी पाँच-छः दिन तक चश्मे बिना पढ़ने का हुआ, यह एक आश्चर्यकारक घटना थी। चश्मे पहने बिना उन्होंने पढ़कर देखने का प्रयोग कर देखा था, पर ठीक से जँचा नहीं। केवल नामस्मरण के भाव से या प्रार्थना से सायला में उसी तरह वह सब लेख पढ़ सकना हुआ वह यदि हकीकत सच हो, तो किसी दूसरे समय भी वैसे ही साधन से वैसा होना चाहिए, परन्तु सच हकीकत तो यह है कि जिसका यह लेख था, उसकी कोई चेतना की शक्ति से उन्हें प्रेरित कर वह काम करवाया था।

इसके अलावा, उन्होंने मुझ पर के एक कागज में लिखा कि, हिमालय में केदारबदरी जाने के लिए रोज के १०-११ मील चढ़ सकना मुझ से हुआ, वह मेरे जैसे शरीर की स्थिति से होना कभी भी संभव

नहीं था, वह अभी भी नहीं है । फिर, वहाँ ठिठुरती और शरीर ठंडा हो जाय ऐसी ठंडी में शरीर अच्छी तरह टिक सका, यह हकीकत मेरे जैसे के लिए एक चमत्कारिक घटना है । हिमालय की यात्रा में चल सकना हुआ, और पूरी यात्रा में प्रत्येक स्थल में जो अचानक चकित कर दे ऐसी सुविधाएँ मिलती रहीं, वह किसी की चेतनात्मक शक्ति को आभारी था, उसके विषय में मेरे मन में जरा भी संदेह नहीं है । मेरे जीवन में ऐसे एक-दो ही प्रसंग नहीं हैं । ऐसे कितने ही प्रसंगों का वर्णन लिख सकूँ ऐसा हूँ, परन्तु बहुत खेद और दु:ख की हकीकत तो यह है कि ऐसे प्रसंगों से जीवनविकास के मार्ग में जो उड़ान की गति होनी चाहिए, उसमें अभी पूरी तरह चेतनात्मक प्राण प्रकटे हो ऐसा अनुभव नहीं कर सकता । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ४३२ से ४३४)

● ● ●

हेमन्तभाई जब मेरे मित्र रूप पहचाने जाते थे, उस समय जब शिरोही में बीमार होकर रहे, तब उन्हें नवसारी से मिलने जाने का **इस जीव** ने किया था । मात्र वहाँ तीन दिन रहा था । उन तीन ही दिन में हेमन्तभाई के शरीर का वजन डेढ़ शेर जितना बढ़ा था । दूसरे एक प्रसंग में उनका शरीर बीमार था । वे दवा लेकर मेरे साथ आये उसके बाद तो दवा लेने का ही बंद कर दिया । और मेरे पास मात्र रहने से उनके शरीर का वजन दस शेर बढ़ा था । उनके शरीर की स्थिति कितनी खराब थी, और कितनी सारी कमजोरी रहा करती, वह तो वे स्वयं जानते हैं । उस समय तो दो फलाँग चलना उनके लिए संभव न था । '३८ की साल बाद उनके पूरे शरीर में बहुत खुजली हुआ करती । जब देखो तब उन्हें खुजलाते देखते । उनके इस जीवनविकास के मार्ग के प्रति भाव के बाद उनके शरीर की वह खुजली गई वह गई । **इस जीव** के शरीर पर चढ़ी वह कैसा मेरा ठोस अनुभव है ! एक बार **यह जीव** बनारस में था और हेमन्तभाई को खाज की पीड़ा विशेष थी । इसलिए **इस जीव** ने हेमन्तभाई के लिए दो तार किये । एक डॉक्टर को और दूसरा और किसी को । डॉक्टर ने उनकी सेवा तो की, पर पूज्य बड़ी बा ने हेमन्तभाई की

दवा की । उनको मिटा दिया पर उस समय **इस जीव** के शरीर पर वह पीड़ा उद्‌भव हुई, उसका बाकी रहा चिह्न आज भी मेरे बायें हाथ की कुहनी के आगे रहा है ।

एक बार **यह जीव** ट्रिची समीप केरापट्टी में था । मेरे पेट में बहुत दर्द हुआ और तीन दिन रहा । उस समय मेरे मित्र की पत्नी को प्रसव की पीड़ा हुई थी और वह तीन दिन बाद ठीकठाक हुई । तारीखें भी मिलती आयी थी ।

जो-जो **जीव इस जीव** के संबंध में आये हैं और जिनके साथ का कुछ हृदय के स्वजन जैसा संबंध हुआ है, उस प्रत्येक जीव के उन उनके शरीर की बीमारी जो रोग **इस जीव** के शरीर ने प्रेमभाव से भोगे हैं, वैसे सही और सचमुच के अनुभव **इस जीव** के अनेक स्वजनों को हुए हैं । कोई भी इसे मना नहीं कर सकता । प्रत्येक के साथ हृदय की सहानुभूतिपूर्वक की तादात्म्य एकता का भाव सहजरूप से होते ही, **इस जीव** में वैसा हो जाता है । **इस जीव** के शरीर में तो ऐसा कितना हुआ करता होता है ! कितनी बार तो आकर चला भी जाता है, कितनी बार शरीर के आधार में कुछ समय तक टिकता भी सही ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २३६-२३८)

● ● ●

कुंभकोणम् में पीढ़ी पर पूज्य मामा (गोपालदास) और बड़े भाई (वाडीभाई) रहते थे । घर में एक छोटी बेटी सही जिसकी उम्र रसोई आदि सिखानी चाहिए उतनी सही । इससे उसे रोज जल्दी उठाता । चूल्हा कैसे सुलगाना वह बताता । रसोई उसके पास ही करवाने का होता । वह सुबह जल्दी उठकर रसोई करके कुछ खाकर मिशन की कोन्वेट शाला में चली जाती । इसलिए खाना तो लगभग ८-३० बजे बहुत जल्दी हो जाता, और ८-४५ के बाद वह बस की राह देखती, बरामदे के पास खड़ी-खड़ी या बैठी-बैठी पढ़े । उस लड़की के पिता तो रोज दोपहर में सवा बजे पीढ़ी से घर आते । उस लड़की की माँ उपस्थित हो तो

उसके पिता को रोज गर्म ही खिलाये न ? और साढ़े आठ बजे में खाना बना हो वह कोई सवा-डेढ़ बजे तक गर्म थोड़े ही रह सके ? इसलिए दोपहर में पौने एक बजते चूला में कोलया डालकर उसे सुलगाकर सारी रसोई गर्म कर लेता, जिससे उन्हें भोजन गरमागरम मिल सके । वह तो **इस जीव** को ऐसा ही कहते, '**मोटा** ! ऐसी तकलीफ तुम लेते हो, यह तो बिलकुल अच्छा नहीं लगता । मुझे तो अवश्य सब ही चलेगा,' परन्तु **इस जीव** को तो काम करना था—भावना की खातिर । अतः जो तो **जीव** को फलदायी हो तो फले कि मेरे हृदय का प्रेमभाव सब पर कैसा है ! सभी के लिए **यह जीव** संघर्ष करता रहता है । दूसरे प्रिय और अमुक अप्रिय ऐसा **इस जीव** में तो कुछ भी नहीं । इससे कहता, 'भाई ! कहाँ किसी की खातिर करना होता है ? यह सब भावना के खातिर ही होता है । हृदय की भावना यदि सच्ची हो तो सभी अपनेआप हुआ करे ।'

अब, एक दिन ऐसा बना कि पूज्य मामा और बड़े भाई साढ़े ग्यारह बजे के लगभग बा के यहाँ घर पर आये । जो बातों ही बातों में एक होने आया । और सवा बजे तो वे भाई पीढ़ी से घर आ पहुँचे और हम तो भोजन करने बैठे, पर रसोई तो वैसे की वैसी गर्म थी । दाल आदि भी गर्म थी । सभी कुछ अच्छा गर्भ था । रसोई तो पौने नौ बजे हो गई थी । खाना खाने बैठे लगभग डेढ़ बजे । चूल्हा तो ठंडा करके वह लड़की चली गई थी । इतने सारे घण्टे रसोई ऐसी की ऐसी बिना गरमी के भी अच्छी ऐसी गर्म रही थी, वह हमारे दोनों के प्रत्यक्ष अनुभव की हकीकत है ।

इसलिए भावना का बल प्रचंड होता है, इससे प्रत्येक समय ऐसा ही हो सके, ऐसा कोई उसका कानून नहीं होता । यह तो कई-कई, कैसी-कैसी संभावनाएँ ऐसे आध्यात्मिक जीवन में पड़ी है, जो समझने को बतलाया है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २३८ से २४०)

● ● ●

एक जगह एक **जीव** का मौन-एकांत चल रहा था । एक दिन शाम के बाद भाई कुमार को वहाँ मौन के कमरे के आगे जप करने की सूचना दी । उसके बाद उस कमरे के आगे, दसेक मिनट जप बोलने का हुआ, फिर उन्हें ऐसा भाव जागा कि रास्ते में घर जाते-जाते जप बोलते-बोलते वे गये । घर जाने के बाद भी आधे-पौने घण्टे तक एकतानता की मंत्रमुग्ध दशा में वे रहे हुए थे । **यह जीव** भी उनके पीछे-पीछे उनके घर जाकर उनकी स्थिति देख आया था, पर उन्हें वह हकीकत की खबर न थी ।

एक बार पूज्य बुजुर्ग को एक ऐसे प्रकार की दशा प्रकटी रहा करी कि एक विचार भी मन में न फरक सके ।

इसप्रकार, जो-जो **जीव इस जीव** के संबंध में आये हैं, उनको उनको किसी तरह ऐसे अनुभव हुए हैं । जिससे उनको अपनी **जीव**दशा से कोई उच्चतर और उच्चतम भूमिकाएँ है ही, ऐसा निश्चित विश्वास से उनके दिल में दृढ़ रूप से बस जाय । यदि ऐसे जीव प्रेमभक्तिज्ञानयुक्त भाव से जीवनविकास की भावना के साधन में जाग्रत रूप से उनके प्रत्येक व्यवहार वर्तन में चेतन रह सके होते तो उनको **इस** मार्ग की कुछ अधिक सूझ पड़ती हो गई होती ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २४०-२४१)

● ● ●

इस जीव को प्रभुकृपा से साधना में लगने का हुआ और प्रारंभ में दो-एक वर्ष में तामिलनाडु प्रदेश के दृश्य स्वप्न में आते थे । हिमालय के स्वप्न तो बचपन से ही आया करते थे । तामिलनाडु प्रदेश के दृश्य स्वप्न में आया करते पर वह किस देश के हैं, उसकी तो समझ उस समय नहीं हुई थी, किसी जगह के वे दृश्य होंगे ऐसा लगता । जब '४१ की साल में पहली बार इस ओर आया, तब वह सब एकाएक ताजा हुआ था । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३०८)

● ● ●

सन् १९४४ की साल होगी । नंदुभाई केरापट्टी रहते थे । **यह जीव** उनकी ट्रिची की पीढ़ी में कुछ दिन रहने गया था । वहाँ उनके किसी संबंधी का शरीर ठीक नहीं रहता था । इससे पूज्य मामा को बतलाया कि, यहाँ जोर से नामस्मरण का यज्ञ शुरू कर सकते हैं कि नहीं ? क्योंकि बाहर ग्राहक आदि आये, और जोर से नामस्मरण हुआ करता हो, इससे उन्हें बेहूदा तो नहीं लगेगा न ? उन्होंने बतलाया कि यहाँ के लोगों को तो उलटा वह बहुत अच्छा लगेगा । मैंने कहा कि आज **इस जीव** से नामस्मरण हुआ करे, उसमें मेरी बहन अपना मन-दिल रखा करे और धीरे-धीरे नामस्मरण किया करे, चार दिन में दो-तीन शेर वजन बढ़ना हो तो बढ़े ! इसतरह प्रभुकृपा से **इस जीव** ने वहाँ पीढ़ी में सतत जोर से नामस्मरण का जपयज्ञ आरंभ किया था । उसमें **इस जीव** का जो संकल्प हो वह हो । इससे उस बहन का वजन तीनेक शेर जरूर बढ़ा, इतना ही नहीं, पर दूसरे जीव उस वातावरण में थे और जिसने सुना किया उनका वजन भी बढ़ा था । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३११-३१२)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

१२. 'मोटा' और 'स्वजन'

***इस जीव* के लिए जो प्रेम का भाव उठता है, उसका यदि साधना की प्रगति में उपयोग न हो सकता हो तो वैसे भाव साबुन के झाग के बुलबुले जैसा ही गिना जाएगा न ? प्रेम का भाव तो शक्ति है । वह हमारा उत्तम साधन है । *इस जीव* के प्रति तुम में आते प्रेमभाव का शक्तिरूप समझकर कृपाकर उसका उपयोग करने का लक्ष में लेना है ।**

तुम जो भावना *इस जीव* के प्रति रखते हो, वह 'मोटा' के नाम से पहचाने जाते व्यक्ति के प्रति नहीं, परन्तु उसमें जो 'चेतनभाव' प्रकट हुआ है, उस भाव के प्रति और उस भाव के आविर्भाव के प्रति वह भाव रखते हो । इससे दिल में ऐसे भाव की भावना को

दृढ़ करने सचेतन होओ । इतना सारा भाव रखते हो, तब भी **यह जीव** कितना निष्ठुर है ? तुम्हें प्रसन्न भी नहीं रख सकता ।

इस मार्ग में 'Thus far and no further' 'बस इतने से ही रुकना और आगे कुछ नहीं' ऐसा नहीं है ।

मेरे जैसे ठेठ अनपढ़ को, किसी एक अनजानी जगह पर पड़े हुए को तथा जिसे कोई जानता नहीं ऐसे गरीब को, तुम सभी स्वजन प्रेमभाव से न्योछावर कर देते हो, वह मेरे मन तो प्रत्यक्ष प्रभुकृपा ही है । बाकी यदि मैं विचार करूँ तो मेरे पास क्या है ? आज लोग जिसके पास कोई प्रतिष्ठा हो, कोई प्रतिभा, कोई लक्ष्मी, कोई सत्ता, कोई वैभव, कोई चकाचौंध कर दे ऐसी तेजस्विता और ऐसी कोई स्निग्ध वाक्कुशलता, कुछ साक्षरपन हो ऐसों को जाने और पहचाने सही । इसमें से मेरे पास कुछ नहीं है । मेरा व्यापार तो स्वजनों की प्रेमभावना और जीवन की कदरभावना पर ही निभ सकता है । इसके बिना मैं तो बिलकुल देनदार हूँ । एकदम बिलकुल भिखारी । प्रभु के दिये मेरे स्वजनों ने प्रेमभाव की कमी नहीं पड़ने दी है । तब भी हृदय में असंतोष की ज्वाला आज जो धधगती है, और उसमें से जो वेदना होती है, इससे मैं जला-भुना रहता हूँ ।

स्वजनों के दिल में जीवन के ध्येय विषयक ज्वालामुखी के समान छटपटी जागे यही मेरे जीवन की, फलीभूत होये बिना की महत्त्वाकांक्षा है । इसलिए ही मेरा जीवन टिका हुआ है । इसके लिए दूसरे अनेक जीवन जीने होंगे तो भी वे मुझे मुबारक है । उसे फलीभूत करने के लिए अग्निपरीक्षा में से या नर्कागार से या कैसे भी कठिन और टेढ़ेमेढ़े संजोगों से मान या अपमान से निकलना पड़े तब भी वह सब प्रभुकृपा से गनीमत होगा, यद्यपि यह प्रचंड असंतोष ही मेरे टूटेफूटे जीवन का जीवन के लिए आधार है । यह है इसलिए तो जीवन की धन्यता है । जीवन के साथ हुआ करने, प्रभुकृपा से जोकि होना हो तब भले हो, किन्तु मेरे जैसे के जीवन का यह अभागिपन और उतना बांझपन है वह कितना सालता हो और चुभता हो, वह तो जो **जीव** वैसी दशा में हो उसे अकेले को ही

उस भावना का शूल कैसा हो उसकी समझ आये । मेरा बांझपन उस परम कृपालु श्रीभगवान की मंगलमय कृपा का ही परिणाम है । यह मेरे जीवन का परम सद्‌भाग्य है, ऐसा भी अनुभव करता हूँ । जगत में स्थूल बांझपन वह शायद कलंकरूपी किसी को लगे, जबकि मेरे मन ऐसा बांझपन यह तो **इस जीव** के भाग्य का सर्वोदय के सूर्योदय का प्रातःकाल है । **उसका बांझपन रखना यह तुम सभी प्रभुकृपा से प्राप्त स्वजनों के हाथ में है । प्रभुकृपा से तुम्हें प्राप्त स्थूल ऐश्वर्य का मुझे काम नहीं । जीवन का ऐश्वर्य भी अनेक प्रकार का होता है । उन सभी ऐश्वर्यों में, जीवन के आध्यात्मिक जीवन का जो ऐश्वर्य है, उसके आगे दूसरे ऐश्वर्य बिलकुल धुँधले पड़ जाय ऐसे होते हैं । सभी स्वजनों के ऐसे ऐश्वर्यवान जीवन हो वही मुझे तो देखना है । वहाँ तक भले ही लाखों जन्म लेने पड़े, तब भी वे प्रभुप्रसादी ही होंगे ।**

जो जिस भाव से और जिस तरह प्रभुकृपा से श्रीभगवान को मनहृदय से भजता है, उसका उस भाव से और उस तरह श्रीभगवान स्वयं योगक्षेम वहन करते हैं, ऐसा श्रीभगवान का साक्षात् कौल है । वह यदि हमारे मनहृदय में पूरा उग जाय तो चेतन को प्रकट होते देर नहीं लगती । तो उस विषय में तुम सभी मिले कृपा करना जी ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १६५ से १६७)

● ● ●

जो-जो स्वजन जीवनविकास के उद्देश्य से अपनेआप मेरे पास आये हुए हैं, उन्हें मेरी प्रार्थना है, कि 'कृपा करके मुझे तुम्हारे व्यवहार से संतोष हो ऐसा चैतन्य भाव प्रकट करते रहना—जीवन में यद्वातद्वा जीकर यदि फिर तुम मेरे आगे श्रीभगवान की कृपा का नाम लोगे, तो मैं कदापि सहन नहीं करूँगा । स्वजनों के व्यवहार को सहन करने की भी अमुक मर्यादा है ।' तुम्हें यदि योग्य ढंग से व्यवहार न करना हो तो श्रीभगवान की कृपा का नाम रख देना । वह कोई भटकती नहीं पड़ी है । जगत व्यवहार में भी यदि हमें किसी को रिझाना होता है तो वह जिस तरह

से प्रसन्न हो, वैसा हम व्यवहार करते हैं । उस तरह श्रीभगवान को रुचे वैसा व्यवहार और जीवन प्रकटाने का कर सके, तब ही हमारे मिलने का अर्थ है । अनासक्ति, निर्ममत्व, निष्काम, निर्मोह, निराग्रह, निरहंकार आदि-आदि संसारव्यवहार के कर्म करते-करते जीवन में यदि प्रकटाते रहें तो वह प्रभु को रुचे ऐसी हकीकत है ।

कृपा करके आप सभी को प्रार्थना है कि जीवन में व्यवस्थितता लाओ, जो-जो कर्म प्राप्त है, उसमें यदि व्यवस्था, सावधानी, उत्साह, हिंमत, साहस, धीरज, सहनशक्ति आदि प्रकट करने का हमसे नहीं हो सका तो जीवनविकास के क्षेत्र में हम दूसरा बल कहाँ से प्रकट कर सकनेवाले हैं ? इसलिए कृपाकर यदि मिले हो, तो मिलने की सार्थकता हो वैसा भान रखना ।

('जीवनदर्शन', श्रीमोटा का निवेदन)

● ● ●

प्रभुकृपा से **यह जीव** तो मिले स्वजनों को शिक्षा देने और गढ़ने के लिए अनेक रूप से प्रयत्न करता रहता है, और मिले स्वजन पर प्रेम भी करता रहता है । जीवन को गढ़ने के लिए स्वजन की चटपटीयुक्त तत्परता और छटपटाहट जब वह नहीं देखता अथवा तो अनुभव नहीं करता, तब उसके संताप का पार नहीं होता । वे सभी स्वजन उसके पास स्वयं अपने आपकी स्वयं की मंजूरी से आये हुए हैं । वह किसी को बुलाने नहीं गया । तथापि उन स्वजनों में उनके जीवन के उद्देश्य का भान उनसे होते रहते कर्म में प्रकट हुआ मुझे नहीं दिखता और कर्म को मात्र बिना सोचे विचारे करते देखकर मुझे कितना त्रास होता होगा, उसकी समझ शायद ही किसी स्वजन को पड़ती है । यदि जीवनविकास के उद्देश्य से मिले हों, आये हों तो उसका भान अब लाओ । तुमने मुझे जिस भाव से स्वीकार किया है, उस भाव का दिल में दिल से चेतनात्मक अनुसंधान न रखो और यद्वातद्वा बरतो बाद तुम पर मुझे कितनी सारी झल्लाहट आती है, वह कृपा करके तुम समझो ऐसी मेरी तुमसे प्रार्थना है । स्वजन के प्रेमभाव को **इस जीव** का मैं तो अनमोल साधन गिनता हूँ । वह मेरे

दिल प्रभु की अनमोल प्रसादी है। और ऐसी प्रसादी को मेरी छाती, आँख, ललाट और कंठ पर लगाता हूँ—जैसा भक्त भगवान का चरणामृत लिया करता है वैसे ! ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ६९)

● ● ●

बाकी, मैं तो सद्‌गुरु हूँ अथवा उस रूप में तुम सभी मुझे स्वीकार करो ऐसा कभी भी कहा नहीं और कहता भी नहीं हूँ।

भगवान का नामस्मरण यह तो एक सरल साधन है, वह भी अभी तक किसी से योग्यरूप से हो नहीं सकता और हम तो निकले हैं हिमालय का पहाड़ चढ़ने ! हमें आलिंगन करना है तो आकाश को और एक छोटी दो फूट की जगह को तो आलिंगन नहीं भर सकते !

मुझे तो हम सभी के ढोंग देखकर दिल में एक प्रकार का बहुत दुःख होता है। मनुष्यों को कहीं कुछ करना नहीं और खाली-खाली कुछ महत्त्व पाने के लिए व्यर्थ प्रयास करते है ! तब भी स्वयं को होशियार गिनाने घमंड रखना है, अनेक प्रकार के अभिमान रखने हैं और **अहम्** हिमालय से भी बड़ा रखा करना है ! ये सारी हकीकत मैं स्वजन के दिल में देखता हूँ। किसी को जीवन की सचमुच की पड़ी हो ऐसा मैं अनुभव नहीं कर सकता। 'जीवन', 'जीवन' की केवल आवाज लगाने से वह कभी भी पा सकनेवाला नहीं। **जीवन पाने के लिए तो बड़ी तपस्या की जरूरत है। वैसा तप करने का उत्साह किसी स्वजन के दिल में मैं देख नहीं पाता।**

तब भला ! तुम सब निकले थे क्या करने ? किसने तुम्हें बुलाया था ? और यदि तुम अपनेआप आये हो, तो जो काम करने के लिए आये हों उसके लिए सावधानी रखो। जीवनविकास तो माँग लेता है, कठिन से कठिन, उच्च से उच्च कोटि का प्रचंड पुरुषार्थ। जीवनविकास यह कोई रास्ते में पड़ा टकराता-भटकता कोई फूल नहीं कि नीचे झुककर ले लें। वह तो मिलने जैसा लगे तब भी वापिस उड़कर दूर किसी शानदार रूप से आकर्षण जगाकर हमें आकर्षित करता रहता है ! इसप्रकार का जीवनविकास प्राप्त करने के लिए बिन बुलाये तुम सभी मेरे पास आये

हो और जीवन का घाट गढ़ने का अधिकार तुम सभी ने प्रेम से मुझे सौंपा है । घाट कैसे करके योग्य रूप में गढ़ सकें उसका निर्माण तो प्रभुकृपा से मुझे करना है । **अनेक बार मैंने स्वयं भरोसा करके अनुभव किया है कि जीवनविकास के लिए ऐसा करने या वैसा करने की कोई जीव को सूचना की हो, उसमें भी वैसे कोई जीव ने प्रेमभक्ति से और दिल की उमंग से किसी प्रकार की वृत्ति जन्म लिये बिना उसे उत्साह से स्वीकार कर लिया हो, ऐसा अभी तक अनुभव में नहीं आया । ऐसी हकीकत यह अवश्य जीवन की कमनसीबी है ।**

हमारी सचमुच की तैयारी न होने पर भी मन की मिजाजी और तरंगें ध्यान से देखते हमारा जीव कैसा पामर है, स्वयं को होना है कुछ, पर करना नहीं कुछ भी, ऐसी हमारी दशा है—ऐसा देखकर बहुत दुःख होता है । मनुष्य स्वयं को अमुक करना है, ऐसा कहता है सही, परन्तु वैसा करने में भी उसका दिल प्रकट हुआ हो प्रभुकृपा से मैं देख नहीं पाता हूँ । स्वयं को होना है तो संपूर्ण रूप से स्वच्छ । तब भी दुर्गंध से भरे ऐसे कीचड़ में बारबार लिपटता रहता है और वापिस फिर वह स्वयं स्वच्छ होने का गुमान रखता है । यह सब जब प्रभुकृपा से ध्यान से देखता हूँ, तब मुझे मेरे गुरुमहाराज याद आते हैं । उन्होंने मुझे कृपा करके डंडा देने का किया था, परन्तु मुझ मूर्ख ने उसे स्वीकार्य ही नहीं किया । स्वयं अवश्य सच्चे थे और मैं स्वयं न स्वीकारने में गलत था । वह डंडा प्रभुकृपा से यदि मेरे पास होता तो मिले हुए की मिजाजी को डंडा मारकर बिखेर देता, परन्तु इसप्रकार की भिन्न प्रकार की मिजाजी तोड़ने के लिए डंडा केवल भी बस नहीं । मेरे पास बेकार-बेकार के कोई न आते यह भी उत्तम होता । यह तो लोग आये हैं अपनेआप, करना तो कुछ नहीं ! अपने मनादिकरण को सीधा करना तो ओलती पर रखा है ! इससे भी अधिक विशेष से विशेष जो त्रास मुझे होता है, वह तो सभी स्वजन उनके मनादिकरण को बिगाड़ते रहते हैं, इससे अनेक प्रकार के मल, विक्षेप और आवरण को हटाना है । वहाँ वे उसमें जोड़ते ही रहते

हैं ! किसी में कोई समझ, मान्यता, मताग्रह आदि कुछ कम हो, वहाँ उसके स्थान पर दूसरे प्रकार का ऐसा आता है कि उसकी पकड़ फिर से जमती जाती है । पुराना जाये और नया आये और वह भी घर कर न बैठे उसका भी बहुत ध्यान रखना होता है ।

स्वजन के मनादिकरण का खेल प्रभुकृपा से जब-जब नजर के सामने आता है, तब उसमें नहीं देख पाता दिल का उत्साहभरा प्रेमभाव या नहीं देख सकता किसी प्रकार की निर्णयशक्ति या नहीं परख में आता जीवन को उन्नत करने का सच्चा उत्साह । यह सब मुझसे सहन नहीं होता । यह तो मानो कि तुम मुझे सुख देने के बदले बड़ा दुःख दे रहे हो । और फिर उसका भी तुम्हें भान नहीं होता या होता नहीं । हम अपनेआप किसी को सद्गुरु के रूप में स्वीकारें तो उन सद्गुरु को अपने व्यवहार से, अपनी भावना से उसे पूर्ण संतोष देना हमारा धर्म है, पर वह तो सब कहीं उड़ जाता होता है । अभी तो जीवन को उच्च मार्ग पर ले जाना है, ऐसा हम बोलते हैं पर लोगों के रागद्वेष अभी तो पूरीतरह फीके पड़े मैं अनुभव नहीं कर सकता हूँ । वहाँ मुझे करना क्या ? जड़ जैसे पत्थर के साथ सिर फोड़ने से अपने सिर में लगता है, उसके जैसी यह हकीकत है । ('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १४९ से १५१)

खाली-खाली तुक्के किये करने से जीवन को कभी पा नहीं सकते, इतना ही नहीं, पर उससे तो जीवन व्यर्थ हो जाता है। उच्च आदर्श रखकर उसके प्रति एक कदम के लिए भी यदि उत्साह से हमारे दिल में न्योछावर हो जाने की भावना का उत्साहभरा नृत्य प्रकट हो तो ही हम से कुछ हो सकेगा ऐसा मुझे जरूर लगता है । सूर्योदय होता है, तब सूर्य की प्रभा के दर्शन हुए बिना नहीं रहते, उसी तरह महाभिनिष्क्रमण करना हो या होनेवाला हो तो उसकी पूर्व तैयारी रूप हम से जो कुछ कदम उठाये जाते हो उसमें उसका व्यक्तव्य प्रकट हुआ यदि अनुभव हो सकता हो तभी समझना कि हमारे मन का सच्चा उत्साह जीवन को उन्नयन करने में प्रकट हुआ है । हम से भरे जाते छोटे से छोटे कदम में से हमें परख

आना चाहिए कि वह कदम भरने में हमारे मनादिकरण की स्थिति कैसी-कैसी प्रकट होती जाती है। वैसी-वैसी उस-उस क्षण का माप निकालना सीखो । यदि हम ऐसा नहीं कर रहे तो हम पूरी फजीहत करेंगे । **यह** मार्ग कोई हँसीखेल नहीं । और हम अभी कैसे-कैसे खेल खेलते हैं, उसका भी पूरी तरह भान न जाग सकता हो तो हम अपने आपको ही छल रहे हैं, यह निश्चित जानें। हमें तो सुगंधीदार फूलों की सुवास पलपल लेनी है, और अनेक प्रकार की दुर्गंध आये ऐसे मनादिकरण के खेलों में अभी तो हम रुक जाते हैं ।

प्रभुकृपा से तुम यदि मेरे सचमुच के स्वजन हो तो, मेरे ऐसे दिल के जलेभुने संताप को कृपा करके निरखने का करो । इससे भी यदि तुम चेत सको तो वह बड़ी कृपा होगी । हमें जहाँ जैसे जाना है, वहाँ वैसे जाने की तैयारी न कर सके, तैयारी करने के बदले हम नीचे जाते हों, और वैसा नीचे जाने में भी उस तरह नीचे जाने की सभानता भी न आती हो और वहाँ युद्ध देना हम से न होता हो, तब मुझे अपने जीवन के प्रति भावना को किस प्रकार समझना है वह मुझे समझ नहीं आता । प्रत्यक्ष लक्षण बिना कुछ भी मुझ से माना नहीं जा सकता । इसलिए कृपा करके उठो ! जागृत बनो । और जागकर सीधे हो जाओ । और सीधे होकर तैयार होकर विचार, वृत्ति और व्यवहार के सामने अधिक के अधिक संग्राम करों । जीवनसाधना का संग्राम यह तो तलवार की धार पर खेलना है और वह माँग लेता है अधिक से अधिक पौरुष । यह पौरुष का उत्साह अनंत प्रकार का और अनंत बल-शक्ति का है । इसमें व्यर्थ प्रयत्न से कुछ भी न आ सकेगा। मुझे तुम सभी को घबराहट देना नहीं है, परन्तु जो सच है, वही कहना है । हम जो करने के लिए प्रभुकृपा से मिले हैं, वह करने के लिए तुम यदि सभानता न जगा सकते हो, और उसमें तुम्हारी हिंमत, उत्साह, सँभाल, मेहनत और सावधानी न रख सकते हो, और वैसी तुम्हारे दिल की चाहना तुम्हारे में हो ही नहीं तो हमें उसे छोड़ देना उसमें सच्ची प्रामाणिकता है और हम उस मार्ग के स्वजन रूप नहीं, परन्तु जैसे सामान्य प्रकार के दूसरे मनुष्य

प्रभुकृपा से मुझे मिले हैं, करते हैं वैसे एक सामान्य मनुष्य रूप रहें, वह हमारे लिए वैसी स्थिति में अधिक योग्य है ।

मुझे तो प्रभुकृपा से जिस हेतु के लिए जो-जो मिले हैं, उन्हें-उन्हें अनेक रूप से ऐसे और वैसे उल्टे सीधे फेर-फेरकर भी हिलाते रहना है । उलटपलट हुए बिना जमीन में बीज कभी नहीं बोये जा सकते । **श्रीसद्‌गुरु के प्रति दिल में दिल से दिल की प्रेमभक्ति आये बिना और वैसी प्रेमभक्ति की तदात्मता आये बिना श्रीसद्‌गुरु भी हमारे में जीवनविकास की भावना का बीज बो नहीं सकता । श्रीसद्‌गुरु की तो देने की और बीज बोने की हमेशा सहज तत्परतायुक्त छटपटाहट ही होती है । वैसी छटपटाहट में निरंतरता भी प्रकट हुई ही होती है ।** पर वह क्या करें बेचारा ! उसकी भी कैसी-कैसी लाचारी है, यह कौन समझ सके ? मैं तो प्रभुकृपा से आये आत्मनिर्धार से अवश्य कह सकता हूँ कि कोई भी स्वजन जीवनविकास के प्रति सचमुच ज्वालामुखी जैसी धधगती तमन्ना लाकर अपने आधार को प्रपत्तियोग के योग्य शरणागति की स्थिति में लाकर देखे और पश्चात् उसे श्रीसद्‌गुरु की कितनी और कैसी मदद मिलती है, वह स्वयं ही अनुभव कर ले । अभी हमें तो साधना की भावना के प्रकार का कुछ प्रारंभ तो किया नहीं, और ऊपर से श्रीसद्‌गुरु को धक्के मारते रहते हो, वह कहाँ की बात ! संसारव्यवहार में हमें मिले किसी को भी यदि हम बिना काम के धक्के मारेंगे तो वह सहन करेगा क्या ? और क्या उस प्रकार के व्यवहार का परिणाम नहीं आयेगा क्या ?

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १५२ से १५५)

श्रीसद्‌गुरु भी उस तरह सब सहन कर लेंगे वैसा तो कृपा करके कभी मानना ही नहीं । हमने उन पर किया दोषारोपण हमें स्वयं को ही विशेष हैरान करनेवाला हो सकता है यह भी ठोस हकीकत है । हम उसके विषय में जो-जो कुछ अन्यथा रूप से सोचते होंगे, वैसा-वैसा और उस तरह स्वीकार नहीं करता, इसलिए उसके प्रति जगी हमारी वृत्तियाँ उसके पास से वापिस लौटकर हमारे अपने

में ही वापिस प्रवेश करती है । इसप्रकार द्विगुणित, त्रिगुणित होकर उसका जोश विशेषरूप से पकड़ सके ऐसी उल्टे प्रकार की संभावना को हम स्वयं ही जन्म देते रहते हैं । उसका भान रखने तुम्हारे प्रति प्रेमभावना से प्रेरित होकर यह लिखता हूँ ।

प्रभुकृपा से मैंने संपूर्ण होने का दावा कभी नहीं किया, परन्तु तुमने मुझे अपने आप ही सद्‌गुरु के रूप में रखा, तो फिर उसके प्रति तुम्हारी भावना का वर्तन यदि न कर सको, तो वैसे स्वजन की श्रीसद्‌गुरु के प्रति की भावना का दूसरा क्या लक्षण परखना कि जिससे उसकी सही समझ आ सके ? यह लिखा है एक व्यक्ति को पर वह सभी स्वजनों को लागू होता है । जीवन के प्रति दृष्टिबिन्दु सही रूप में हो और उस ओर स्वजनों का लक्ष प्रेरित हो ऐसी मेरी धधगती तमन्ना को तुम सभी यदि प्रेमभक्ति से स्वीकार कर सको तो वर्तमान जीवन वेग और गति दोनों पकड़ लेते हैं । अरे ! इतना भी जाने दो, परन्तु तुम मुझे अपने दिल का एक सचमुच का, सही स्वजन गिनते हों और यहाँ प्रेम के भाव की बात जाने दो, तुम सभी को **इस जीव** के प्रति हृदय की भावना ही मात्र यदि हो, तो उसे कैसे करके हम अपने व्यवहार से खुश रख सकते हैं और संतोष दे सकें ऐसी भावना तो आनी चाहिए न ? तुम सभी ने मुझे स्वजन रूप स्वीकारा हो तो उसका भी माप-लक्षण तुम्हारे मेरे प्रति व्यवहार में आना चाहिए कि नहीं ?

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १५७-१५८)

इसलिए मिले हुए स्वजन को मेरी इतनी विनती है और प्रार्थना है कि कठिनाई, विघ्न, उलझन, पहेली, उपाधि आदि आने पर कृपा कर मरद बनना । और उसका साधना के भाव से प्रचंड सामना करना । कठिनाई के समय विशेष से विशेष सावधान होना । भावना को प्रज्वलित जीती-जागती रखना । कठिनाई आदि किसलिए आयी है, उसके हेतु का समझ समझकर भान रखना । यह सब करने की खास जरूरत है । प्रयोग करने से ही तारतम्य समझ में आता है और प्रयोग किया करने से ही नया- नया अनुभव होता है और नया-नया सीखने को मिलता है । इसलिए कृपा करके मरद बना करो । उसके

बिना कभी भी नहीं चल सकता, ऐसा कृपा करके भान प्रकट करके रखो, और उस तरह जीने का कर सको तो मुझे तुम पर प्यार आये ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १७२)

हमें अनेक तरह से, जीवन के सभी पहलुओं में जीवन की साधना का भान रखना है, परन्तु वह प्रकट हुआ या प्रकट होते हुए किसी स्वजन के दिल में मैं अनुभव नहीं कर सकता हूँ । क्योंकि सचमुच की साधनायुक्त, तत्परतायुक्त छटपटाहट और गरज किसी में प्रकट हुई अनुभव नहीं करता । 'तो फिर यह सभी मिले क्यों ?' ऐसा पूछो तो मेरा उत्तर है कि उस प्रकार की उस-उस काल की कोई आवेश की भूमिका में तुम आ चढ़े थे । अभी भी तुम्हारा **इस** मार्ग में जाने का दिल न बना हो, तब भी उस क्षेत्र के साधन के अभ्यास में लगे रहने का किया करो। जो उसमें ही उसमें किसी न किसी तरह लगा रहे और लिपटा रहा करता है, वह आज नहीं तो कल प्रभुकृपा से सफल होगा ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १७८-१७९)

हमारे बीच का संबंध, जो-जो भ्रमणाएँ और अहम् आदि के वृत्त में हम पड़े हों, उसमें से मुक्त कराने के लिए है, नहीं तो संबंध का कोई अर्थ नहीं । खाली तुम **इस जीव** को बहुमान दो और वाणी से या भाव के अतिरेक से उसके विषय में जो कुछ व्यक्त करो, इससे हमारा संबंध फलीभूत नहीं होता । **इस जीव** के साथ के संबंध का हेतु तो यह है कि वह-वह स्वजन जिसके लिए प्रभुकृपा से मिले हो, उस हेतु की भावना का जीवन में सातत्य प्रकट करने में वे लगा रहे, और ऐसे संबंध का हेतु कैसे फलित होता है वह देखना है । उसमें जहाँ और जब भावनाओं को सहलाना पड़े वहाँ वैसा करना होता है और आघात की जरूरत होती है, वहाँ वैसा करने में कोई खटका **इस जीव** को नहीं होता । स्वाभाविक रूप से उस तरह व्यक्त होने में मुझे कोई विचार भी नहीं आता है । आघात देने से या आघात को वाणी में या लेख में व्यक्त होने में वह स्वजन अथवा उस समय पास में हो वैसे **जीव** मेरे बारे में क्या सोचेंगे वह सब प्रभुकृपा से ख्याल में होने का नहीं बन

सकता । संबंध का हेतु पूरा करने में हमें तो सकल प्रकार की रीतिओं की जरूरत है । प्रभुकृपा से वृत्ति—वह प्रत्यक्षरूप से वृत्ति रूप भाव होने पर भी उसके पीछे की चैतन्य गूँज गूँजती हमारे दिल का उस तरह व्यक्त होने का हेतु है, उस हेतु का ही महत्त्व हमारे दिल से सविशेषरूप से रहता है ।

मेरे गुरुमहाराज तो मुझे शत्रु की तरह चिपके थे । कितनी ही बार कड़वी गोली प्रेम से उन्होंने दी है । कितना ऐसा करवाया है कि जिससे तुम सभी तो चौंक भी जाओ । श्रीभगवान कृपालु हैं । वे हमारी आँखें और हृदय खोलने को सदा जीवंत है । उनके रास्ते भी न्यारे हैं । **इस जीव** के हिस्से प्रभुकृपा से यदि तुम्हें प्रेम से दुःख ही देना आया करे, तब भी उसमें भी इतना ही आनंद से हिस्सा लिया करना है । उसमें भी प्रसन्नता हो । हमें तो एक इंच जितना भी डिगना नहीं है और उसे तो हमें वहाँ से खिसकाना है । एक ओर हमें जड़त्व होकर पूरी तरह पड़े रहना है और उसको वहाँ से धक्के मारकर भी उसमें से धकेलना है । ऐसा एक खेल है, परन्तु उसका सही भान कृपा कर हम प्रकट न कर सके, तो वह क्या कर सके ? तुम्हें अच्छा लगे या न लगे, उसे उसकी बिलकुल परवाह नहीं है । वह तो अपना मन माना करने में एक-सा प्रभुकृपा से मथता रहता है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. १९६ से १९८)

मुझे तुम सभी को निराश तो नहीं करना है, परन्तु मुझे तुम्हें हम सभी कैसे हैं, उसका भान तो प्रभुकृपा से कराना ही चाहिए । **हमने जो काम हाथ में लिया है, उसे करने की सचमुच की दानत, तनदिही, उद्योग और उसके प्रति उत्साह आदि-आदि रखते हुए हमें, मैं न देखूँ तब क्या मुझे हाथ जोड़कर बैठे रहना ? जिस रास्ते जाना है, उसका ही भान तुम सभी को भूलते हुए देखकर मेरा चले तो तुम्हारा गला दबाकर भी तुम्हें वह भान करवाऊँ ।** सच में तो तुम सभी को स्वयं ही इस विषय में जाग्रत होना चाहिए और उत्साह लाना चाहिए । वह सब न होता हो, तब यदि मैं तुम सभी पर आँख लाल

करूँ, तब तुम तो उल्टा मुझ पर दोष डालते हो । **अरे ! यदि सचमुच मेरा चले तो धधगते लोहे का लाल अंगारे जैसा रस तुम सभी पर डालूँ, क्योंकि हम सभी अपने आपको छल रहे हैं, वह मुझ से कभी भी सहन नहीं होता ।** प्रभुकृपा से मैंने अपने आपको साबित करके तुम सभी के आगे खोल रखा है । किसी के यहाँ हम सभी नौकरी करते हों और यदि वह काम ठीक से न करे, तो क्या वह हमें ऐसे ही बिठाकर रखेगा क्या ? वह तो तुरन्त ही बिदा कर देगा । वहाँ वह कोई तुम्हारी भूल या दोष सहन नहीं करेगा । हम तो साफसाफ, शुद्ध कहते हैं कि कर्म विषयक हम कोई कुछ उल्टासीधा किसी का सहन नहीं कर सकेंगे । यदि तुम्हें सचमुच मेरे प्रति भावना या प्रीति प्रकट हुई होगी, तो उससे प्रेरित भी तुम योग्य होने यत्न कर सकोगे । उलटा मुझे स्वयं को तो उससे तुम्हारी मुझ पर की प्रीति और भावना कैसी और कितनी है वह भी प्रभुकृपा से समझ आ जाएगा । तुम सभी जिस काम के लिए आये हो, वह यदि न कर सकते हो, तो फिर खाली वेश करने का क्या अर्थ ? खालीखाली बकरी के गले के आंचल जैसे चिपकने का भी अर्थ क्या ?

मैं जो प्रेमभक्ति माँगता हूँ, वह तुम्हारे अपने हित के लिए । मुझे स्वयं उसकी जरा भी परवाह नहीं, कृपा करके मेरे साथ रहने का यदि करना हो; तो हम सभी को पलपल चेतते रहना चाहिए । ऐसे प्रकार की जागृति जब मैं साधना के मार्ग में काम करने निकले हुए **जीवों** में देखता नहीं, तब भी जो लोग 'साधना के पथ पर हैं' ऐसा मानते हैं, तब उनके दंभ को धिक्कारना मेरे सर्व प्रकार के जोर से मैं प्रयत्नशील रहता हूँ तो उसे मैं भगवान की कृपा समझता हूँ । **सच्ची भावनावाला और प्रेमी तो उसका नाम कि सामनेवाला हमारे प्रति ऐसा जो व्यवहार करता है, उसका मूल कारण तो हम में ही होना चाहिए ऐसा देखें ।** वह यदि जाँचने का रखेंगे और सोचने का रखेंगे तो वह अपनेआप मिल जाएगा । कृपा करके देखो कि हम सभी मिले हैं वह अब तक बहुत सोये हैं । एलार्म बजता है, तब भी जागते नहीं, इसलिए झिंझोड़कर उठाना पड़ता है, तब उस उठानेवाले को दोष तुम देते हो !

यह कहाँ का न्याय ? जो काम हमने सिर पर लिया हो, उस काम के प्रति सचमुच की मनोवृत्ति, प्रामाणिकता और वफादारी की परीक्षा होती रहेगी ही ।

इस मार्ग में सिर पर हाथ रखकर बैठे रहो यह नहीं चलेगा । शीघ्रता से ऐसा पुकारने से नहीं चलेगा, 'नहीं, हम से तो सुधरा नहीं जाएगा !' भले वह क्षणिक आवेश से बोला गया हो, परन्तु हमें वैसा बोलने से ही उस-उस **जीव** के सत्त्व की और उसके आधार की तैयारी समझ आ जाती है । जैसे कोई व्यापारी के यहाँ जमा हुई रकम भी और उधार रकम भी किसी के मात्र 'जाने दो' ऐसा कहने से छूट नहीं सकती वैसे जो **जीव** श्रीसद्गुरु के पास गया हो और वैसे **जीव** ने उसे श्रीसद्गरु के रूप में स्वीकार किया हो, तो वैसा **जीव** वैसा मात्र बकने से कोई श्रीसद्गुरु की भावना से और दिल से अलग नहीं हो सकता ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २३४ से २३७)

मेरी तुम सभी को हृदय से प्रार्थना है कि तुम सभी मुझे प्रभुकृपा से यदि मिले हो, तो मुझे अब सचमुच का सहकार दो, मेरे जीवन का स्वीकार किया हुआ जो कर्म है, उस कर्म को गौरववान बनाने के लिए तुम सभी उत्साह, होशियारी, सँभाल आदि सभी नदी के पूर के समान दिखाओ तो तुमने मेरी सच्ची सेवा की गिनी जाएगी । वह सेवा भी हमारे अपनेअपने जीवनविकास के हेतु से अपने लिए करनी ही है यह भी निश्चित जानना ।

मैं तो किसी का कुछ भी ऋण भगवान की कृपा से सिर पर नहीं रहने देता । अभी तक के समय दौरान किसी की भी भावना, मनोभाव, उत्साह और मुझे की गई मदद का मैंने प्रभुकृपा से वैसे ही उत्साह से प्रतिउत्तर दिया है । मेरा हजार हाथवाला समर्थ स्वामी मुझे किसी के भी ऋण में नहीं रहने देता । किसी ने भी की हुई मदद से या सेवा से **यह जीव** कभी भी लद जाता नहीं है अथवा तो किसी के भी किये उपकार से वह आभारविवश भी नहीं हो जाता । लेना और देना दोनों प्रक्रियाएँ सतत चलती रहती हैं । आज तुम सभी स्वजनों को सरे बाजार कहता

हूँ कि प्रभुकृपा से हम जो लेते हैं, उसके बदले रूप तो नहीं ही, परन्तु भावना के सामने प्रतिभाव रूप हमारा भगवान हमें कृपा करके बरत सकने को पूरीतरह चेतनमय समर्थ बैठा है । तुम मानो कि सेवा न कर सको तो कोई बात नहीं, परन्तु तुम जिस प्रकार का अन्यथापन लाते हो और मन में ही मन में दोषारोपण किया करते हो, इससे तुम्हारा अपना ही पतन होता रहता है और वह मुझे विशेष रूप से इतना अधिक वेदनापूर्ण सालता है ! इससे तुम्हें जाग्रत करने, चेताने को और फिर से भावना में सजीवन होने प्रभुकृपा से उलाहना देता हूँ ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. २३९-२४०)

प्रभुकृपा से *इस जीव* के श्रीसद्गुरु इतने अधिक समर्थ थे कि उनश्री ने यदि चाहा होता तो इस गधाशंकर उनकी सहज कृपा के संकेत से चेतना में प्रतिष्ठा पा सका होता, उन्होंने कृपा करके *इस जीव* को साधना के अनेक प्रकार की दशाओं में से प्रवेश करवाकर गढ़ा । जो-जो स्थिति, संयोग, परिस्थिति उनकी कृपा से मिले, उसका हृदय के उल्लास से स्वीकार कर उसे-उसे दिल के भक्तिभरे सहकार से स्वागत कर उसमें यथायोग्य व्यवहार कर उनके हेतु को फलीभूत करने प्रभुकृपा से ज्ञानभाव से मथना हुआ किया, तभी आज जो हूँ वह हूँ। इसीसे ही तुम सभी को मेरी प्रार्थना है कि तुम सभी जीवन को स्वीकार कर जो-जो कुछ मिले उसका सहर्ष स्वीकार कर, उसे ज्ञानभाव से सहकार देकर जीवन को फलीभूत करने का ज्ञानभान रखकर, चेतना को लाने के लिए योग्य भूमिका सरल कर देने का किया करो, तभी श्रीसद्गुरु की कृपा फलीभूत हो सकेगी । बाकी, मिथ्या आडंबर में पड़े रहने से तो दंभ बढ़ेगा ही । हमें श्रीसद्गुरु के भाव को सानुकूल बरतने का ज्ञानभान भी नहीं रखना, श्रीसद्गुरु की खातिर सर्वभाव और सर्व तरह से प्रेम-उमंग से प्रेमभक्तिभावपूर्वक न्योछावर हो जाने का दिल प्रकट हुआ नहीं है । वहाँ श्रीसद्गुरु जो तो सभी कर देंगे, ऐसी मान्यता में निरा अज्ञान और दंभ है । श्रीसद्गुरु का चेतन हमारे आधार में कभी ऐसे अचानक प्रसंगों में काम करते निश्चित रूप से अनुभव होता है, यह

हकीकत सच है, परन्तु इससे हमारी योग्य लायकात प्रकट हुए बिना चेतनमय कर देगी ऐसा मानना यह मिथ्या है ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ३७१)

मैं तो अपने प्यारे प्रभु को बहुत बार प्रार्थना करता हूँ कि 'ये सभी स्वजन जिस अर्थ से मिले हैं, उन्हें कृपा करके सच्चा भान लाना कि जिससे उन्हें यथार्थता का सच्चा नग्न ज्ञान आये । उस अनुसार उनसे वह अंत:करण से सही तरीके और पूरी तरह से स्वीकार हो तभी वे अपने योग्य जीवन में प्रकट हो सकते हैं ।'

एक समय ऐसा भी आएगा कि जिस समय ऐसे सभी स्वजन पछताएँगे 'प्राप्य पुरुष की हमने अवगणना की । उसे योग्य साथ में न रख सके । हमने जिस अर्थ से उसे स्वीकार करना किया था, उस अर्थ से योग्य उपयोग करना हमें सूझा ही नहीं ! उसे हम पूरा भी न समझ सके । वह था तो पास का पास ही । पर उसे सही पूरा देखा भी नहीं, तो अनुभव तो कहाँ से संभव हो ?' ऐसा कुछ-कुछ स्वजनों को अवश्य होगा ही । उस समय जो पछतावा होगा उससे कुछ हाँसिल न होगा । जो कोई **जीवित** को मानते नहीं या मान नहीं पाए, वे उसके जाने के पश्चात् उसे क्या मान सकनेवाले हैं ? राम राम करो । इसलिए जिसे मानना हमने स्वीकार किया हो, उसे उसके जीवित जिंदगी तक में योग्य रूप से समझ लें और वह भी उसे संपूर्ण यथार्थ रूप में सही रूप से समझें– वापिस समझकर उसका जीवनविकास के साधन रूप ज्ञानभक्तिपूर्वक जितना उपयोग कर लें उतना उत्तम है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १३१)

तुम सभी के योग्य जीवन को विकसित करनेवाले साथ की मुझे कितनी आवश्यकता है ! मेरी उस प्रकार की भूख कैसी और कितनी सारी है ! उसे कौन संतोष देता है ? उस बिचारे को तो सभी कोई भूखे का भूखा ही रखते हैं । उसकी दया किसी को भी नहीं आती । **किसी को ऐसा भी विचार नहीं आता है कि हमारी अनेक प्रकार की टेढ़ीमेढ़ी करणी से, विचारसरणी से, अनेक प्रकार के उठते**

वृत्ति-विचारों से जागते प्रकरणों से उसे क्या-क्या होता होगा ? उसका ऐसा योग्य विचार भी अपने दैनिक व्यवहारवर्तन में कौन करता है ? अनेक तो उसका खून करते होते हैं । कोई-कोई तो फिर उसका गला दबाकर उसे रुँध देते हैं । यह हकीकत कपोलकल्पित नहीं है वैसे ही कल्पना की भी नहीं है । किन्तु अनुभव की सच्ची हकीकत है पर उसे कौन माने ?

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १३३-१३४)

● ● ●

हृदय से किया और झिझके बिना किया साफ, पूरा ठाला गया आत्मनिवेदन—यह हमें अत्यधिक प्यारा लगता है । ऐसा **जीव** हमारा स्वजन हो चुका है । उसे फिर भले ही मिलना हो या न हो, भले न वैसा **जीव** अपने जीवनचक्र में हमें भूल गया हो, परन्तु वह हम से भुलाया नहीं जा सकता ।

भाव से दिये या दिया जाता हृदय, वह तो उसे उसमें जीने के लिए खुराक है । इससे देना हो तो हृदय के पूरे उत्साह से, अपने जीवनविकास के हेतु के लिए, किसी भी प्रकार की अंदर या बाहर की (स्थूल-सूक्ष्म-कारण) शरत बिना बस देना । जिसमें पारदर्शक भाव से टपकता, उत्साह से छलकता हृदय नहीं, वह हमें खपता नहीं ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३०६ से ३०८)

जो कोई अपने आपको मदद करता है, उसे भगवान अवश्य मदद करते हैं यह निश्चित मानना । तुम्हें उस समझ का अनुभव होगा ही । तुम पर मेरा **जीव** खुश रहता है । तुम लगे रहना । हिंमत रखकर वह वह करते रहना । 'हिंमते मर्दा तो मददे खुदा' ऐसी एक कहावत है । हिंमत से मरद बनकर यदि मरद बनेंगे तो श्रीभगवान की कृपा-मदद तो है ही । **तुम 'मोटा' को खूब याद किया करना । यदि हृदय के सच्चे भाव से 'मोटा' को याद करोगे तो 'मोटा' ये कोई मिट्टी का खाली पुतला नहीं है । जैसे सभी किसी में चेतन है वैसे उसमें जागता चेतन**

है । उसका तुम्हें अनुभव होगा । एक बार 'मोटा' का तुम्हें हृदय से अनुभव हुआ तो तुम्हें बहुत ही हिंमत आ जाएगी, फिर तुम 'मोटा' को कभी भी छोड़ न सकोगे । इसलिए जो उपाय बताये हैं, उन्हें करते रहें और भगवान का नाम लेते रहें । हृदय से प्रार्थना करते रहें ।

तुम्हें मेरे हृदय की विनती है कि बताये हुए साधन उमंग से, उत्साह से, शांत और प्रसन्नचित्त से करते रहोगे तो ही कुछ परिचय होने का अर्थ सिद्ध होगा । नाम की महिमा अपार है, यदि कुछ भी करते-करते उसका लगातार स्मरण जीवित कायम रह सके उतना किया करें । उसका स्मरण जीवित होते उसमें भाव भी प्रकट होने लगेगा । अभी तो सारा ही महत्त्व श्रीभगवान के स्मरण को ही दिया करना है । जीवन का यही हमारा महत्त्व का काम है ।

मेरा स्वभाव बहुत ही परवाहवाला होने पर भी साथ-साथ वह उतना ही वापिस बेपरवाहवाला भी रहा करता है । इसलिए उस प्रकार की होती व्यक्तता से उसके विषय में कभी भी गैरसमझ न होती रहे यह देखने की विनती है । ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ९५-९६)

● ● ●

तुम सभी के परिचय में प्रभुकृपा से थोड़ा-थोड़ा करके भी आना हुआ है, तो मेरे जैसे टूटे-फूटे की प्रेमसँभाल रखें जी । इसका जरा भी कुछ क्रोधित होकर, रागात्मक, मोहात्मक, प्रेम से या कोई दूसरी तरह कुछ लगे, तो उसके लिए कोई उलझन न रखने प्रार्थना है । प्रभुकृपा से इतना तो प्रभु को हृदय में रखकर कह सकता हूँ कि श्रीगुरुमहाराज के कृपाबल से जो कुछ **यत्किंचित्** श्रीप्रभु की कृपाचेतना के आधार पर प्रकट हुआ है, वह मेरे मन में ठोस हकीकत के रूप में है । उसके अनुभव भी कुछ **जीवों** को प्रभु ने करवाये हैं ।

मुझे किसी के धन की भी परवाह नहीं है । धन की ऐसी लोलुपता नहीं है । जीवन में धन की कभी आकांक्षा नहीं रखी और सत्ता का तो शौक कभी रहा ही नहीं ।

हाँ, **इस जीव** में एक प्रकार का हुंकार है, परन्तु वह हुंकार और जीवपन का 'हुंकार'–इन दोनों में अंतर है। ऊपर बताया हुंकार, वह **जीव** प्रकार के अभिमान की भूमिका पर का नहीं होता। वैसे वास्तविक हुंकार में मद भी नहीं वैसा सात्त्विक हुंकार तो ज्ञान के व्यक्तपन में से प्रकट होता है, जैसे फूल खिलते सुवास स्वयं ही जन्म लेती है वैसे उसमें सहजता है।

यह जीव अपने आप को तुम सभी पर थोपना भी नहीं चाहता। ऐसी मरजी भी नहीं है। किन्तु इस प्रश्न को या हकीकत को एक आध्यात्मिक मार्ग के प्रयोग रूप में यदि **इस जीव** को गिनना चाहते हों, तो जैसे युरोपादि देशों में कोई वैज्ञानिक आविष्कार के प्रयोग करनेवाले को, जैसे वहाँ का समाज प्रोत्साहन, मदद, सहानुभूति, प्रेरणा, ऊष्मा, आधार, सुविधा, साधन प्रेम से कर देते हैं, उसी तरह **इस जीव** को कुछ महत्त्व रखनेवाला मानने विनती है। **इस जीव** का भी जीवनविकास के प्रयोग का यज्ञ उसकी प्रत्येक भूमिका में से गुजरते होते होते अखंड रूप से श्रीप्रभुकृपा से चला ही करता है। **वह किसी का कुछ चाहता नहीं। नहीं माँगता धनदौलत, सत्ता या ऐसा दूसरा कुछ। माँगता है तुम सभी के हृदय का निर्मल प्रेमभाव, तुम सभी के हृदय का उत्साहभरा सत्कार, स्वीकार और सहकार। इतना यदि हो सके तो तुम्हारे जीवन में हिस्सा ले सकने की इस जीव में प्रभुकृपा से जो कोई शक्ति हो, वह सार्थक (उपयोगी) हो सके।**

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३११ से ३१३)

● ● ●

१३. लीलाकला

'हमारे चाहने जैसी सभी की रीत न्यारी है!'

–मोटा

मदद करने को प्रभुकृपा से **यह जीव** तैयार है, उत्सुक है, पर तुम्हारी पूरी तैयारी मुझे उसमें मिले, उसमें तुम्हारी खुशी, तुम्हारी हिंमत हो, कूदने का साहस हो, मान ली गई समझ, मान्यताएँ, माप, आदत आदि

पकड़ से खिसकने की जिज्ञासा, तमन्ना हो, तो प्रभुकृपा से **इस जीव** का काम हो सके, बाकी तो मेरी मदद काम लगनेवाली नहीं है । ताली बजाने के लिए दो हाथ तो चाहिए ही न ? तुम्हारे प्रति प्रेम उपजा, भाव आया, ऐसा तुम लिखो और मैं मान लूँ ऐसा मेरे नसीब में मानने जैसा मेरे में रहा नहीं है। दूसरों का मान लेता हूँ सही, पर उस विषय में परवाह नहीं करता, परंतु साधना करते **जीवों** के विषय में मेरा व्यवहार अलग ही रहा करता है ।

मैं ढीला रखता हूँ तो ऐसे विषय में मेरी संमति न मान लें । मेरे विषय की छाप और असर तो तब सुंदर खिल उठेगी, जब हमारे जीवन का सुंदर विकास होता हुआ अनुभव होगा । इससे हमारे परिवर्तित होते व्यवहार, समझ और ऐसे जीवन की असर दूसरों को लगेगी । ऐसा अनुभव हो वह अधिक तत्त्ववाला और गहरी असर करनेवाला है । हमारी अपनी नम्रता, शरणभाव, सहानुभूतिभरा व्यवहार—यह सब तथा दूसरे के कर्म के हेतु को समझने की हमारी कदरवृत्ति यह सब जैसे-जैसे सभी निहारोगे वैसे-वैसे जो भाव उनको होगा, इससे उन पर की **इस जीव** की असर बढ़नेवाली है । साधक का समर्पित भाव कितनी हद तक विकसित हुआ है, उसका माप देखने को भी अमुक बार वैसे विचित्र लतीफे सूझ आते हैं । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६१)

यह जीव Perfect Master है कि नहीं यह समझने की हमें जरूरत भी क्या है ? हमें तो 'मम मम के साथ काम है, टप टप के साथ नहीं ।' मम मम जहाँ तक साधा जाय, वहाँ तक मिट्टी का ढेला होगा और उससे यदि साधा जाय तो वह हमारा परम गुरु है ऐसा समझें ।

हृदय का गूढ़त्व (mysticism) **इस जीव** के प्रेम को आभारी है । यह सब **इस जीव** को सुनने का ही क्यों हो ? कुछ भी उसमें मान लेने जैसा रखना नहीं है, इससे यदि कुछ हमारे में सद्‌भाग्य से **उस**की कृपा से कुछ उदय हो सकता अनुभव कर सकते हों तो वह सभी हमारे जीवन के ऊर्ध्वगामी पुरुषार्थ के परिणामरूप ही है । हमारे जीवन का विकास कितना भी उच्चतम हो, तब भी उसमें यदि भूलचूक से भी मेरा मान लूँ तो **इस जीव** की कोरी पामरता ही कहलाएगी । यह सब हकीकतरूप से है । तुम सभी के जीवन के होते जाते मूलगत परिवर्तन

के कारण प्रभुकृपा से **इस जीव** का भी वैसा उपयोगीपन अधिक से अधिक स्फुट होते जानेवाला है, और उसकी असर हमारे आगे-पीछे भी पड़े हुए बिना रहनेवाली नहीं है ।

प्रभुकृपा के बल द्वारा **यह जीव** तो अत्यन्त पामर है । इसलिए कृपाकर उसकी वकालात किसी के आगे कुछ करनी नहीं रहती । जो समझदार हैं वे तो आज या कल समझेंगे ही, और मेरे जैसे भिखारी को दरवाजे से बाहर नहीं निकालोगे ऐसी श्रद्धा है ।

पर्याप्त साथ, सहानुभूति, ऊष्मा, प्रेमभाव, मनहृदय की वैसी भावना, कदरवृत्ति, श्रद्धा, विश्वास, उत्साह, प्रेरणा आदि मुझे नहीं मिलते । यह मेरी शिकायत है । यह मेरा कमनसीब है । तब भी **इस जीव** को तो हिंमत हारनी नहीं और धीरज भी नहीं खो बैठना है ।

प्रभुकृपा से **इस जीव** के हृदय के वैसे उत्साह की भावना को सामने से यदि पोषण न मिला करे और वैसे भाव को योग्य प्रति-उत्तर हृदय से न मिला करे तब भी ऐसी भावना वहीं की वहीं रहनेवाली है । ऐसे **जीव** की ऐसी भावना फलती या परिणाम की कोई आशा अपेक्षा नहीं रहती । इसलिए उसका क्या होगा उस विषय में वह—भावना—कुछ भी नहीं सोचती । वह तो मात्र अपने आप बहते जाएँगे और उसके योग्य समय में विलीन हो जाएँगे, परन्तु ऐसा होने से पहले उससे जो बन पड़ेगा वह किया करेगा, किसी की भी अपेक्षा रखे बिना वह सभी करते रहना है, परन्तु ऐसी भावना हमारी ओर बहते रहने में ही हमारा कल्याण-श्रेय रहता है, उसका प्रमाण क्या ? उसका सबूत क्या मिले ? उसका यथार्थ दर्शन या अनुभव हृदय में हृदय से हो, तब समझ में आये तो आये । बाकी, सभी के जीवन में मुठभेड़ तो खड़ी की जाती है । मुठभेड़ से संघर्ष जन्म लेता है । संघर्ष से समझ आती है—यदि हमारा वैसा दिल हुआ हो तो ।

यदि कोई साधक सूचना अनुसार न बरतता हो, तब भी अंतिम से अंतिम हद तक उसके साथ हृदय से रहूँ—यदि जाया जाय तो—उससे

आगे भी जाऊँ, परन्तु संबंध तो कैसे तोड़ा जाय ? मानो कि ऐसा कोई साधक मुझे नकारे, मुझे फेंक दे, तिरस्कार करे, तब भी मुझ से तो दूसरा हो ही न सके। हम कैसे भी हो जाते हैं, तब भी भगवान हमें क्या नकारता है ? खराब लड़के को क्या माँ फेंक देनेवाली है ? किन्तु जो सच्ची माँ होती है, वह ऐसे खराब लड़के को—उसके तरीके को—उत्तेजित तो नहीं ही करेगी ।

प्रभुकृपा से *यह जीव* का काम तो वैद्य का है । रोग, फोड़ा, छाला, ऐसा-ऐसा प्रभुकृपा से हमें देखना पड़ता है । 'क्या मेरे में कुछ भी अच्छा नहीं ? उन्हें तो सभी खराब ही दिखता है !'—ऐसा स्वजनों को हो, पर जो गुण या अच्छा है, वह तो चले जानेवाला नहीं है, परन्तु जो अवगुण है, उसे हमें प्रथम देखना है, क्योंकि प्रभुकृपा से उसे योग्य रूप से मठारे और वह योग्यरूप से प्रकट सके, तो उस कर्म से उस *जीव* की उत्तम सेवा हुई कहलाएगी । इसप्रकार, उस जीव का सब ही अच्छा हो जाय तो इस *जीव* का काम पूरा पका कहलाएगा ।

श्रीभगवान ने कृपा करके हम संन्यासियों को ऐसा धर्म सौंपा है । स्वजन को वैसा-वैसा बतलाने पर हमारे विषय में अरुचि होती है, उसका हमें पता है । स्वजन की सेवा करना हमारा धर्म है । किसी को अच्छा लगे या न लगे उसकी अधिक परवाह नहीं होती । स्वजन के प्रति प्रेम हमें वैसा करवाता है । स्वजन में से कुछ शरारतें बताने की होती हैं, वह उसके श्रेय के लिए है, ऐसी ज्ञानपूर्वक की संपूर्ण भावना स्वजन के दिल में प्रकट नहीं हुई है, यह हमारा दुर्भाग्य है ।

मेरे धर्म को मैं भला कैसे जाने दूँ ? किसी समय रौद्र स्वरूप भी धारण करने की जरूरत पड़े, कभी जबरदस्त आघात देकर भी कुछ जन्म देने को प्रयत्न करना पड़े । प्रभुकृपा से ऐसा मुझे करना पड़े उसमें शोक या दुःख नहीं अनुभव होना चाहिए ।

मुझे तो किसी बात से निराशा नहीं है । मैं तो सभी कुछ **उस** पर

ही छोड़ देता हूँ । **उसे** जैसा करना हो वैसा भले हो । मुझे किसी पर रोष नहीं है । जीवन में परस्पर सुमेल बना रहे यही उद्देश्य रहता है । जीवनमार्ग में अंतराय पड़ने की संकट की स्थिति के समय यदि कोई चेत सके तो चेताना जिससे किसी को ऐसा न हो कि, 'भला ! हमें चेताना तो था ! कहा होता तो हम प्रयत्न तो करते ! हमें मौका न दिया !'

जिस-जिस के साथ प्रभुकृपा से संबंध हुए हैं, उन सभी जीवों ने अपने अंतर की छिपी हुई हकीकत, देर-सबेर प्रभुकृपा से **इस जीव** के आगे खोल कर रख दी है । लोग कोई जिस-तिस के आगे ऐसी हकीकत कहने नहीं बैठ जाते । जिस व्यक्ति के आगे जो-जो कोई अपना पूरी तरह से अंतर खोल देता है, वह व्यक्ति सविशेषरूप होती है ।

बाजार में अनेक दुकानें होती हैं । वहाँ प्रत्येक प्रकार के सौदे होते है । भगवान की कृपा से **यह जीव** ने भी दुकान खोली है । उसमें सौदे होते हैं, परन्तु वे सौदे हैं फकीरी के । जिसे वह करना हो, उसे ही उस दुकान में पैर रखने का मन करना है । **फकीरी अर्थात् सब कुछ होने पर भी निर्ममत्ववाले हो, ज्ञानभक्तिपूर्वक उसका उपयोग करना है ।** खाली बर्तन होगा, तब ही उसमें कुछ भरना संभव हो सकेगा । भरा होगा, उसमें कुछ भरना होगा तो भी जो भरा होगा, वह सब पूरी तरह निकाल देना होगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ६२, ६६, ६९, ७०, ७२, ७३, ८६, १३३-१३४, १५१, १५५, १९१, २००)

● ● ●

हम तो जीवन की पुकार किया ही करेंगे । हमारा तो वह धंधा है । गली में जो कोई बेचने का लेकर आये वह उसकी बेचने की चीजों की आवाज देता है, उसमें फिर गलत क्या हो सकता है ? जिसे रास आये वह ले, पर उसकी आवाज सुनकर चीढ़ चढ़े तो वह कैसे रास आये ? ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. २३२)

मैं तो प्रभुकृपा से किसी का कुछ सहता नहीं हूँ। जहाँ-जहाँ सहन करने का होता है, तब उसका उद्देश्य सामनेवाले जीव में सहानुभूतिपूर्वक मिलना होता है। सहन वह करता है, जिसे कोई गरज हो। मुझे किसी की कोई गरज नहीं है। प्रभुकृपा से एक गरज है कि जिस हेतु के लिए स्वजन मिले हैं, वह हेतु हृदय से किस तरह वे पहचानें और उस अनुसार व्यवहार करें और जीवन में प्रकट हो।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २२५)

● ● ●

यह शरीर का बाकी का जीवन जो कोई भगवान का नाम सीखने उसके पास आयेगा, उसे **यह जीव उस**की कृपा से डाँटकर भी उस रास्ते ले जाने में बितायेगा। यही उसके जीवन का अंतिम कर्त्तव्य है। फिर तो जिसे जितनी जिज्ञासा होगी उतना होता जायेगा। डाँटने के लिए भी कितनों को खिसकना पड़ेगा। इस जीवन में प्रभुकृपा का ऐसा योग है। प्रभु के नाम का सच्ची रीति का महत्त्व यदि कोई भी **जीव** में जगा सके, तो वैसे थोड़े-बहुत कर्म से भी मुझे संपूर्ण संतोष होनेवाला है। जो कोई जैसी प्रकृति स्वभाववाला मिलेगा, वह अपने ढंग से अपने प्रमाण में लाभ ले सकना संभव होगा तो वे लेंगे। प्रभुकृपा से **यह जीव** ने तो उसका धर्म निभाया ही किया। जो-जो मिले उनको इस धर्म में उनकी तरह —वे न जाने ऐसे — सूक्ष्मरूप से मार्ग दिखाना। जो सभी में से अलग हो गया है, वैसा ही सभी में उनकी तरह जकड़ा भी रह सकता है।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २३१)

पर आज इस कठिन समय में सब कोई को उनकी तरह रहे, जीये, व्यवहार करे तो वह रुचता होता है। अब **यह जीव** से इसतरह सदाकाल व्यवहार न हो सकने से **जीव** को वह न रुचे वह भी समझ में आये ऐसा है। साधना की अमुक कक्षाएँ बिताने के बाद एक समय ऐसा भी आता है कि **जीवात्मा** उस समय एकसाथ परवाहवाला एवं बेपरवाहवाला हुआ होता है। परवाहवाले के रंगढंग सभी को अच्छे लगे और बेपरवाहवाले के रंगढंग तो किसे अच्छे लगेंगे ? अब श्रीप्रभुकृपा से हमें

मात्र किसी को अच्छा लगाने के कारण जीना रहा नहीं होता । पूर्व के जीवन का तो प्रभुकृपा से कायापलट हो गया है ।

उसे निरखने, समझने, अनुभव करने को जो **जीव** को जैसा लगे वह सही, हमें अब **उस**की कृपा से किसी को अच्छा-खराब लगाने भी दिल से नहीं जाना है । समझदारी से बहुत समय ऐसा वेश **उस**की कृपा से पहना था । सभी कोई **जीव** यदि अपने अपने ढंग से, मरजी से, इच्छा से चलते हैं, तो फिर उस तरह **यह जीव** से वैसा व्यवहार हो, उसमें आपत्ति-अड़चन किस लिए ? मैं कहाँ किसी को कहने जाता हूँ कि **इस जीव** के पास आओ ? यदि तुम अपनी ही मरजी से आना करो, तो जिस हेतु के कारण आना हुआ हो, उस हेतु के गढ़न के लिए वैसा कहने-कथने का हो, उसे योग्य ढंग से स्वीकारने की तैयारी न हो तो वैसे जरूर खिसक जाय । उसका हर्षशोक प्रभुकृपा से हमें नहीं है । हम तो श्रीप्रभुकृपा से हमारे रंग में जैसे हैं वैसे हैं । हमें अपना कुछ भी ढँकना नहीं है । जैसे दिखाई देंगे, लगेंगे या व्यवहार करेंगे उसमें बाधा नहीं है । बाधा यदि कोई कुछ हो तो वह हमें होनी चाहिए । जिसे आपत्ति हो, वह क्षणभर भी खड़ा न रहे ऐसी हमारी नीचे झुक-झुककर विनती और प्रार्थना है । जीवन में हमें नुक्स दिल में कैसे-कैसे लगे थे, उस समय उसके लिए श्रीप्रभुकृपा से जो प्रार्थनाएँ हुई हैं, वह देखकर कोई **जीव** उस विषय में विचार करे, वैसी भी हमारी वैसे **जीव** को विनती है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १४९-१५०)

यदि हमारे हृदय में सभी के प्रति सद्‌भाव जीताजागता हो गया होगा तो, वैसे हृदय का प्रकट हुआ सद्‌भाव हमें जिस-तिस के साथ उस- उसके योग्यपन में ही उसकी कृपा से व्यवहार करवायेगा, ऐसा आत्मविश्वास इस हृदय में तो प्रकट गया है ।

इससे वह सदा आरामदायक और निश्चिंतता की भूमिकावाला **उस**-की कृपा से रहा करता है, जो किसी से घायल नहीं होते । जिसे कुछ लिखने या कहने की संभावना या प्रसंग खड़ा होता है, तब **यह जीव** का जब साधनाकाल था, तब उससे जैसा बोला जाता था, उस तरह से

अब उससे व्यवहार नहीं होता, यह तो **यह जीव** कबूल करता है, परन्तु वैसा करने में अभिमान से ऐसा होता है, ऐसा मानने की **यह जीव** प्रभुकृपा से ज्ञानपूर्वक मना करता है। **यह जीव** ऐसी बात में जैसा मानता है, वैसा सभी ही **जीव** माने ऐसा कहने का भी हेतु नहीं है। अमुक बुजुर्ग **यह जीव** को मानते हैं वैसी उनकी दशा में योग्य समझ हो ऐसा भी संभव हो सकता है। मात्र मैंने तो इस विषय में स्पष्टीकरण किया है।

मानवमात्र पहले जैसा था वैसा का वैसा सदा कायम नहीं रह सकता। प्रत्येक **जीव** बदलाया करता है, वैसे यह **जीव** भी बदलाया करता हो ऐसा हो सकता है। **यह जीव** को उसके साधनाकाल में उसका अपना निर्दय से निर्दय रूप में तटस्थतापूर्वक पृथक्करण करने का ज्ञानपूर्वक का जीवंत अभ्यास था, उसने की हुई प्रार्थनाएँ और भजनों से आज भी वह समझ सके वैसा है। ऐसे लंबे समय की ज्ञानपूर्वक अभ्यास की असर जीवन में प्रकट हुए बिना रह सकेगी सही ? यदि **जीव** कक्षा में उस **जीव** को किसी प्रकार की आदत पड़ी होती है, वह वैसी आदत के प्रकार की असर उसके जीवन में प्रकट हुई सभी कोई अनुभव कर सकता है, तो **यह जीव** ने तो वर्षों के वर्षों तक जो अभ्यास प्रभुकृपा से किया है, उसकी असर क्या फीकी पड़ जाय सही ?

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १४८-१४९)

यह जीव उसके साधना के समय में कितना सारा मौन रहा करता ? अधिक कुछ बोलता चलता नहीं, कहीं किसी पर चर्चा न करता। बुजुर्ग के प्रति तो जीवंत सद्भावयुक्त आदर ही उसमें व्याप्त रहता था। वैसा **जीव** आज जिस-जिस के साथ जिस जिस प्रकार का प्रसंग आये उनको उनको प्रसंग के योग्य जो कुछ हो, वह-वह उनको-उनको कहता, लिखता या सुनाता है।

उस प्रकार का उस **जीव** का व्यक्त होना दूसरे जीवों को शायद न अच्छा लगे तो वह समझ में आये ऐसा है। **यह जीव** के उसके व्यवहार से **यह जीव** अब तो 'बदल गया है' (ऐसा उसके योग्य ज्ञान के हेतु में बोला नहीं जाता।), 'अभिमानी हो गया है' ऐसा अमुक माना करते

होते हैं । पर जो **जीव यह जीव** के पूरी तरह निकट के परिचय में आये हैं और जो **जीव** बहुत समय से जीवनसाथी के रूप में प्रभुकृपा से मिले हैं और जिसे **यह जीव** के जीवन के अनेक पहलुओं का अनुभव पूरा ठोस हो गया है, वैसे **जीव यह जीव** में वैसा अभिमान या 'मैंपन' है, उसका योग्य तारतम्य देख सके हैं ।

('जीवनपोकार', आ. २, पृ. १४६-१४७)

वर्षों के वर्षों तक प्रिय मित्रों के साथ हरिजन सेवक संघ के समय में लगभग घण्टों के घण्टों तक लगातार काम जिसने किया है, यदि उसमें 'मैंपन' या 'अभिमान' हो तो वैसे मित्र की जान में आये बिना कैसे रह सका हो ? मैंपन तो अनेक ढंग से व्यक्त होता रहता है । प्रतिदिन के काम में वर्षों के वर्षों तक सतत रहने का हो, तथापि वहाँ कभी भी कोई घर्षण न हुआ हो या तकरार खड़ी हुई न हो, या क्लेश-संताप न हुआ हो, मात्र सहकार और सहचार ही जीवन में व्याप्त किये हो तो वह क्या सूचित करते हैं ? पर कोई कुछ भी माने, हमें कोई भी परवाह नहीं होती । **हमें तो जिस समय प्रभुकृपा से योग्य व्यवहार हुआ करे, वैसा करना है । वैसा करने से दूसरों को क्या लगेगा ऐसा सोचने यदि बैठेंगे, तो वैसे योग्य प्रकार के व्यवहार में ढीलापन आता हुआ अनुभव होता है ।**

अनेक स्वजनों के जीवन की पीड़ा और जलन अंतर में जला करती है । हमारे अंतर में अंगारे जलते होते हैं । वैसे प्रकार की कोई उत्कट दशा में तात्कालिक उस समय जो कोई स्वजन चपेट में आ गया, उस पर **यह जीव** से उन-उन सभी स्वजन पर का रोष उन्हें-उन्हें चेताने के लिए, जगाने के लिए उभरता जाता है । सभी जानते हैं कि, 'ये **मोटा** एक को ही डाँटते हैं' यदि उस समय वे स्वजन ऐसा समझते हों कि उसमें हमारा भी हिस्सा है, तो वे भी प्रभुकृपा से जाग्रत बनना सीख सकते हैं ।

यद्यपि प्रभुकृपा से अब तो ऐसा भी समझपूर्वक छोड़ देना सोचा है । काल भी बदलता रहता है । जो साधन जिस हेतु के लिए उपयोग

करना होता है, उस पर कोई जीव अपनी बुद्धि से **यह जीव** के सिर पर दोष की टोकरी डाले तो वह कबूल-मंजूर है। इसमें हमें तो कोई नुकसान नहीं । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १७०)

आज तुम लोग **यह जीव** को कहीं भी कुछ न करते अनुभव करते हो, पर वह जैसा दिखता है वैसा नहीं। उसके अंतर का चरखा तो चलता ही रहता है। ऐसा होना जो प्रभुकृपा से हुआ है, वह किस तरह हुआ है, उसे किस तरह आलेखन करके बताऊँ ?

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १७६)

प्रभुकृपा से **यह जीव** ने कायरता को कभी जीवन में साथ नहीं दिया है। वह कहीं से भी, कहाँ से भी भागा नहीं है। कितने ही वर्षों के यानी कि लगभग तीस वर्ष के मित्र को सही बात कहने में कभी मचक नहीं दी है। इससे उसे खराब लगेगा अथवा **यह जीव** को छोड़ देगा, ऐसा भय कहीं भी किसी कोने में नहीं रहा है। **प्रेम का भाव जितना कठिन है, उतना ही कोमल है। प्रेम की कोमलता को सभी कोई स्वीकारें और समझें, पर प्रेम की कठोरता को जब प्रेमभक्ति से स्वीकार हो तभी सच्चा प्रेम मिलता है।** जीवनविकास के लिए जो स्वजन प्रभुकृपा से **यह जीव** के साथ जुड़े हैं, उनके किसी अवगुण को यह **जीव** उत्तेजन दे सके वैसा नहीं है। हाँ, वह किसी **जीव** के अवगुण को स्वीकार ले सही – जैसे साधक अपने दोष स्वीकारता है पर वह उसके योग्य ढंग से मठारने हेतु, उस तरह स्वजन के अवगुण स्वीकारने का धर्म है, परन्तु उसमें से उसे बचाकर योग्य स्थान पर रखने के लिए। जीवन का धर्म सांप्रदायिकता का नहीं है। जीवन का वास्तविक उद्देश विस्तारपन का है। जीवन की साधना का मर्म और अर्थ यह मात्र भाषा के शब्दभंडार से नहीं मिल सकेगा। यह तो योग्यरूप से जीवन जीने से ही मिल सकता है। ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३७१)

कोई ऊँची-ऊँची बातें करे तो मन में हिले बिना सहानुभूतिपूर्वक सुनता हूँ। आश्रम से मेरे पुराने समय के कॉलेज के एक स्नेही कुंभकोणम्

चौबीस घण्टे के लिए आये थे । वे सुबह से शाम रहे वहाँ तक बहुत ऊँची-ऊँची बातें अपने विषय में बोला करता । मेरे विषय में नंदुभाई को बतलाया, 'भगत की तीन पैसे की कीमत है, परन्तु मेरी तीन पैसे की कीमत और सामान्य मनुष्य की तीन पैसे की कीमत में जमीन आसमान का अंतर है ।' इसतरह बहुत सारी बातें करे तो मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नहीं, मैं उसे प्रेम से सुना करता हूँ ।

पर कोई स्वजन—वैसी बातें करे तो उसे 'सुनाने का' काम प्रभुकृपा से हो । ('जीवनमंडाण', आ. १, पृ. १३७)

यह जीव की मूर्खता का तो पार नहीं । **प्रभुकृपा से जो-जो जीव को चाहता होता हूँ, उन-उनके दोष पर नजर रहती है । और उसके लिए उनको उलाहना देना पड़ता है । इसलिए *यह जीव* तो एक तरह से विष्ठा की मक्खी जैसा गिनायेगा ।** इसलिए वैसे का संग क्या काम का ? जिसके संग से एक के बाद एक सीढ़ियाँ चढ़कर **जीवात्मा** परमात्मतत्त्व अनुभव करे वैसे का संग अति उत्तम । जीवन में उच्च गति में व्याप्त होना है, ऐसी भावना आनी यह महादुर्लभ घटना है, और उसमें भी सत्पुरुष का आश्रय अंतर की प्रेमभक्तिभाव से जागृति के साथ अपने आंतरिक विकास की समझ के स्तर से हृदय में प्रकट होता रहे वह तो फिर उससे भी दुर्लभ है, और वह उससे भी विकट तो सत्पुरुष के हृदय को समझना और अनुभव करना वह है । ('जीवनप्रवेश', आ.)

मेरे स्वजनों को, किसी को, मैं स्वयं 'संत' हूँ ऐसा मैंने नहीं कहा । मैं तो कुछ भी नहीं । **यह जीव** विषयक अमुक मानो ऐसा कहना नहीं है । किन्तु जीवनविकास की दृष्टि और हेतु यदि हमारे जीवन के हों तो जिसके पास से हमें कुछ सीखना है, उनमें यदि हमारे मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् योग्य रूप से सोचने का न कर सकते हो, और वैसे **जीव** विषयक हमारा मान-आदर न प्रकट सका हो तो वैसे **जीव** के पास से हम कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सकते । मैंने कभी किसी को पूजा-अर्चन करने को नहीं कहा । इस जगत में सब कोई अपनी-अपनी आदत अनुसार ही चलते हैं, मुझे भी किसी क्षेत्र की ऐसी आदत हो, और न

भी हो, वह कोई जानने नहीं बैठ रहा है, और उस भावना से साबित हो सके ऐसा हो तो उसका कोई अर्थ नहीं ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १४४-१४५)

मेरे फोटो का भला क्या करोगे । मुझे यह पसंद नहीं । पहले तो मैं फोटो खिंचवाता नहीं था, पर वह आग्रह मैंने छोड़ दिया है । तुम्हारा जब दिल चाहे तब तुम्हारी आँखों के सामने क्या मैं आ नहीं सकता ? फोटो की आवश्यकता हो ? उसके पीछे तुम्हारे प्रेम की भावना की कदर मैं नहीं कर सकता ऐसा नहीं, पर यह बेकार है । मन को ऐसे में पड़ने न दो । मन ऐसा करे तो भी उसे कहना कि जिसके फोटो की तू इच्छा करता है, उसे जब देखना हो, तब मन की आँखों के सामने तो देख सके ऐसा है ही न ? पश्चात् उस स्थूल की क्या आवश्यकता ? हमें स्थूल को उत्तेजन नहीं देना है ।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १०८)

मैं भी अपने मित्रों को दूसरे ऐसे संतात्माओं के पास जाने को अवश्य सूचित करता हूँ । अहमदाबाद में पूज्य श्रीआनंदमयीमैया पधारी, तब भाई नंदु को मैंने खास भेजा था । उसी तरह पाण्डुचेरी के आश्रम में भी तथा ऐसे दूसरे स्थानों पर जाने की सलाह दी थी । आध्यात्मिक मार्ग में जिसे जीवनविकास करना है, उसे तो जहाँ-जहाँ सद्‌गुण या ऐसी दैवी संपत्ति के अनुभवदर्शन हो, वहाँ कदरभक्ति भाव से और ज्ञानपूर्वक अपना सिर नमन करना रहता है । तुम अमुक संत की ही सेवा करो यह आनंद का विषय हे, उसके अलावा जो कोई उच्चात्मा को प्रभुकृपा से संजोगोवशात् स्वयं मिलना हो, उसकी सेवाटहल करना रखो तो उसमें कुछ गलत नहीं है ।

प्रभुकृपा से कहीं किसी को 'मूंडना' नहीं है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ५२-५३)

● ● ●

यह शरीर का जन्मदिन भादौ कृष्णपक्ष के चौथ के दिन आता है । उस दिन तुम सभी के हृदय की शुद्ध भावना, धारणा और हृदय के

आशीर्वाद माँगता हूँ। तुम्हारे मन की भावना प्रेरक रूप से उस दिन **यह जीव** में रखने की विनती है। और उस दिन के होते समस्त कर्म में **यह जीव** की चेतनास्मृति की धारणा हृदय से रखने का किया करोगे तो यह गरीब न्याल हो जाएगा। ('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ८८)

• • •

हमें मिलना है वह स्थूल नहीं ही, परन्तु मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् में ज्ञान की भावना द्वारा और जीवनविकास के हेतु के लिए मिलना है। वहाँ यदि इसतरह मिलना रखें तो यह तो फिर अति उत्तम उपाय है।

मेरी यह शरत है कि **यह जीव** में कुछ दैवत है ऐसा मानना नहीं है अथवा तो महान हूँ ऐसा भी गिनना नहीं है। **यह जीव** तो एक सामान्य प्रकार का मनुष्य है। उसे पूजना करना भी नहीं होता। इसप्रकार की श्रद्धा की भी मुझे जरूरत नहीं है। श्रद्धा तो धधगती तमन्ना में से अपनेआप प्रकट हो और जीवनविकास की सच्ची समझ प्रकट हुआ करे तो ही वह श्रद्धा उपयोगी। किसी में भी जो श्रद्धा रखनी होती है, वह तो हमारे अपने लिए है। गहरी चैतन्य श्रद्धा प्रकट हुए बिना श्रद्धा के विषय में हम कभी भी चिपक नहीं सकते और प्रवेश नहीं पा सकते, तो प्रेरित तो कहाँ से हो सकेंगे ? श्रद्धा यदि हो तो वह ऐसे के ऐसे पड़ी न रहे। इसलिए हमें जो-तो कुछ समझ-बूझकर करना है। '**मनने**' में मैंने एक स्थान पर लिखा है कि अपने विचार से चलने से खत्ता खानी पड़े उसकी बाधा नहीं, क्योंकि **जीव** यदि सच्ची साधक दशा में होगा तो उससे तो वह जरूर सीखेगा और उसकी आँख खुलेगी, परन्तु दूसरों के विचार से खाली-खाली अंधे की तरह न चले, यह तो खास ध्यान में रखना है।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ६८ से ७०)

मेरी ओर से भय रहा करता है, इसका कारण समझ नहीं आता। मैंने ऊँची आवाज से कुछ कहा भी नहीं, परन्तु भविष्य में न कहूँ ऐसा नियम भी नहीं। जो संसारी भाव जागते हैं, उसका कारण वैसे-वैसे प्रकार के अनुभवों की समझ संस्काररूप में पड़ गयी होती है, इससे जागते हैं। प्रेम

में एक प्रकार का भय रहा होता है, यह सच है, परन्तु भय का भाव मन में से निकल जाना चाहिए, तब ही अधिक निखालिस हो सकते हैं। अभी तो कितना ऐसा पड़ा होगा कि जो कहना बाकी होगा ! हृदय के मध्यबिन्दु में जो कुछ है, वह है सही, परन्तु उसका व्यक्त होना ऐसे ही नहीं होता है। वह तो अमुक प्रकार का निमित्त हो, तब ही व्यक्त होता है। एक प्रकार का भक्त निमित्त बनते या जागते प्रभु को प्रार्थना करे और दूसरे प्रकार का भक्त सदा ही प्रभु के भाव में ही रहे, निमित्त हो या न हो तब भी। मन में जो कोई भाव जागे उसे वैसे के वैसे आकार में मेरे आगे रख देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं अनुभव करना, वह भाव फिर भले ही अच्छे से अच्छे हो या खराब से खराब हो तब भी। जब इस तरह खुले होते जायेंगे तब बहुत भार हलका हो जाएगा। जीवन में कोई सच्चा स्वजन मिला है, उसका पूरा अनुभव उस समय होगा।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३८)

यह जीव विषय में प्रेमभाव नहीं रहता उसके विषय में तो मैं क्या लिखूँ ? और **जीव** से हम हृदय का सद्भावयुक्त आकर्षण और उसके द्वारा हमारे जीवन की उच्च प्रकार की महत्त्वाकांक्षा फलित होनी है ऐसा हृदयपूर्वक संपूर्ण भरोसा हुए बिना कैसा भी **जीव** भले फिर वह महान गिनाता हो उसे न लिपटने में सार है। **उच्चात्मा का आश्रय जीवन के ऊर्ध्वीकरण के लिए है और वह भी साधनरूप है। सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम तो केवल श्रीभगवान ही हैं।**

यह जीव में प्रकृति के रूप में तो अनेक प्रकार के दोष लगे जिन्हें गिनाना पार आये ऐसा नहीं, इसलिए हमारी बात तो हम क्या लिखें ? समझ से अधिक तो अनुभव से—और वह अनुभव भी जब अंतर में ठहरे तब सही—इन सभी से जो समझ आये वह ठीक। मैंने कभी नहीं कहा कि **यह जीव** का समागम करना।

मुझ पर हृदय के भाव हैं कि नहीं उस विषय में मुझे कुछ कहना नहीं होता। तुम ऐसा बतलाओ कि, '**मोटा** ! तुम पर मुझे प्रेम स्थायी निरन्तर नहीं रहता, और अमावस्या-पूनम हुआ करती है !' मैं किसी को

भी मेरा संग सोबत करने या मेरे पास आने या समागम करने को कभी भी नहीं कहता, अथवा तो ऐसा निमित्त भी मैं स्वयं खड़ा नहीं करता । अपने आप जो कोई आये उसे मना भी नहीं करता । और कोई संबंध बढ़ाना या घटाना चाहे, तो वैसा भी भले हो । हमारा दिल जिसके विषय में भगवान की कृपा से रहता है, वहाँ अंतर में अंतर से ज्वार-भाटा नहीं होता । बाहर से किसी को ऐसा लगे तो भले, परन्तु यदि देखने की सूक्ष्म आँख हो और परखने का हृदय यदि जगा हो, तो हृदय का प्रेम छिपा नहीं रह सकता । तुम्हारे हृदय के भाव सही है या गलत उसकी जानबूझकर परीक्षा नहीं करनी । प्रभुकृपा से किसी की भी परीक्षा करने का दिल नहीं होता, क्योंकि यह हमारी संस्कृति में नहीं है । हमारी संस्कृति में तो सभी में मिलना ही लिखा है, और वह भी कहीं किसी में बाकी न रहे इसतरह । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ५१, ५७-५८)

मुफ्त में मैं मानता नहीं । जिस तिस की कीमत देनी ही पड़ती है । जीवन में या जगत में या व्यवहार में कुछ भी अपनेआप नहीं मिलता । तुम्हारे जीवनव्यवहार द्वारा हमारी आबरू टिक सकेगी । तुम्हारे भाव द्वारा हमें शोभित होना है । यदि भावना के ज्ञान अनुसार तुम्हारा योग्य व्यवहार न रह सके तो तुम्हें और मुझे मरने जैसा होगा । इसलिए गरीब की दया रखना । मुझे तो जश या आबरू का डर कहीं भी नहीं है, परन्तु तुम्हारा जश बढ़े और तुम्हारी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुआ करे यह देखने की दिल में इच्छा-भावना है । तुम्हारी कीर्ति जाय तो मुझे मृत्यु से भी अधिक साले, यद्यपि मृत्यु तो मुझे थोड़ी भी नहीं सालती । उसे तो प्रेम से भेंट सकता हूँ, परन्तु तुम्हारे लिए मुझे शरम से नीचे न देखना पड़े ऐसी और इतनी तुम जीवन्त रहा करना इतनी मेरी तुम्हें हृदय से प्रार्थना है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. १०७-१०८)

● ● ●

मुझे तो बहुत-बहुत लेना है । अभी तो लेना थोड़ा ही शुरू हुआ है । मेरी तुम्हें प्रार्थना है कि सभी दिया ही करना । **जीवस्वभाव का**

सभी ही–पाप और पुण्य सभी ही–दिया करना । जो-जो विचार, वृत्ति, भाव, मनोभाव, भावना, विकार, राग, मोह, क्रोध, काम, मद, अहंता इत्यादि जो-जो उद्‌भव हो वह सभी, उस-उस क्षण ज्ञानभक्तिपूर्वक देने की जागृति रख रखकर दिया ही करना ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ११६)

(अनुष्टुप)

कोई भी गूढ़ योगी, योग जो जानता नहीं है,
–ऐसे मानवी को लेकर स्वयं को वश चित्त से,
इच्छा अपनी कुछ उस तरह चित्त के गहरे,
–संस्कारों को कराती पूरा जाग्रत वहाँ सही ।
उस समय का सही लाभ, जो कोई उग्र साधक,
ले लेगा हृदय से चेतकर पाये लाभ पूरा उर ।

('कर्मगाथा', आ. २, पृ. १३७)

श्रीप्रभुकृपा से **यह जीव** कुछ भी यद्वातद्वा करता नहीं होता । तुम्हारे चित्त में जो संस्कार पड़े थे, उसे प्रत्यक्ष किसी सूक्ष्म प्रकार की विशिष्ट कला–पद्धति (Technique) से उसे प्रत्यक्ष स्पष्ट रूप से मौन–एकांत में यथार्थ रूप में नजर से सामने देख सके ऐसा बता देने में आया है । ऊपर जिस कविता में पंक्तियाँ टांकी है, उस पर से स्पष्ट समझ में आये ऐसा है कि **यह जीव** में वैसी Technique का ज्ञान **उस**की कृपा से रहा हुआ है और उस अनुसार उसने उसकी कृपा से कर बताया है। उसका लाभ कैसे लेना यह काम प्रत्येक का स्वयं अपना है । **यह जीव** ने तो प्रभुकृपा से जो साबित कर देना था, वह कर दिखाया है । कैसे रहना, होना–जीना इस विषय में कोई भी परवाह नहीं होती या रहती नहीं, परन्तु जो कुछ हुआ उसका योग्य, उत्कट सभानता–को भावप्रदेश में खिंचकर दिल को दिल से प्रकट करना चाहिए वह तो उसकी कृपा से किया है। दूसरे किसी ढंग से ऐसा होना कदापि संभव नहीं इतना तो निश्चित है ।

एक आश्रम में **यह जीव** को प्रत्यक्ष अनुभव हुआ है कि दूसरों के शरीर में होते विकार को स्वयं शरीर से सहन कर लेना था । फिर,

दूसरे जीवों को जो-जो हुआ करता था, वह-वह हकीकत भी **यह जीव** के पास से दूसरे जीवों को सुनने मिली थी । **यह जीव** शरीर से जिस तरह सहन करता, वह उन जीवों के कारण ही था, उसका अनेक रूप से प्रमाण मिला था ।*

यह जीव को विकार बाधा करता नहीं ऐसे जात-जात के प्रत्यक्ष अनुभव से यह हकीकत पार उतरी है । ऐसा तो कितनी ही बार इस **जीव** के शरीर के अणु-अणु में से पार हो जाता होता है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३२३-३२४)

● ● ●

मुझे प्राप्त स्वजनों के जीवनविकास के लिए काम तो ढेर सारे मिले ऐसा मैं सदा चाहता रहता हूँ । नंदुभाई आदि वे हकीकत जानते हैं । काम में से सिर ऊठाने की बारी भी न आये, एक काम पूरा होते ही दूसरा काम सिर पर खड़ा ही होता, ऐसा हुआ करे वह मुझे अधिक अच्छा लगे । खाली मन सत्यानाश करे । इससे तो काम करते-करते शरीर टूटे इसमें बाधा नहीं । **कर्म तो प्रत्यक्ष यज्ञनारायण है । कर्म में यदि प्रभुप्रीत्यर्थ की भावना रहे तो कर्म करने से कभी थकान न हो ऐसा मेरा अनुभव है ।**

प्रेमभक्तिज्ञानपूर्वक का हृदय और सद्भाव से हृदय लगाकर और उसमें मिलकर वहाँ गल जाकर **उस**की प्रार्थना किये करने का प्रयोग करने का यदि शहूर न जाग सका हो, तो फिर '**मोटा**' क्या मरे ? उलटा मुझे तो ऐसी कथनी सुनकर अधिक त्रास होता है । मुझे तो ऐसे स्वजनों की आवश्यकता है कि जो पल-पल जीवन को प्रेमभक्तिपूर्वक न्योछावर किया करे और ऐसे न्योछावर होने में हृदय का निरा भक्तिभाव हो । मुझे तो किसी का रोना नहीं सुनना है । ऐसा रोना तो जीव को नामर्द बनाता है । कैसे भी विकट संजोगों में जो जीव जवांमर्द बनने का कर सकता

---

* ऐसे गूढ़ कर्म की टेकनिक का रहस्य श्रीमोटा ने 'जीवनस्पंदन' पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है ।

है, वह भले ही शायद हारे पर उस हार में से विजय पाने की भावना में और प्रयत्न में मग्न रहा करता है । कैसे भी करके जो जीव टट्टार खड़े रहना सीखता है और उसमें प्रभु की सहाय-मदद के हाथ का प्रेमभक्तिपूर्वक हृदय में हृदय से अनुभव करता है, ऐसे जीव को कहीं अकेलापन नहीं है । वह तो शत्रुओं के घमासान के बीच और बमबारी के बीच में भी सुख से रह सकता है । **यह जीव** को ऐसे स्थूल अनुभव तो हुए नहीं, पर आंतरिक हमले के भयानक से भयानक अनुभव हुए हैं । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २६४-२६५)

● ● ●

लता नाम की छोटी बालिका को पत्र

बहुत प्यारी,

मैं तुम्हें याद करता हूँ । यानी क्या तुम्हें पता है ? पता न हो तो बहन को पूछना । बेल को तो कोई आधार चाहिए ही । आधार के बिना यह बड़ी नहीं होगी । बेल को अकेला रहना रास नहीं आता और अकेला रहना पसंद भी नहीं, वह अकेली जी भी नहीं सकती । मुझे तुम्हें बहुत देखना है और बहुत प्यार करना है, पर मैं तो पूरा देहाती हूँ । दीखने से जरा भी पसंद न आऊँ ऐसा हूँ । जिसकी बहुत हजामत* बढ़ गयी हो, सिर पर कुरूप जैसा साफा हो, ऐसे को देखकर तू डर तो नहीं जायेगी न ? रोज भगवान का नाम लेती रहना । बहन तुम्हें डाँटेगी नहीं और शायद मानो कि डाँटे तब भी माँ डाँटे उसका खराब क्या लगाना ? मेरी माँ मुझे बहुत मारती पर तब भी मैं तो माँ को बहुत प्यार करता । माँ जैसा दूसरा कोई प्यारा नहीं । 'माँ तो माँ है दूसरे सभी बेकार' ऐसी एक कहावत है । बहन को मेरी ओर से बुलाना । यहाँ मैं लता तो बहुत ही देखता हूँ पर वह तुम नहीं हो ।

('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. १४७-१४८)

यह जीव को खाली-खाली पूजाना नहीं है । उसमें तो जीवन का

---

* उस समय पू. श्रीमोटा सप्ताह में एक बार हजामत करवाते थे ।

मृत्यु है । मुझे तो तुम सभी में से सब कुछ खाना है । श्रीप्रभुकृपा से **यह जीव** का वैश्वानर जो-तो पचाने को तत्पर है, पर वह माने कौन और समझे कौन ? ('जीवनप्रवेश', पृ. २२७)

● ● ●

बुजुर्गों के प्रति

मन में जो आये वह कहने का तुम्हारा वह अधिकार सभी तरह से और सर्वभाव से **यह जीव** पर है । **यह जीव** से भूल होने पर या करने पर तुम्हें कानपट्टी पकड़ाने का अधिकार भी है । भूल कबूल करने जितना साहस और हिंमत प्रभु ने दी है, इतना तो यह दिल में लगा किया है, जिसे जिस भाव से माना है, उस भाव से उसमें जीना ऐसी श्रीगुरुकृपायुक्त समझ उसने दी है, उससे दूसरी तरह व्यवहार हो ही नहीं सकता, ऐसा जीवनभाव कृपा से उसमें व्याप्त है । **इससे प्राप्त स्वजनों को कल्पना न हो सके उतनी हद तक उनको लगती रीत से कड़वा होने का प्रभु ने करवाया है । किसी को भी बेकार में राजी रखना *यह जीव* से हुआ नहीं है । ऐसे बुजुर्गों को भी वैसे प्रसंग और समय आने पर सुना देने का प्रभुकृपा से *यह जीव* चूका भी नहीं है ।**

सभी किसी को ऊपर नीचे करना **यह जीव उस** की कृपा से कुछ न कुछ ऐसा किया ही करता होता है । उसमें यदि कहीं अनुचित हो जाता लगे तो हृदय की उदारता से वह क्षम्य गिनने की प्रार्थना है । इसके पीछे मात्र **यह जीव** का दूसरे **जीव** के प्रति उग्र आतुरता हुआ करती है, इतना देखने-सोचने का यदि हो सके तो भी **यह जीव** का सद्भाग्य मानूँगा । ('जीवनप्रवेश', पृ. १५५-१५६)

● ● ●

यह जीव में किसी का कुछ जान लेने की शक्ति नहीं है, किसी के विचार भी जान लेने की कला उसमें नहीं है । वैसा तुम्हें तथा उसके परिचय में आये दूसरे **जीवों** को यदि वैसा लगा हो तो उनका **यह जीव** के प्रति का सद्भाव है ।

किसी-किसी समय कोई **जीव** अमुक प्रकार का हमला करे, उस समय मेरे प्यारे श्रीभगवान उसे मठारने वैसे-वैसे बहाने करवाता हो तो उसकी लीला वह जाने ।

यह जीव तो गधा जैसा है । भार भी उठाये और ऊपर से डंडे भी खाने को मिले । भार वह भी जैसा-तैसा नहीं । ऊठाया जायेगा कि नहीं उसका लादनेवाला कैसे विचार करे ? थोड़ी श्वास लेने खड़ा रहा कि डंडा पड़ा ही समझो । ऐसे डंडे तो हम खाते ही हैं । कोई मुँह पर मारे, कोई मन में मारे, कोई मौन मारे, कोई गुस्सा करे, कोई चिढ़ चढ़ाये और कोई कलंक भी लगाये । कोई फिर अलग-अलग पदवी भी दे । इसलिए हमें किसी को कुछ मानना करना नहीं । हमें अनुभव से जो-जो हो वह सच जाने । जो ऐसा अनुभव हुआ हो, और वह सचमुच वैसा हो, तो फिर उसमें से पीछे पड़ना न हो उसका ही नाम सच्चा अनुभव । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. २६९-२७०)

● ● ●

यह जीव के पास से लाभ मिले ऐसा कुछ नहीं । किसी को भी आने का निमंत्रण या आमंत्रण देने का तो होता नहीं । कोई **जीव** अपने आप **यह जीव** के पास आये तो उसकी ना कोई थोड़े ही कर सकता है ? यहाँ आने से अच्छा वैसे **जीव** अपने वहाँ ले जाने को कहा करते होते हैं, उस हृदय का स्वयं सहज भाव होते जो-तो कुछ अपनेआप हुआ करता है । अमुक के यहाँ जाऊँ और अमुक के यहाँ न जाऊँ ऐसा कोई नियम या व्रत तो नहीं है । 'अमुक अमुक के यहाँ जाते हैं और हमारे यहाँ क्यों नहीं ?' ऐसा जिसे मन में होता हो उसे कृपा करके यहाँ आना नहीं । फिर, एक दूसरी भी प्रार्थना है कि 'किसी को भी **यह जीव** के पास से किसी भी प्रकार की आशा-अपेक्षा नहीं रखे ।' **यह जीव** गधा जैसा है । हमारे पास कोई लड्डू दटा नहीं ।

कोई भी संत हमारे यहाँ पधारे तो हमारी दरिद्रता दूर हो जाती है ऐसी जो लोकमान्यता है, उसमें निरा अज्ञान है । इसलिए ऐसे निरर्थक प्रयत्न करने से अच्छा उनकी प्रत्यक्ष सेवा, उनका काम,

उनके कहे अनुसार व्यवहार करने से विशेष लाभ होगा । तब भी किसी को *यह जीव* को अपने यहाँ बुलाना हो, उसे समर्पण भाव से कुछ न कुछ देने की दानत पहले परखे ।

('जीवनमंडाण', आ. १, पू. श्रीमोटा के दो बोल)

● ● ●

मेरे विषय में कुछ भी —अनुभव बिना या मान्यता बिना—कल्पना से मान लेना नहीं है । पर उसकी ठोसता स्वीकार सके इतना दिल में लगे तब ही उसे स्वीकारना । **'स्वीकारना' यह उसका नाम कहलाये कि स्वीकारने के बाद उसमें पीछे हट ही नहीं सकते ।** इसलिए भाव के आवेश से कुछ भी न मान ले ऐसी मेरी पुनः पुनः विनती है ।

हमारे विषय में हमें कोई दावा नहीं करना, परन्तु हम पूरी तरह समझाने की माथापच्ची में पड़ नहीं सकते । हमें कैसे लिखना, कैसे रहना, कैसे व्यवहार करना यह सब कुछ कहकर हुआ नहीं करता । और मेरा कोई ठिकाना भी नहीं होता । और इससे सामनेवाले की मेरे विषय में योग्यता अथवा अयोग्यता विषयक ख्याल भी जागने की पूरी संभावना रहती है । उस समय मन में डगमग हो और हमारा आधार तथा नींव हिल जाये ऐसा होता है, परन्तु मुझे समझाना पड़े और ऐसी माथापच्ची में पड़ना पड़े यही मुझे तो अघटित लगता है । मुझे कैसे चलना, कैसा व्यवहार करना, कैसे कहना और कैसे लिखना यह मेरी अपनी बात है । **यह जीव** में चेतना विषयक पूरी तरह समझ न हो तो—अथवा तो हमारी मानसिक भूमिका और समझ द्वारा कुछ धारणा या मानना पड़े तो—उससे पहले चेताने यह लिखता हूँ । साधारण रूप से मैं समझ नहीं देता ऐसा नहीं होता, पर इसप्रकार ही व्यवहार करूँ ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है । ('जीवनमंडाण', आ. ३, पृ. ७३ से ७५)

यह जीव के श्रीगुरुमहाराज की कृपा से और प्रभुकृपा से जीवन की साधना फलित हुई है, यह तो सत्य और प्रमाणित है । कुटुंब की अत्यन्त गरीब दशा होने पर भी स्थूल रूप से उस प्रकार के जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ और परेशानियाँ होने पर भी, श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ

सेवा के लिए उसने समग्र जीवन बीताया है यह भी ठोस सत्य है । **जीव** में विश्वास, श्रद्धा रखने के लिए की **जीव**स्वभाव की भूमिका पर से भी जितनी पर्याप्त योग्य हकीकत मिलनी चाहिए या होनी चाहिए उतनी **यह जीव** में है, यह तो स्पष्ट भरोसे से अनुभव हो सके ऐसा है । जीवनविकास के हेतु के लिए सभी प्राप्त स्वजनों में श्रद्धा, विश्वास, प्रेमभक्ति और जीवनविकास के लिए तमन्ना हृदय में प्रकट हुए बिना **यह जीव** के सभी मिले हुए स्वजन के जीवन में मन, चित्त, प्राण, मति, अहम् आदि में प्रवेश करने का और जीवनविकास के लिए काम करने का असंभव ही होता है ।

इससे **यह जीव** की तो तुम्हारे सभी के पास से ऐसी माँग है । भिक्षा की झोली रखकर तुम सभी के आँगन में भटकता रहता हूँ । अभी किसी के पास से वह मिलना नहीं है । अलख पुकारता जाता हूँ । मेरा भगवान सच्चा है इसका भरोसा है । इससे उस प्यारे की आशा में जीया जाता है । **जिन स्वजनों को जीवनविकासार्थ हृदय से उसके कृपाबल से जुड़ना हुआ है, वह कोटि जन्म होने से भी उसमें से बिछूडना संभव नहीं ।**

व्यापार की कला में व्यापार की लगनी लगे बिना पारंगत हो नहीं सकते, इसमें भी लगनी लगने के बाद जीवन को जो अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न प्रकार के संग्राम के मोरचों में से पसार होने के बाद वह **जीव** रूपान्तर पाता है, उसे पहचानने की और समझने की शक्ति तब उसमें पैदा होती है । सामान्य व्यवहार में भी चालाक, दक्ष, निपुण, व्यवहारकुशल मानवी को हम पूरी तरह परख नहीं सकते । तो ऐसे को किस तरह परख सकेंगे ? इसलिए ऐसों को परखने या समझने की खटपट में पड़े बिना उसके साथ हृदय की ही प्रेमभक्ति से जितना राग कर सके उतना राग किया करे । उनके वचनों को हमारी समझ से नहीं, पर कोई योग्य प्रकार का तथ्य होगा वैसे उस पल उस प्रकार की जीवंत श्रद्धा, विश्वास, भक्ति से जितना हृदय के उत्साह से स्वीकारने का हो सके उतना करे यह हमारे लिए उत्तम है । इससे कोई तुम्हारे सभी का लाखों का

नुकसान नहीं हो जायेगा । उलटा टेढ़ामेढ़ा भूकंप नहीं होनेवाला । वैसे स्वीकार की भूमिका में उस समय कोई गिनती नहीं होती या दूसरी कोई कुछ समझ न हो अथवा तो, 'चलो ! **मोटा** को इससे अच्छा लगेगा ।' ऐसी वृत्ति भी न हो । उसमें एकमात्र समझ, अपने जीवनविकास के प्रति की होनी चाहिए । अथवा ऐसे वचनों को न स्वीकारने का हो, तब भी हरकत नहीं । वह मात्र माँगता है सभी स्वजनों का प्रेमभक्तिभरा सत्कार, स्वीकार, सहकार और सहचार । ऐसा हो तब ही परस्पर एकराग हो सकता है । राग यदि सचमुच दिल में प्रकट हुआ तो हम परस्पर चिपके समझना । इसप्रकार का राग भी अभी किसी स्वजन में लगा नहीं है । **जीवनविकास के उत्कर्ष का मार्ग माँग लेता है कितनी अनिवार्य शरतें । उन शरतों का हृदयपूर्वक का प्रेमभक्तिपूर्वक का पालन यह एक बड़े से बड़ा इस मार्ग का साधन है ।**

This is an appeal from the heart, of the heart, to the heart.

इस हृदय में से निथरता अंतरतम हृदय का स्वजन की अंतरतम हृदय की पुकार और आरजू है ।

स्वजनों को अनेक तरह से करके श्रीप्रभुकृपा से मुझे तो मिश्रित करवाना है या करना है ।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ३१६ से ३१८)

॥ हरिः ॐ ॥

॥ हरि:ॐ ॥

यह समाज कब्र की पूजा करता रहता है ।

– मोटा

॥ हरि:ॐ ॥

खंड - २

श्रीमोटा का साहित्य

॥ हरिः ॐ ॥

लक्ष्मी माता है, लक्ष्मी द्वारा किया दुर्व्यवहार
माता के साथ किये जाने व्यभिचार समान है ।

– मोटा

॥ हरिः ॐ ॥

१. मेरा साहित्य

प्रभुकृपा से **यह जीव** तो जो अनुभव करता है, वही लिखता है। फिर दूसरे कोई समर्थ या सत्पुरुष की वाणी के साथ उसका साम्य हो या न हो। **यह जीव** ने कोई कुछ पढ़ा किया नहीं है। महात्मा पुरुषों के वैसे-वैसे वचनों के साथ **यह जीव** के लेखों का साम्य अनेक जगह प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इससे तो ऐसा नहीं ही मान सकते कि वह सब मेरा अपना नहीं। जीवनविकास की साधना में **यह जीव** पड़ा हुआ था। कितनी बार वर्ग चलाते-चलाते १९३१ में बोडाल में ध्यानस्थ हो जाने का प्रभुकृपा से हुआ करता था और कराची में अनेकबार मेरी ऐसी अवस्था हुई। जीवनविकास की साधना में से जो-जो समझ आयी है, उस-उस अनुसार मैं तो लिखता हूँ, इसलिए उस तरह उसकी यथार्थता कृपा करके स्वीकारना। प्रत्येक के अनुभव अलग हो सकते हैं। सत्यरूपी हीरे का पक्ष अनंत है। और प्रत्येक अपनेआप को हुए अनुभवपक्ष के अनुसार उस विषय में लिखता होता है।

('जीवनदर्शन', आ. ८, पृ. २४९-२५०)

मेरे इस प्रकार के साहित्य में कितना तो ऐसा है ही और वह भी fundamental पूरी जीवनसाधना के नींवरूप या चाबीरूप कि जो दूसरों के लेखों से निराला भी है। आध्यात्मिक भूमिकाओं के लिए स्पष्ट लक्षणों की यथार्थता और उस तरह मन को भान करानेवाला लेख बहुत ही कम प्रकट हुआ है। अनुभव हुआ हो तब भी, उस-उस तरह उतने ही प्रमाण में व्यक्त होने की कला, यह भी एक अलग कला के अभ्यास का परिणाम है। ('जीवनदर्शन'', आ. ८, पृ. २५०-२५१)

मुझे समझाना नहीं आता। अनेक बार उलझनें खड़ी हो ऐसा भी लिख जाता है। लेख में आरपार उतर जाये और उसका मर्म स्पष्टरूप से समझ सकें ऐसी बेधकता नहीं। सर्व परिस्थिति में चेतनायुक्त ज्ञानपूर्वक की तटस्थता रखे रखने की जो आवश्यकता है, वह मेरे में वास्तविक

रूप से हो तो आनंद ही है । फिर, चर्चा में कभी भी मुझे रस नहीं आया । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १९८-१९९)

बचपन का जीवन गरीबी में बिताया और मजदूरी में दिन बिताये। बीच का समय जिन जिनके यहाँ रहने का हुआ, उन उनकी प्रेमभाव से सेवा करने में व्यतीत हुआ। इसप्रकार, बीच के समय में जीवन में भी शाला-कॉलेज के अभ्यास के बिना दूसरा कुछ पढ़ा नहीं, और पश्चात् का समय तो देशसेवा का प्रकटा उसमें तो समय ही कहाँ था ?

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २२७)

मेरा लेख सीदासादा है, क्योंकि मुझे आध्यात्मिक साहित्य के शास्त्रीय शब्दों की जानकारी नहीं थी और न है । जिसका थोड़ा बहुत भी इस मार्ग में प्रवेश हो उसे समझ आये ऐसा है । यह पढ़ने से दूसरा आध्यात्मिक साहित्य भी समझने लगेगा । ('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ५३)

• • •

यह जीव के अनुभव में और उसकी समझ में शास्त्र का चेतन आत्मा के कथन का कोई सजीव आधार मिलता है, तो वह बहुत पसंद लगता है । ('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २२६)

• • •

सन् १९३९ पश्चात् at random—कैसे भी—जैसे कुछ मिलता उस-उस समय में जो-जो समाधान रूप अनुभव की भूमिका पर जो दृढ़ हो गया था और उसके अनुरूप कहीं-कहीं वैसा सुनने, देखने में या पढ़ने में आता उससे सविशेष आनंद होता ।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १७७)

• • •

मेरे जीवन के अनुभव में से निचोड़ कर तथा जो जीवनध्येय निश्चित किया है, उस ओर जाने की भावना-धारणा से उस ओर का प्रभुकृपा से हुआ जाता पुरुषार्थ और उसके प्रति सतत जलती रहती जिज्ञासा और धगश उन सभी की ओर दृष्टि रखकर जो तो लिखता हूँ—इसलिए ऐसे लेख में एक ही ओर की दृष्टि से लिखे होने की संभावना सही ।

मैंने जो विचारसरणी—जीवनदृष्टि—पसंद की हुई है, वह होते रहते अनुभव में से आयी हुई है । उसके सामने की ओर का प्रत्यक्ष वैसा अनुभव हुए बिना शीघ्रता से मेरी विचारसरणी बदलता नहीं होता ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २६१)

● ● ●

ध्यान का हेतु अथवा तो साधना के अभ्यास का हेतु वैसे साधन के अभ्यास के बिना के जीवन के दूसरे समय में उस-उस प्रकार के साधन की भावना को अटूट रूप से प्रकटाने में रहा है । इसप्रकार यदि हुआ करे तो ही जीवन में भावना की एकतारता और एकतानता आ सकती है । साधना करते समय भावना आये और उसके सिवा के जीवन के दूसरे समय में भावना का यदि खून हुआ करे तो फिर यह दोनों परस्पर विसंवादी रीत से भावना में एक ऐसे प्रकार की क्षति आती है कि जिससे भावना का उच्छेद ही हुआ करता है । इससे साधक को जीवन के भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन के अभ्यास में से जितना महत्त्व का लक्ष देना है, उससे भी विशेष लक्ष और विशेष चेतनात्मक लक्ष प्रतिदिन के होते रहते व्यवहार में रखा करना है और उसके प्रति उसका विशेष ज्ञानभक्तिपूर्वक का झोक पूरीतरह मुड़ गया हुआ होना चाहिए । यदि ऐसा होना न हुआ करता हो तो ध्यान का या ऐसे दूसरे किसी साधन के अभ्यास का कोई अर्थ नहीं है । **इस मार्ग को तो मैं एक प्रत्यक्ष जीवनसाधना का मार्ग गिनता हूँ और इससे ही उसे 'जीवनयोग' कहता हूँ ।**

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ११७)

● ● ●

जीवनविकास के प्रति का उत्कट में उत्कट दिल में दिल से भाव प्रकट होते गुण अपनेआप आये बिना नहीं रह सकते, ऐसा मेरा निजी अनुभव है । गुण का महत्त्व है यह बिलकुल सही है, परन्तु गुण से भी जीवनविकास के प्रति यानी कि दिल का भाव लाने के प्रति ही विशेष से विशेष महत्त्व हमें लाये करना है, क्योंकि भाव में से उसे-उसे लगता योग्य अपनेआप प्रकटता जाता होता

है, यह भी अनुभव की हकीकत है । इसप्रकार, एक ओर से भाव को महत्त्व दे देकर गुण को विकसित करना है, उसके साथ-साथ भाव आ सके ऐसे साधन के अभ्यास में हमारा दिल सतत लगातार, एकतानता से पिरोया रहे उस प्रकार की जागृति की भी बहुत-बहुत आवश्यकता है । इसे मैं 'जाग्रतियोग' ऐसा नाम भी देता हूँ । जाग्रति जीतीजागती प्रकटती रहती हो तो ही उस प्रकार का प्रयत्न बनता रहता है । जाग्रति बिना का प्रयत्न, मानो कि होता हो तब भी वह योग्य परिणाम नहीं ला सकता ।

('जीवनदर्शन', आ. २, पृ. ६०)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२. जीवन

जीवन अर्थात् अनंत जन्मों के संस्कार लेकर आये जीव की चेतनशक्ति की मानवीदेह द्वारा होती वहनक्रिया ।

जीवन नदी के प्रवाह की तरह प्रतिक्षण पलटता जाता है, और तथापि वे पलटे पुराने के आधार पर ही होते रहते हैं, पुराने संस्कारों ने नदी के पाट की तरह एक पाट रचा होता है, उस पाट में बहने की ओर जीवनप्रवाह का रुख और नये संस्कारों का गढ़न साधारणतः और स्वाभाविकरूप से होता है । इससे इन्द्रियों के साम्राज्य के नीचे मानवी कर्म-संस्कार की गठरियाँ बांधकर जगत में आया होता है और अधिक बड़ी गठरियाँ बांधकर जगत में से चला जाता है । हमें किसीने एक वस्तु भेंट दी हो तो उसे कितने आदरपूर्वक सँभालकर कबाट में अच्छी जगह सजाकर और अच्छा दीखे इस तरह हम रखते हैं ! तो प्रभु ने हमें यह जीवनभेंट दी है, उसका मूल्य उस भेंट जितना भी क्या हम नहीं आंकेगे ?

जीवन यह अंधेरा कुँआ नहीं है अथवा तो तूफानी हवा की तरह कहीं भी उड़ आता झंझा नहीं है । जीवन की कठिन से कठिन कसौटी में और उसके प्रसंगों में जीवन की लगातार बुनाई निरन्तर बुनाई जाती होती है । इसप्रकार लगातार पाट बुनने के लिए जैसे प्रसंगों में **जीव** को रखा जाना चाहिए वैसे-वैसे प्रसंगों में वह रखता चला जाता है ।

प्रत्येक प्रसंग में जीवन को गढ़ने का हेतु होता है ।

जीवन का गढ़ना कोई ऐसे के ऐसे नहीं होता । उसके लिए तो हथौड़े के घाव भी सहन करने पड़ते हैं । चारों ओर से तथा ऊपर-नीचे से टीपाना पड़ता है । जीवन जीना हो तो, जीवनविकास के यज्ञ के लिए, मर मिटकर पूरी तरह से फना हो जाने के लिए, जीवन यह तो हमारा सद्‌भाग्य है । ऐसी जीवन की फनागीरी में से जीवन की सुवास आती है ।

जीवन कोई कालप्रवाह में बहती हुई केवल लकड़ी नहीं, परन्तु जीवन तो काल को भी वश रख सके ऐसी चैतन्यशक्ति का आविर्भाव है ।

प्रतिक्षण बदलते रहे हुए विश्व में जीवन के जितना ही महत्त्व रखती वस्तुस्थिति मृत्यु में है । जीवन और मृत्यु उभय का वास्तविक स्वरूप एक ही है । जहाँ जीवन है, वहाँ मृत्यु का परिणाम भी निश्चित है । मृत्यु और जीवन एक ही जीवनतत्त्व के दो दर्शन हैं ।

मृत्यु के प्रति मानवी को हमेशा डर रहा करता है, उसका कारण उसकी अपरिवर्तनशील मनोदशा और अगम्य विषयक डर है ।

मृत्यु के पीछे शोक करने की असात्त्विक वृत्ति में, भाव में निरी आसक्ति है और अनजानी गहरी स्वार्थवृत्ति भी होना संभव है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २२४, २२५, २३५, २३६, २३७, 'जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७१)

● ● ●

जीवन यह कोई मात्र जीवन के लिए नहीं, पर भगवान के लिए है । जिस मनुष्य का जीवन जीवन्त हुआ है, वह तो अवश्य भगवान की लीला ही प्रकट करता होता है । ऐसा जीवनवाला हृदय भगवान के भाव को सचमुच तत्त्वतः प्रत्यक्ष नजर के सामने जीताजागता अमृततत्त्व जानता है, मानता है और अनुभव करता है तथा अंतर में वैसा अनुभव कर उसके हेतु को पहचानकर उसके संकेत का सतत अनुसरण करता होता है । हमारे में जहाँ तक द्वन्द्वभाव है, आसक्ति है, बाहर के आवरण-वातावरण में

मिल जाने की वृत्ति और रस है, सभी परिस्थिति में तटस्थता आई नहीं है, वहाँ तक ऊपर की स्थिति का सही ख्याल हमें कभी नहीं आ सकता है। जहाँ तक हम में standards (मंतव्य या नियमानुसार ही मूल्यांकन की आदत) हैं, वहाँ तक हम उस तरह ही देखने के आदी रहेंगे और हमारी दृष्टि तथा वृत्ति उतने प्रमाण में संकुचित रहेगी ।

हमारे आंतरिक जीवन को खोज निकालने—आविर्भाव करवाने—और उसे स्वरूप में प्रकटाने का Urge (सतत आंतरिक विनती) और वह भी उत्कट स्वरूप का होने लगेगा, तब हमें अवश्य सभी से सवाया होना आता जायेगा । जगत में यदि हम सूक्ष्मता से देखेंगे तो लगेगा कि जो-तो कुछ एकदूसरे के अवलंबन पर जीवित रहता है। हम जानेअनजाने कई-कई प्रवृत्ति करते होते हैं और उसे हमारा जगत बनाते हैं। ऐसे अनेक नये जगत हम रचते हैं और पुराने को छोड़ देते हैं । यदि मार्मिक रूप से जाँचे तो पता चलेगा कि नये जगत में प्रवेश करते समय पर कुछ पुराना हम छोड़ देते हैं । पर साधारण रूप से तो उसका हमें जरा भी भान नहीं होता। इसप्रकार, छोड़ना और प्रवेशना यह तो हमारा एक क्रम ही हो पड़ा है, पर यह सब हम स्वभाव और प्रकृति के वश होकर करते होते हैं। अब हमें वैसा नहीं करना है। उन सभी कामों से अलग होकर तटस्थ रहकर-वे हमारे काम हमारे स्वभाव का परिणाम है, गुणों की असर के कारण होता है, ऐसा जानकर उसकी असर में बहे बिना उसे देखा करना है। उसके प्रवाह में बह नहीं जाना है और उस तरह से वे होने देना है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७२-७३)

जीवन में ऐसा भाव विकसित हो इसके लिए हमें सर्व प्रयत्न करने रहे। ये प्रयत्न अनेक तरह से हो सके। यह प्रयत्न यही योग, परन्तु उसके लिए हमारी तमन्ना दिन-प्रतिदिन बढ़ा करनी चाहिए। यह तमन्ना बढ़ाने के लिए हमें जिस भाव को जीवन में प्रकटाना है, उस भाव के अनुकूल भूमिका हो ऐसा व्यवहार ही मात्र नहीं, परन्तु हमारा मानस भी उस तरह से करने की जरूरत है। जीवन मात्र केवल कोरी जड़ हकीकतों से भरा नहीं है, वैसे यह मात्र भाव या मनोभाव का बंडल भी नहीं है, पर यह

सब मिलकर साकार स्वरूप हो, ऐसा हमें जीवन को करना है । भाव, आवेश, मनोभाव, भावना, प्रेम—ये सभी हमें बढ़ाने ही होगे । वे तब ही बढ़ेगे कि जब हमें ऐसे मौकों मिलते ही वैसे मौकों से हम में जागृति रखकर उस उस समय भावनाओं को जगाने देगे, पर वे भोग नहीं लेंगे, और ऐसी भाप बनाते रहेंगे । ऐसा करते करते हम घनित, पुनित बनते जाएँगे ।

जीवन का मूल्यांकन अमुक ही तरह से आंकने अथवा हमारी तरह से ही गिनने की आदत तो हमें मन में से निकाल डालनी ही होगी । हीरे के यदि अनेक पक्ष हैं तो जीवनरूपी हीरे के तो कितने अधिक पक्ष हो सकते हैं ! पर हमारा जीवनहीरा तो गढ़े बिना का है । अभी उसे गढ़ना है, साफ करना है, उसकी पहल करनी है और दूसरा बहुत-बहुत करना है । इसके लिए उसे भगवान के हाथ में—उस कारीगर के हाथ में संपूर्णरूप से रख देना है और हमारा सभी ही रख देना है, तब ही हम गढ़ाते जायेंगे, पर तब जैसे-जैसे सान पर हम चढ़ते जायेंगे, वैसे-वैसे उस प्रयोग में से मिलती चेतना का अनुभव भी हमें हुए बिना रहेगा नहीं । ऐसे अनुभव यानी प्रभु की झाँकी । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७९-८०)

● ● ●

बालक शिक्षा के साधनों के साथ खेलता है, तब उन साधनों को मात्र खेल के रूप में वह स्वीकार करता है, पर उसे पता न चले उस तरह वह उसमें से ज्ञान प्राप्त करता है । हम प्रकृति या स्वभाव से होते कामों को मात्र खेल माने पर उसमें से समझपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, सतत कुछ सीखे, अंदर के गुणों का खेल जानते रहे तथा कहाँ-कहाँ उससे सवाया होने की कला को जाने और उसके अनुसार व्यवहार करे तो ही सफल हो सके वैसा है । बाकी तो यह तो अनंतकाल का खेल बन चुका है । इसमें से अंत आना सरल नहीं लगता । यह सब तब ही हो सकता है कि जब हमारे ध्यान को जीवंत रूप से और सचोट रूप से दिल के सभी ही व्यवहार में उतारने की आदत डाला करें । ऐसा हो तो सब कुछ सरल है ।

हमारी प्रत्येक क्रिया में राग, सुख, लहर आदि न रखें पर उसके पीछे के चेतनबल में ही लक्ष रखें तो जीभ की स्वादवृत्ति, कान की वृत्ति, नाक की वृत्ति, आँख की दृष्टि और इन्द्रिय की लोलुपता आदि का जोर एकदम घट जायेगा । अंत में तो सभी इन्द्रियाँ उस सूक्ष्म चेतन-तत्त्व में रस लेती हो जायेगी । **मनुष्यों ने पामर बनकर भगवान का जो सर्जन है, दिव्य तत्त्व रहा है, उसे पाशवी वृत्ति में लीन होकर बिलकुल अधोगति के रूप में परिणत कर दिया है, उस सर्जन के पीछे जो लीला का तत्त्व रहा है, उसके बदले हम तो हमारे गुणों के-स्वभाव-प्रकृति के ही गुलाम बने हैं और उसमें रत होकर पड़े रहते हैं । अरे ! हम गुलाम बन गये हैं, उसका भान भी हमें हुआ नहीं है । जहाँ तक गुलाम हैं, उसका दु:ख-दर्द भी हमें सालता नहीं, वहाँ तक उस स्थिति में से हमारा उद्धार होना भी संभव नहीं है ।**

आज से हमें अपनी संकल्पशक्ति को अंतर्मुख बनाकर उसे अंदरूनी गति करती करनी है । भावनाओं और वासनाओं के उस पार, इन्द्रियगम्य विषय और उसके आकर्षणों के उस पार हमें अपनी संकल्पशक्ति के प्रेरणात्मक बल से अपनी जात को ले जाये । मनप्रदेश और मन के सहगामी संस्कारादि की भूमिका से ऊपर उसे हम ले जाये । विचार, प्रकृतिजन्य प्रेरणा, आसक्ति और वासना की दलबंधी में से बाहर उसे निकाले । इसप्रकार, हमारे अंदर रहे ऐसे तत्त्व को हम पाये कि जो शाश्वत है, शान्त है, निर्मल है, नि:स्तब्ध है, अविकारी है, सम है, सभी प्रसंग, सभी व्यक्तिओं और वस्तुओं के प्रति जो निष्पक्षपाती है, जो किसी कार्य से हिल नहीं उठता और प्रकृति के सर्व किसी आकार से जो अपने में विकारी नहीं होता । यदि एक शाश्वत आध्यात्मिक अनुभूति के परिणाम से ऐसे तत्त्व को हम पाये तो हमें एक ऐसी ठोस नींव मिल जायेगी कि जिसके ऊपर खड़े रहने से हमारे मन-सर्जित व्यक्तित्व की परिसीमा या बंधन में से - दल में से हम छूटेंगे । मन:प्रसाद और ज्ञान तथा शांति में से च्युत होने का हमें संभव ही न रहे और अहम् में से मुक्ति पायेंगे ।

जीवन का निचोड़ अनुभव में है। पर 'अनुभव' तो तब ही आता है कि जब उसके पीछे हम अपने हेतु को प्रत्येक कार्य में जीताजागता रखे। बाहर के, दूसरों के कूटप्रश्नों में जितना रस लेते हैं, उससे हजारगुना ध्यान, लक्ष, वृत्ति, रस, तटस्थता, एकाग्रता आदि हमें—अपने स्वयं के जीवनप्रश्न में हमारे हेतु का प्रेरक, चालक बल के रूप में स्थापित कर उस पर नजर टिकाकर—लाने पड़ेंगे। हमारा भगवान में सतत युक्त रहने का 'मरणान्त' प्रयत्न अविरत और दीर्घकाल तक चलता रहेगा तो हमारे में ऐसी आंतरिक वृत्ति खिल उठेगी कि जिसे जो कुछ होना संभव है। इसका कारण तब हमारे में एक ऐसी दिव्यशक्ति हम ला सके होगे, कि जो मात्र उसकी इच्छा से ही सब कुछ करने शक्तिमान होगा ही होगा। उसकी इच्छा में सर्व बल की मात्रा आ गयी होती है। पर तब ऐसी इच्छा करने में हमें बहुत-बहुत सूक्ष्म विवेक रखना पड़ेगा। ऐसी इच्छा अजमा देखने की लालच रोकना यह तो इन्द्रिय की लोलुपता से कहीं अधिक कठिन बात है। यह तो प्रमाण में सरल है पर उसमें तो अपार संयम की जरूरत है, यह मेरे अपने अनुभव की बात लिखूँ तो उसमें थोड़ी भी अतिशयोक्ति नहीं है। हमें 'संयम' अर्थात् क्या उसका तब ही सच्चा भान होनेवाला है। तब ही 'अनंत शक्ति' और उसका बल और उसका परिणाम आदि क्या है, उसकी कोई झाँकी होनेवाली है। ऐसा जब होगा तब दुनिया में कोई ऐसी दूसरी शक्ति नहीं रहेगी कि जिसके बल द्वारा हमें अपने में वह लपेट दे ऐसी यह अनंत दिव्य शक्ति की आलिंगन-लीला है। ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७३ से ७५)

• • •

जीवन में प्राप्त होती परिस्थिति और संयोग—यदि ध्येय के प्रति दृष्टिबिन्दु एकाग्र और केन्द्रित, जीताजागता निरन्तर रहा करता हो तो—हमें वेधक और प्रेरणात्मक जीवनदृष्टि प्रेरित करते रहते हैं। जीवन जैसा समग्र, अटूट और एकपन होता है, परन्तु वैसा वह दृष्टिबिन्दु जीवन में

जीवन से हम रख नहीं सकते हैं । आ पड़े संयोग को उस काम पर्याप्त जीवन के एक विभिन्न टुकड़े के रूप में लेखकर हम व्यवहार करते हैं, इससे वैसे जीवन के व्यवहार में अटूटता और समग्रता आती नहीं, और उस कारण से समग्र जीवन के मूलभाव का सातत्य कभी कार्य में आता ही नहीं । समग्रता, अटूटता सामान्य जीवात्मा को जीवन में ख्याल में आना संभव नहीं होता । जीवन में जीवन के ध्येय की भावना ज्वालामुखी के जैसी धधकती जब ज्वलंत रूप से प्रकट हो उठती है, तब ध्येय के प्रति की भावना अनुसार का व्यवहार होते जाते क्रम में प्रकट सकता है और ऐसा मानवी सजग रह सकता है । जो **जीवात्मा** पलो पल सजग रहता होता है, ऐसा फिर किस तरह कर्म से विमुख हो सकता है ? ऐसा 'जीवात्मा' तो जो कुछ मिलता है, उसे ध्येय की भावना के तराजू में तौल तौलकर वैसी भावना को ज्वलन्तरूप में प्रगटाने और उसे पोषण देने ही उसकी कृपा से जीवित रहा होता है, ऐसा **जीव** किसी से विमुख नहीं हो सकता है ।

साधनामय जीवन यही सच्चा जीवन है, साधना से जीवन में जीवन के सहस्र नयन खूलते होते हैं । जीवन में अनेक पहलुओं के उसे दर्शन खूलते जाते हैं । जीवन के सभी पहलुओं को वह सादर और सद्भाव से नीरखता है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के प्रति सद्भावना के साथ वह तो सुमेल लाता रहता है । जीवन की सर्व प्रकार की रचनात्मक प्रवृत्ति में वह समाधान पाता रहता है, उसका किसी के साथ विरोध नहीं है । वह तो जिस तिस के साथ समरस होता रहता है । और यही है उसके जीवन का सही रहस्य । उसे किसी से भी फिर अलग होना कैसे हो सकता है ?

सेवा के जीवन में गुण खिलते हैं और उसकी शक्ति भी सहज रूप से प्रकट हो व्याप्त होती है, परन्तु उसमें भी वह अपनेआप निर्ममत्व से, निरासक्तभाव से तैरता रहता है । जीवन का ध्येय जीवन के किसी एक पहलू में समा नहीं जाता होता, वह तो प्रथम एकाग्र और केन्द्रित होते-होते उसकी पराकाष्ठा में पहुँचने के बाद तो वह विस्तार करता-करता जीवन के सर्व पहलुओं को स्पर्श करता है, इससे वह जैसे एक में है

वैसे अनेक में भी होता है ।

जीवन का साधक तो जहाँ-तहाँ से सद्भावना की पहचान और कदर किये बिना नहीं रह सकता है । जिस-तिस का योग्य मूल्यांकन वह यथाभाव से करता रहता है । किसी भी सद्प्रवृत्ति के हार्द को अनुभव करे बिना नहीं रह सकता, इससे वह जीवन की सकल सद्प्रवृत्ति के मूल में है । जीवन के साधक की भावना कहीं बिखरी पड़ी नहीं होती । वह जैसे एकाग्र और केन्द्रित होती है, वैसे वह वापिस सर्वतोमुखी होने को भी लगातार लगे रहती है । साधक के जीवन की दृष्टि को एक में एकाग्र केन्द्रित रूप में होना जो प्रकटता है वह तो विस्तार पाने की दशा को पाने के लिए । इससे उसका एक में जो बंद रहना एक काल पर्याप्त हुआ करता है, वह तो ज्वालामुखी की तरह बाहर फूट निकलने से पहले अंदर का भूगर्भ में बहुत समय पहले से बाहर फटने की क्रियाप्रक्रिया सतत चला करती रहती है, उसके जैसी यह पूर्व तैयारी है । इसप्रकार की पूर्व तैयारीरूप साधक का साधना में एकाग्र केन्द्रित होता जाता जीवन होता है, इससे वह समाज से तनहा और अकेला पड़ गया है ऐसा मानना यह उचित नहीं है । कोई वैज्ञानिक जैसे अपने आविष्कार के प्रयोग में मनन-चिन्तन में रहा करता होता है और वैसे एकाग्र मन के काल में दशा पर्याप्त दूसरे सभी प्रकार के जीवन के प्रति उसकी दृष्टि चली नहीं जाती वैसे साधक का भी होते रहता है ।

जिसे-जिसे कुछ पाना है, उसे वह पाने के प्रयत्न में एकाग्र और केन्द्रित हुए बिना नहीं चलेगा । जिसे जो-जो प्रवृत्ति जीवनध्येय को विकसित करने ली है, उसमें उसे एकाग्र और केन्द्रित होना ही पड़ता है । यह हकीकत जीवन में सर्व क्षेत्रों को लागू होती है । लड़ाई के जोश को थिरकते रखने उस दौरान समग्र प्रजा की दृष्टि को जैसे एकाग्र, केन्द्रित और तत्परतावाली रखने में आती है और उस काम के पर्याप्त जैसे दूसरे किसी को महत्त्व नहीं दिया जाता—एकमात्र लड़ाई टिके रहने और जीतने के प्रति प्रवृत्ति को ही जैसे महत्त्व दिया जाता है—वैसे जीवन में साधना

के प्रति रुख को समझना है ।

जीवन के रागद्वेषादिक प्रवृत्ति के भावों से—वे वे प्रकटते—खिंच न जाकर शांति, समता, तटस्थता लाने जागृतिपूर्वक मथा करना, जो जीवन के सकल वर्तनभाव में सत्त्वगुण प्रकटाने को निरन्तर ज्ञानपूर्वक मथना—इसे क्या कर्म नहीं गिनेंगे क्या ? और वैसा कर्म भी श्रीप्रभुप्रीत्यर्थ हुआ करे, प्रभुभाव से हुआ करे और वह ज्ञानभक्तिपूर्वक श्रीभगवान के चरणकमल में सतत अर्पण हुआ करे—ऐसा सब कुछ जैसा-तैसा कर्म नहीं हैं । साधनामय जीवन के प्रति संसार के विचारक और विवेचकों के आलोचनायुक्त प्रहार को जीवन का साधक समभाव से नीरख नीरखकर स्वयं अपने में अधिक प्रामाणिकता से निरन्तर एक ही भाव में व्याप्त हुआ करे वही योग्य है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

३. जीवनविकास

जीवनविकास की दृष्टि, वृत्ति और भाव जहाँ तक एकाग्र और केन्द्रित, जीतेजागते निरन्तर प्रकटे नहीं होते, वहाँ तक श्रेयार्थी की भूमिका Receptive and Responsive—स्वीकारात्मक, संग्राहक और उसे अनुलक्ष कर उसका हेतुलक्षी भावना से प्रत्युत्तरात्मक के सामने उत्तर प्रेम से, हृदय से उमंग से मोड़ सके ऐसी बन गयी हुई हो सकी न हुई होने से, उसका दिल जो-तो सभी पूरा पचा सके ऐसा नहीं होता । उसका आधार तो उसका हृदय जीवनविकास के ध्येय के प्रति कितना और कैसे धधगता आतुरतायुक्त और सतत उन्मुखी प्रकट हुआ हैं, उस पर है । ऐसा दिल का दिल में दिल से प्रकटी हुई ऐसी आतुरता यही सच्ची तरह से जीवन को गढ़नेवाला सच्चा गुरु है, और तब ही निमित्त-गुरु उसे प्रभुकृपा से आकार देने में प्रेरणात्मक सूक्ष्म मदद प्रेरित कर सकता होता है । ऐसी दिल की उत्कट छटपटाहट, प्रचंड जोश, उत्साह, उमंग, न्योछावरी, साहस, हिंमत, धीरज, त्याग, समर्पण आदि जीवन में जब एक अंगभूत बुन जाकर उसके वैसे स्वरूप की काया गढ़ी हुई होती है, तब ही ऐसा श्रेयार्थी वारी-वारी जाकर उसमें सर्व भाव से और सर्व तरह से स्वयं फनागीरी

का आनंद रख रखके फलाँग पर फलाँगे कूद कूदकर आगेकदम भरता जाता होता है और ऐसे के दिल की जो जीवन की मस्ती होती है, वह कोई ओर ही होती है। ऐसी खाख होती जीवन की मस्ती में से ही जीवन का पुनर्जीवन और नवसर्जन होता रहता है ।

जीवन के अनेक पहलुओं में, क्षेत्रों में और जीवन के भिन्न-भिन्न संजोगों में परिस्थिति में, अलग-अलग कर्मों में वैसा **जीव** भले अलग-अलग व्यवहार करता लगे, परन्तु उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव तो ध्येय प्रति के हेतु से लगातार प्रेरित हो ध्येय के हेतु की सफलता के प्रति उसके दिल की सचोट टकटकी तब रहा करती होती है और ऐसे में से ही वह अपने जीवन को पार करते-करते आगे बढ़ता जाता होता है ।

जीवन में अनेक प्रकार के घमासान, प्रलय उसे आते हैं, परन्तु उसके दिल की मस्ती का पारा तब भी कभी नीचे नहीं उतर सकता । तब ऐसे-ऐसे प्रसंगों से तो उसके दिल की खुमारी अधिक प्रकाशित होकर कैसी मदमस्त टट्टार अनुभव करती है, उसकी कक्षा तो कोई ऐसा न्यारा विरल वीर ही अनुभव कर सकता है ।

जीवन के विकास का मार्ग तो जीवन की मस्ती का, खुमारी का जीवन के हृदय की भावना उत्साह से स्वार्पण किये जाने का है । जीवनविकास की कथा ऐसे स्वार्पण के एक के बाद एक कदम भरे जाने से नये-नये भाव से और नये-नये रूप से कोई भव्य, रम्य और दिव्य कला में फलित होती जाती जब स्वयं अनुभव करता है, तब जीवन की धन्यता, कृतार्थता अनुभव करता वह श्रेयार्थी ऐसी ज्ञानयुक्त दिल की कुरबानियाँ और आहुतियाँ देता-देता उसके दिल का भाव समुद्र के ज्वार की लहरों से भी अधिकगुना उछलता वह स्वयं अनुभव करता है। इससे जीवन एक परम आनंद का सुख है, ऐसी उसे दिल में दिल से सभानता आती है। ऐसों को तब दिल में मस्ती की जीवन गढ़ने की लगातार सतत भावना बनी रहा करती है। वैसी भावना द्वारा हार या निराशा के भँवर में वह कभी भी गर्त नहीं हो सकता है, क्योंकि दिल में ऐसी प्रकटी प्रचंड, उत्साह, छटपटाहटवाली भावना उसमें ऐसी तो हृदयसूझ लाती है कि वह वैसे-वैसे समय तटस्थता और

समता से उसका आकलन करके, उसे उसे पार कर जाता होता है, वह तब अपने प्यारे प्रभु की परम मंगलमयी कृपा का सहारा अनुभव करता है कि जिसके आधार पर वह अपने जीवन का सुक्कान ध्येय के हेतु को हृदय से लक्ष्य कर प्रभुकृपा से चला करता है ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

४. शरीर

शरीर तो हमारा रक्षणकर्ता है । वह न होता तो क्या होता ? यह **हमारे आसपास के वायुमंडल में वायुरूप एवं प्रवाही होने से अपनेअपने mood अनुसार—मन की टेढ़ीमेढ़ी या ऊँचीनीची दशानुसार—आकार बदल सके ऐसे और वासना से भरे सूक्ष्म तत्त्व इतने सारे हैं कि वे, हमें भगवान ने शरीर न दिया होता तो हमारे में पैठकर, हमें अपना एक साधन बनाकर, अपनी वासना संतोष करते और इसप्रकार हमें अधोगति में डालते । पर वैसा उनसे हो नहीं सकता, क्योंकि हमारा शरीर पार्थिव तत्त्व का है, घन है । इसलिए वह वायुरूप प्रवाही, बदलते आकारवाले, वासना से भरे तत्त्व उस स्थूल तत्त्व के साथ टकराकर वापिस जाते हैं और हमें अपना साधन नहीं बना सकते हैं । हमें कितनी बार काम या क्रोध की वासना बहुत जोरदार होती है । तब भी शरीर हमारा रक्षणकर्ता हो जाता है और हमारे काम-क्रोध के आवेग को रोकता है, नहीं तो हम न जाने कितना नुकसान कर डालते ! पर उस शरीर का स्थूलतत्त्व हमारे आगे पर्वत जैसा रहता है ।**

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४४)

● ● ●

शरीर के जन्ममरण तो अनेक हुआ ही करते हैं, पर मानवी के शरीर का माहात्म्य अत्यधिक है । उसका ऐसा माहात्म्य और रहस्य समझ में आये इसलिए ही जन्मदिन का हमारे में महत्त्वपूर्ण स्थान है । इस प्राप्त शरीर से ही वह, जो-तो कर सकता होता है, शुभ या अशुभ कर्म भी उसके द्वारा **जीव** कर सकता है । उस शरीर द्वारा ही **जीव** या तो बंधता

होता है, या तो अधिक मुक्त होता जाता है ।

शरीर है वहाँ तक **जीव** की भोगक्रिया तो चालू रहेगी ही, परन्तु वैसी-वैसी क्रिया में जो **जीव** बलवान, रसिक और चेता हुआ है, वैसा **जीव** तो उसमें किसी अनोखे ढंग से ही व्याप्त होता है । एक माँ अपने बालक का मैला उठाये उसमें जो वृत्ति होती है और एक भंगी पाखाने से मैला उठाये, यह दो **जीव** की, वह-वह कर्म करते समय की वृत्ति में आसमान जमीन का जैसे अंतर होता है, वैसे वह-वह बलवान, रसिक और निष्ठावान **जीव** के वैसे कर्म के हेतु, समझ औऱ कर्म को भोगते समय का ध्यान और लक्ष—संसारी **जीव** से अलग-अलग प्रकार के रहते होते हैं । दोनों भोगते हैं तो कर्म और दोनों का कर्म तो एकसमान लगता है, पर दोनों की भोगने की मानसिक रीत में और हृदय की उस समय की भावना-धारणा में उत्तरदक्षिण जैसा अंतर होता है । जो-जो कुछ, जीव यदि कर सकता होता है तो वह शरीर के कारण से ही । इससे शरीर का महत्त्व दिल में पूरीतरह जागृत और सचेतन हो तो जन्मदिन का भान होना वह योग्य प्रकार का गिनायेगा, परन्तु इसतरह शरीर के जन्मदिन का हम कोई ख्याल नहीं रखते ।

मानवशरीर द्वारा **जीव** मुक्ति पा सकता है, दूसरी किसी योनि के शरीर से वैसा होने की संभावना नहीं लगती है । इससे यह मानवशरीर की महत्ता अनंतगुनी है, और ऐसा जानकर उसे जो **जीव** भगवान का मंदिर गिनकर प्रत्येक कर्म करते समय उसका सदुपयोग ही किया करता है, वह **जीव** पार हो जाता है ।

शरीर रहता है, वहाँ तक उसे अच्छा कर्म और खराब कर्म भी मिला ही करता है । दोनों प्रकार के कर्म में जीव को धारणा तो अपनी भावना-समझ की किया करनी है । न तो अच्छे को देखना है और न तो खराब को देखना है । पर वे दोनों तो मात्र गुण की लीला हैं । वैसे कर्म जीव को विकसित करने के लिए ही मिले हैं अथवा मन को समता, शांति, तटस्थता, साक्षीपन, धीरज, सहनशीलता, उदारता, विशालता विकसाने के लिए वे-वे कर्म मिला करते हैं, ऐसा हेतु यदि जीव प्रत्येक में जीवित रख सके

तो अच्छे या बुरे कोई भी कर्म उसे बंधनकर्ता नहीं होते । उन-उन कर्म में से वह **जीव** अपने जीवन का हेतु फलित करता जाता है और ऐसे प्रत्येक कर्म उसे **जीव** को—जीवन को फलित हुए जाते होते हैं । जैसे व्यापारी के यहाँ अनेक प्रकार के अच्छे और बुरे स्वभाव के ग्राहक आते हैं, पर वह प्रत्येक के साथ उसे निसबत है मात्र कमाने की ही । वह उनके वैसे-वैसे स्वभाव को महत्त्व देने का करता नहीं होता, परन्तु कमाने का हेतु लक्ष में रखकर अच्छे या बुरे के पास से वह अपना हेतु ही फलित करने का काम करता होता है, वह हकीकत जैसे समझ सके वैसी है, उसी तरह जो **जीव** स्वयं को मिलते रहते अच्छे या बुरे कर्म में एकमात्र अपने जीवन का हेतु ही फलित करने एकतान में रहता है, वैसे **जीव** को कर्म का अच्छा या बुरापन बाधा नहीं डालता । वह तो मात्र समझता है उस-उसमें से अपने जीवन का हेतु ही फलित करने का ही, और ऐसा हेतु फलित होने का शरीर बिना संभव नहीं होता । इससे शरीर का हेतु भी अनंतगुना है और वह सत्य है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ८२ से ८४)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

५. संसार

जगत मात्र एकत्व की साँकल से जुड़ा हैं, परन्तु **जीव** स्वभाव से उसमें भिन्नत्व मनाता जाता होने से जगत अधिक से अधिक रागद्वेष में फँसता जाता है । हम उसमें से जितना प्रेमभक्तिभाव से और विवेकबुद्धि की समझ से विस्तृत हो सके उतनी उसकी आँच हमें कम लगेगी । जला जला लगेगा तो सभी को और हमें भी लगे, तथापि यदि उपरोक्त अनुसार जीवित अभ्यास बढ़ाते जाये तो वह लगेगा नहीं ।

उसी तरह बालबच्चे भी यदि बुद्धि से सोचे तो कोई अलग नहीं हैं। हमसे और हम में से ही वे पैदा हुए हैं, और उनमें जो कुछ अच्छा या बुरा रहा है, वह उनका नहीं, पर वह सब हम में से ही है यह निश्चित जानना । जोकि वैसी-वैसी उस जीव की प्रारब्ध संस्कार की

भूमिका वैसी-वैसी हो, पर वह तो एक अलग हकीकत की बात है । इससे हमारे बच्चे या हमारा संसार वह हम स्वयं ही हैं । वहाँ ऐसी अभेदता लाते रहे उसके साथ तटस्थता, समता, धीरज, सहनशीलता, शांति, अपार प्रेमभाव हमें लाते रहना है । **जगत में समझदार को ही अधिक सहन करने का आता है और अधिक सहन करना पड़ता है । यही मेरे मन तो तपश्चर्या है । संसार में जो सहने का आता है, तब उसमें यदि तटस्थता, समता, धीरज, सहनशीलता, हृदय की उदारता का दृष्टिबिन्दु और वैसा लक्ष, शांति और अपार प्रेमभावना आदि दैवी संपत्ति के गुण उस-उस समय मिल सके तो जीवन में उसके जैसी दूसरी प्रखर साधना या तपश्चर्या नहीं है । वैसा जीवन वह तो एक उत्तम में उत्तम यज्ञ है । हमें वही यज्ञ में आहुत होते जाना है, और उसमें एक के बाद एक आहुति (यानी कि हम से होते सकल कर्म, विचार, वृत्तियाँ, भावनाएँ, भाव, मनोभाव, संसार और संसार का संबंध, उसके साथ का व्यवहार आदि प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म) प्रेमभक्तिभाव से हृदय के उत्साह से होमते जाना है, ऐसी आहुति देते जाने पर जैसे यज्ञ की वेदिका में से अग्निज्वालाएँ प्रकटती हैं, वैसा यदि संसारयज्ञ की वेदि में ज्ञानभक्तिपूर्वक के हमारे ऐसे होम करने से हमारे जीवन का ऊर्ध्वगामी उड्डयन होते हम अनुभव कर सके तो निश्चित जानना कि हम ने दी आहुतियाँ यथार्थरूप थी औऱ हैं ।**

प्रत्येक मानवी को, वह चाहे या न चाहे तब भी होमाना तो पड़ता है ही । इससे ही **यह** सकल विश्व यह तो ऐसे यज्ञ की अखंड तैलधारावत् चलती आती एक विधि समान ही है, उस तरह प्रत्येक का जीवन भी यज्ञरूप ही चल रहा है । मात्र वह-वह **जीव** को उसका जीताजागता ज्ञानभान स्वयं को नहीं होता । प्रत्येक को एकदूसरे के लिए सहना ही पड़ता है, प्रत्येक को परस्पर निभाना ही पड़ता है, ऐसे **यह** जगत में प्रत्येक परस्पर से जकड़े, जुड़े होने से कोई भी किसी से भिन्न नहीं । इस कारण से एक-एक जीव अपने लिए भले ही स्वार्थी हो, तथापि दूसरों के लिए भी जीवित ही होता है, परन्तु मात्र वह अज्ञान, अंधकार

दशा में वैसा करता होता है । ऐसा किये बिना किसी का चलता नहीं, ऐसा यह विश्व का सनातन विधान है । उसमें सभी किसी को जुड़ना ही पड़ता है । ऐसा यह ब्रह्मांड का आदि-अनादि यज्ञ चलता रहा है । सभी कोई उसमें होमाते ही जाते हैं और उसमें हम पलोपल होमाते ही जाते हैं । वह यदि वास्तविक रूप से वैसा है और यदि वैसा हमारी बुद्धि स्वीकार सकती हो तो फिर कोहलू के बैल की तरह आँख में पट्टी बांधकर क्यों होमाये ? होमाना तो पड़ेगा ही उसमें संशय नहीं, इसमें इच्छा का भी प्रश्न नहीं रहता ।

मानवी मूर्खरूप से 'स्वयं स्वतंत्र है, स्वतंत्र है' ऐसी आवाज देता रहता है । यह तो विश्व का सहज और अबाधित ऐसा स्वाभाविक क्रम है । वैसा (समर्पण हुए जाने का) उसका स्वभाव है, विश्वयज्ञ जीवन का यह एक अंग है, इसलिए तो फिर हमें अपने संसारयज्ञ में यदि होमाने का आये उसमें ज्ञानभक्तिपूर्वक से यदि तटस्थता, धीरज, शांति, सहनशीलता, हृदय की उदारता, अपार प्रेमभाव से त्याग-समर्पण की भावना यदि रखा करेंगे तो उस तरह तपश्चर्या का भाव ज्ञानपूर्वक का जो हमारा होमने का होगा, इससे जीवन उन्नत होता जायेगा । इसतरह ऐसे प्रत्येक उन्नत होते जाते जीवन का स्पर्श दूसरों को भी लगता ही होता है । ऐसा जीवन होने की भावना हमारे हृदय में जीवित होते दैवी संपत्ति का गुण आते हम अनुभवी हो सकेंगे । **प्रभुमय जीवन अर्थात् पहले तो सात्त्विक जीवन का विकास और ऐसे गुणों की शक्ति द्वारा प्राप्त संसारयज्ञ की वेदि में पलोपल हमारा जो होम होने जैसा हुआ जाता होता है, उसमें हमें तो ज्ञानभक्तिपूर्वक उपरोक्त भावनानुसार ही जीना, और इसतरह जीने में जब-जब अपार आनंद, रस, प्रेमभाव लगे तब जानना कि जीवन में अब रस जमने लगा है सही !**

संसार यह दूसरा कुछ नहीं पर वृत्ति या भावना का विस्तार है ।

उपाधि तो मन के कारण है । सभी किसी का योग्य होता जायेगा ऐसा विश्वास हृदय से रखे ।

घर के व्यवहार में बिच्छू के दंश जैसी वेदना जिसे होती रहती है,

वह किसी की सलाह लेने रुकता नहीं है, वह तो तुरन्त निवृत्ति लेता है । बाकी, मेरे तत्त्वज्ञान में तो ऐसा है कि जो-जो परिस्थिति मिलती रहती है, वह-वह मानवी के अभ्युदय के लिए संपूर्ण संभावनाओं से भरपूर होती हैं । किसी से भी भाग जाने की आवश्यकता नहीं है । परिस्थिति और प्रसंग तो अनेक प्रकार के आयेंगे और जायेंगे, परन्तु उसमें हम कैसे करते हैं और किस तरह जीते हैं, उस पर हमारे जीवनविकास का आधार है ।

हमारे परिवार का मन, वचन और हृदय का प्रेमभाव और संस्कार पाये बिना जो तो काम योग्यरूप से टिकनेवाले नहीं इसका तो भरोसा है ।

जो बड़ा है, उसे अधिक सहन करना पड़ता है । ऐसा सहना दिल के प्रेमभाव से जो **जीव** स्वीकार कर लेता हैं और उसमें से जो **जीव** आनंद को बहलाता है, ऐसे **जीव** को सकल प्रकार के संताप टल जाते हैं ।

संसार यह जीवन का प्रत्यक्ष बोधपाठ सीखने की पाठशाला है और जीवनविकास के लिए प्रयोगशाला है, उसके जैसा दूसरा कोई जीवित गुरु नहीं है ।

मेरे तत्त्वज्ञान में तो किसी से कहीं भी भागा नहीं जा सकता है । यह तो कोरी कायरता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ७४ से ७९)

● ● ●

संसार प्राप्त है वह शक्ति का विकास करने और शक्ति के ज्ञान का अनुभव के लिए । जीवन में संग्राम कहाँ नहीं है ? संग्राम न हो तो कहीं किसी का विकास संभव नहीं । संग्राम मानव चाहे या न चाहे तब भी पलपल युद्ध तो देना ही पड़ता है, बल्कि मानवी को कठिनाई से उसमें भी पड़ना ही पड़ता है । जो ऐसे संग्राम से ऊबता है, परेशान होता है और ऐसे युद्ध की जो अवगणना करता है, उसकी उपेक्षा करता है, ऐसे **जीव** के त्रास का तो पार रहता नहीं है । **संग्राम का हेतु जीव को शक्ति की पहचान होना तथा इससे शक्ति का उद्‌गम हो और ज्ञान का अनुभव होने के लिए है । संग्राम यह तो प्रकृति के**

स्वभाव का एक सहज लक्षण है ।

संसार में जो-जो कुछ होता है, उसकी भूमिका तो हमारे में ही रही है । दूसरे की वह नहीं, दूसरे तो मात्र खाली निमित्तरूप हैं, इससे दूसरों से ऐसा कुछ होते मन को क्लेश, संताप या दुःख होने न दे । उसके निमित्त कारण को समझकर उसमें मन को कभी भी आलोडित न होने दे । तभी तटस्थता और वस्तुस्थिति से अलग हो सकने की कला हमें प्राप्त होती है । संग्राम के प्रसंग आये बिना मानवी का मन उसमें कैसा रहता है यह सब किस तरह मानवी जान सकता था ? मानवी ने अपने मन को और् अपनी प्रकृति को पहले तो समझ लेना होगा ।

संसार में अपनेआप मिल गये सकल कर्म में मानवी को अपने मन को रागादि से विमुक्त करना सीखना चाहिए । उसके हुए बिना वह मन अपनेआप किसी से अलग होने का सीखा नहीं होता । संसार में जो-जो कोई ऐसा उपाधिरूप आता है, वह प्रत्यक्षरूप से उपाधि लगती है, परन्तु ऐसी उपाधि तो मानवी के मन को नया-नया कई सीखने, बोध देने, अनुभव करवाने मिली होती है । इससे जीवन में मिलती ऐसी उपाधि को जो **जीव** अपना गुरुरूप समझता है वैसे **जीव** ही ऐसी उपाधि के उद्देश्य को समझकर उसमें से चेतना-प्राण-शक्ति पाने भाग्यशाली हो सकते हैं ।

जहाँ तक जीवन है, वहाँ तक जीवन में अनेक प्रकार की उलझनें, मंथन, कड़ा परिश्रम, विडम्बनाएँ और युद्ध आया ही करते हैं । उसकी भूमिका हमारे अपने में ही रही होने से वह सब हमें उस रूप में स्पर्श करता होता है । इसलिए हमें सावधानीपूर्वक हो उतनी तटस्थता या सहानुभूति रखकर प्रत्येक गुत्थी का, भावना के विकास की दृष्टि से योग्य हल किया करना रहता है । इसलिए ऐसे निश्चितता और आराम की भूमिका जीवित रह सके उस तरह जो **जीव** मिलते प्रसंगों में हृदय से सावधान होकर कर्मकुशलता रखता है, और उस पलोपल श्रीभगवान की धारणा यदि हृदय से रखता रहता है, तो जीवन के वैसे व्यवहार में से सर्व किसी का श्रेय ही मिल सकता है । उसे संबंधी, माता, पिता, पुत्र,

परिवार आदि मिले हैं, वे हमारे अपने ही कर्म-परिचय के परिणाम से मिलते हैं। जो-जो संबंध संसारव्यवहार में प्रत्येक **जीव** को जिस-जिस तरह मिला हो, वहाँ उस-उस रीत से ही उसे रहना होता है और उस तरह ही रहना, व्यवहार करना, भोगना योग्य है। इससे अतिरिक्त रूप से दूसरे कोई **जीव** में दूसरे किसी प्रकार की वृत्ति जगे तो वह पूर्वजन्म के उस दूसरे कोई **जीव** के साथ हमारे वैसे कोई कर्म के परिणाम का उदय है, ऐसा समझना या मानना भी वहाँ यदि प्रत्येक **जीव** जीवभाव से व्यवहार करे तो उस दूसरे **जीव** के साथ अधिक नये बंधन में जकड़ता जाता है। इसलिए संसारव्यवहार में जिस तरह के मिले संबंध हैं, उतने ही क्षेत्र की मर्यादा में प्रत्येक **जीव** को उस-उस तरह ही व्यवहार करना होता है। इसलिए उस कारण से जो-जो संसारव्यवहार में जिस तरह के संबंध मिले हैं, वहाँ-वहाँ मात्र उस सांसारिक या व्यावहारिक वृत्ति से वहाँ व्यवहार होने से वह-वह **जीव** के साथ का हमारा संबंध अधिक अज्ञान में हमें घसीटते जायेगा और जीवन के भावना के विकास के आदर्श से यह **जीव** उतने प्रमाण में अलग होते जायेगा। इस कारण से जिस **जीव** का लक्ष्यबिन्दु जीवन के उन्नतगामी भाव के प्रति है, वह **जीव** की मिले हुए संबंध के सामने **जीव**दशा की वृत्ति जितनी फीकी होगी उतना उसके लिए योग्य और कल्याणकारक है।

ऊपर की बात बहुत समझने जैसी है और ध्यान में रखने जैसी है। प्राप्त हुए और संबंध में आये **जीवों** के साथ का **जीव**स्वभाव की दशावृत्ति कम हो वह आवश्यक होने पर भी उनके साथ का हमारा धर्म्य-व्यवहार और उन-उनके जीवन के साथ की हमारे हृदय की प्रेमभावना कम न हो, बल्कि अधिक से अधिक सचेतन हो, वह भी एक नोंट करने जैसी हकीकत है। प्राप्त संबंधवाले **जीवों** का यदि हमारा भी कर्म, प्रारब्ध घटाना हो तो उस **जीवात्मा** के साथ का वर्तन-व्यवहार में हमारे जीव की द्वन्द्व-भूमिका जैसे-जैसे और जिस-जिस तरह पलटती जाय ऐसा ज्ञानभक्तिपूर्वक भाव यदि हम उनके साथ के प्रत्येक वर्तन- व्यवहार में जाग्रतिपूर्वक करते रहे तो हम कर्म करते होने पर भी कर्म के जंजाल

में से मुक्ति पाने की दशा जरूर पा सकते हैं । **जो-जो प्राप्त हुआ है, उससे कभी भाग तो नहीं सकते, प्राप्त संयोग और प्राप्त परिस्थिति—यह हमारे जीवनविकास के हेतु के लिए ही है, ऐसा हम सतत हृदय में समझ-समझकर अधिक से अधिक दृढ़ करने का किया करे तो ही हम चित्त की तुला को समतोल रखने शक्तिमान हो सकेंगे ।**

जीवन के ध्येय-आदर्श की भावना और उसकी धारणा प्रत्येक होते जाते कर्म में उस-उस पल ही, जितनी जितनी जीवित रखा करने को हम से मथना हो सकेगा, उतने प्रमाण में हम जीवन के ध्येयआदर्श को मूर्तिमंत कर सकते हैं । जीवन में जैसे व्यवहार का मार्ग अनेक उलझन, कठिनाई और अनेक दूसरे मथन में से भरपूर रहता होता है, वैसा आध्यात्मिक मार्ग में भी वैसा ही है । संसारव्यवहार में उलझन-कठिनाई आदि प्रश्न बहुत भारी उलझा नहीं सकते, क्योंकि वहाँ हमें राग, मोह, लोभ, लाभ आदि द्वन्द्वादि वृत्तियाँ रही होती है और उसमें सतत प्रवेशे रहने का किसी एक प्रकार का impelling force—धकेला करता जोश—होता है । उसी तरह आध्यात्मिक मार्ग में अनेक प्रकार की सूक्ष्म कठिनाइयाँ और कसौटी तो आयेगी ही । कसौटी और मंथन बिना जीवन का सच्चा हीर जान या परख नहीं सकेंगे । इसलिए कसौटी और मंथन जीवनविकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण अंग हैं । जीवन के ऊर्ध्वगामी पथिक के लिए प्रत्येक कदम यह उसकी समझ के लिए कसौटी और मंथनरूप होता है । यह प्रत्येक कदम में किस भावना से, कैसी समझ से, किस धारणा से व्यवहार करता है, उस पर उसके जीवनविकास का सही आधार रहा होता है । इसलिए प्रत्येक होते जाते कर्म में जीवनविकास की भावना की धारणा मन-हृदय से हमें ऊर्ध्वगामी रखा करना विकसित करना ही होगा । प्रत्येक के जीवन में, व्यक्तिगतरूप से क्या या समग्ररूप से क्या, अंतर्गतरूप से सुमेल व्याप्त करता होता है । विसंवाद दिखता है सही पर सुमेल या संवाद यह पूरे संसार की नींव है । संवाद या सुमेल बिना यह विश्व एक क्षणभर भी न टिक सके । संवाद और सुमेल इतने

अधिक तो सचराचररूप से और सहजरूप से व्याप्त है कि उसका हमें स्पष्ट भान भी जागता नहीं होता । **जैसे हमारे जीवन में, यदि सोचे तो, लगातार और समग्ररूप से सुखाकारी ही अधिक रहती होती है । दुःख, दर्द का काल सुखाकारी के प्रमाण में बहुत कम होता है, परन्तु दुःख, दर्द या कठिनाई उसका भान जीव को सविशेषरूप से होता है, और सुखाकारी का भान तो जीव को होता नहीं ।** उसी तरह संवाद विसंवाद का समझना । इस तरह की समझ से यदि सोचे तो प्रत्येक **जीव** का उसके जीवन में जहाँ-जहाँ विसंवाद, कठिनाई, उलझन, बाधा, युद्ध, मंथन आदि मिला करे तब-तब वह **जीव** उस पर अपने मन का विशेष से विशेष भार न रखे उसकी सँभाल उसे रखनी ही होगी । यदि वह **जीव** सावधानी रखकर वैसा व्यवहार न करे तो वैसा **जीव** उलझनों के भँवर में अधिक उलझता जायेगा ।

उच्च जीवन के पथिक के लिए ऐसी हकीकत रूप व्यवहार करना योग्य और कल्याणमय होने पर भी जीवन में मिलते प्रत्येक कर्तव्य में और उसके आते-जाते परिणाम विषयक स्वयं को निरपेक्षरूप से जीवित ख्याल रखने होने पर भी, स्वयं से जो-जो कर्म होते जाय वे-वे और जिसके परिणाम को भी स्वयं अकेले ही भोगने हैं । भोगते समय जो **जीव** स्वयं के मन की जैसी स्थिति रखा करता है, उस पर जीवन में स्वयं की कक्षा की समझ कैसी जीवित होती है, वह उसे समझ में आ जायेगा । किसी प्रसंग या दूसरे किसी **जीव** को लक्ष में रखे बिना, हमें **ईस** मार्ग में किस तरह की समझ रखनी है, वह स्पष्ट रूप से तैरती हो उस उद्देश को ख्याल में रखकर जो-तो लिखा है ।

भावना का उद्दीपन कोई ऐसे के ऐसे नहीं होता । भावना तो प्रत्येक **जीव** में होती है ही । यदि वह न हो तो हमारा संसारव्यवहार टिक ही न सके । **हमारा क्षेत्र संसार है, परन्तु संसार में संसार की भावना नहीं रखनी है ।** जो **जीव** संसार में से मुक्त होना चाहता है, वह कोई संसार से मुक्त नहीं होता, क्योंकि उसे फिर दूसरे प्रकार का संसार मिलता होता है । ऐसे जीवन के ऊर्ध्वगामी पथिक को भी उसे वैसी जीवनकक्षा

में चढ़ती-चढ़ती भावना के संसार मिलते रहनेवाले हैं, और ऐसे उत्तरोत्तर बढ़ते, फिर जो संसार मिला करता है, वह तो जीवन की तत्त्वभावना के रूप में मिलता होता है। फिर ऐसे संसार में **जीव** की द्वन्द्वभूमिका रहती नहीं है। ऐसे संसार का लाभ, आनंद, मिठास, रसमाधुर्य और उदात्तता तथा उसकी समग्रता और अटूटटता अनेकलक्षी होने पर भी उसका मध्यबिन्दु तो स्वयं में ही समाया हुआ वह अनुभव करता है, परन्तु यह तो बहुत ऊँची आध्यात्मिक कक्षा का सत्य है और ऐसा हमें होना है, ऐसा दृढ़ निश्चय करके प्रभु की कृपा से हमें कदम उठाना है। उसमें से हटाने को मन, स्वभाव तथा प्रकृति हमें अनेक उलझन करायेगा ही। पीछेहट करने का वह जरूर करेगा, परन्तु जो **जीव** सावधानीपूर्वक उत्साह से अपने जीवनध्येय के पीछे लगा ही रहेगा, और ध्येय के प्रति तमन्ना की गति और प्राण अर्पण करेगा उसे भी कर्म-संयोग से हारने का कदापि हो, तब भी वैसे हारने से वह **जीव** सचेतनरूप से शीघ्र जाग जायेगा, और आगे कूदने के लिए अधिक चेतना से उद्यत होनेवाला है, यह निश्चित है। ऊपर कहे वैसे प्रकार के **जीव** का हारना यह तो impetus प्रेरणात्मक धक्का पाने के लिए का एक प्रभुकृपा निमित्तकारण है। ऐसा उसे अनुभव में आये बिना रहेगा नहीं। टकराना और भीड़ना तो संसारव्यवहार में भी होता है। पर ऐसे टकराने-भीड़ने में तो परिणाम अंधेरा और अज्ञान का है, उस **जीव** को उसमें पीछे हटना होता है। जब कि आध्यात्मिक मार्ग मे टकराना-भीड़ना यह तो उस **जीव** को बोधप्रद, चेतानेवाला और प्रेरणात्मक होता है और अधिक उच्चतर कक्षा की योग्य समझ से आता है, यह जीवन को आगे धकेलनेवाला भी होता है। हमारी समझ में यह यदि योग्य रीत से उतर जाय तो। वैसा समझा हुआ **जीव** जीवन में मिलती प्रत्येक टकराहट-भीड़ंत में जीवनविकास की जीवन्त भावना रखे बिना नहीं रह सकेगा। इसलिए जीवन में प्राप्त ऐसी टकराहट-भीड़ंत की स्थिति में उपरोक्त कहे अनुसार यदि हम व्यवहार कर सके तो जीवन

का उद्धार निश्चित है, ऐसा समझना ।

हमारी परस्पर की भावना रोज के व्यवहार के कर्म में भी ज्ञानयोगभक्तिभाव से हृदय से जितनी जीवन्त रहा करेगी, इतने वेग और प्रेरणा मिलते हम अनुभव कर सकेंगे । हमारे साथ का तादात्म्यभाव की धारणा जितनी जीवन्त रहा करे, इससे प्रत्यक्ष कर्म होते समय में हम मिश्रित हों व साथ हों ऐसी विचार-भाव की संकलना सँभाली जाय तो उसका परिणाम कोई अलग ही आये । इसलिए वह भी साथ-साथ हमें किया करते रहना है । प्रत्येक किसी के अंतर में चेतना ही रहती है, यह तो बुद्धि से भी समझ आये ऐसा है । इस कारण से भी हमारे प्रत्येक होते कर्म में जो चेतना की भावना का ही महत्त्व का ख्याल दृढ़ करता है, और ऐसा-ऐसा जैसे-जैसे अनुभव से जिसके जीवन में होता जाय, वह तो संसारसमुद्र तैरकर जाता है यह निश्चित ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ३३६-३३७, ३५५ से ३६२)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

६. श्रद्धा

जीवनसाधना के आवश्यक पुरुषार्थ के अभ्यास में अड़ती कठिनाइओं में श्रद्धा हमें टिकाये रखती है । ध्रुवतारा की तरह हमारी नजर समक्ष रहकर जो हमें योग्य दिशासूचन करके ध्येय से विमुख होते रोकती है, और अंत में हमारे सत्त्व को संपूर्णरूप से जाग्रत कर, उसे परिपूर्ण स्थिति प्राप्त करवाकर, दिव्य ज्योति के दर्शन करवाती है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १२०)

● ● ●

श्रद्धा होती है और बढ़ती जाती है, उसके भी लक्षण हैं । जो कुछ भी किसी में हमने प्रवेश किया, इससे दूसरी तरह का सोचते मन रुकने लगेगा और दुविधापन कम होता जायेगा और मन में निराशा का या हार का कहीं स्थान नहीं होगा, 'पल में तोला, पल में मासा !' की स्थिति नहीं होगी । ऐसा सब अनुभव हो तो समझना कि श्रद्धा अब दृढ़रूप से जमती जा रही है । बाकी, श्रद्धा एकदम प्रारंभ में जम जाय यह कोई

सरल नहीं ।

श्रद्धा से जीवन की वास्तविकता आती है, यह कोई नकारात्मक लक्षण नहीं । जीवन में वह प्रेरणा और बल लाती है । साधनापथ में श्रद्धा यह परम साधन है । श्रद्धा पाने के लिए भी मेहनत साधन है । श्रद्धा ज्ञानात्मकरूप से होनी चाहिए । अंधश्रद्धा **इस** मार्ग में काम नहीं आ सकती । श्रद्धा को दृढ़ होने के लिए भी नींव मजबूत होनी चाहिए ।

साधक की लक्षवृत्ति द्विधारूप से काम करती रहे तो वह जीवनविकास के लिए खतरनाक है । प्रेमपूर्वक अथक और अथाह श्रम किये बिना परम भावना अनुभव की इच्छा को चाहा करे वह श्रद्धा का सच्चा स्वरूप नहीं, यह तो मात्र शेखचिल्ली के विचार हैं । जिसकी श्रद्धा में प्राण प्रकटे नहीं, ऐसों की श्रद्धा जीवनविकास के कर्म में काम नहीं लगती । हृदयपूर्वक की भावना से होते जाते पुरुषार्थ में समय आने पर समझ और अनुभव आने लगते हैं ऐसी समझ है । अनुभव की परम्परा में से प्रकटती श्रद्धा के बल पर उसके जीवनध्येय में उसे एक प्रकार का आत्मबल आता है और ऐसे आत्मबल के आधार द्वारा अनुभव की श्रेष्ठता में प्रवेशकर, श्रद्धा को भाव में परिणत कराके, फिर वैसे भाव से हृदय में तत्त्व को पहचान सकता है ।

किसी पर की श्रद्धा अर्थात् उसके सर्व प्रमाण में विचाररहित मूढ़रूप से जो हुआ करे, यंत्र की तरह जो हुआ करे वह नहीं, परन्तु वह तो जड़ताभरा अज्ञान है । उसे श्रद्धा नहीं कह सकते । **श्रद्धा अर्थात् तो आंतरदृष्टि । अंधश्रद्धा से तो श्रद्धा न हो वैसी स्थिति अच्छी ।**

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३५३)

● ● ●

ज्ञानात्मक श्रद्धा कभी अंधी नहीं हो सकती । सच्ची श्रद्धा अंधी नहीं होती और अंधश्रद्धा यह सच्ची श्रद्धा नहीं है ।

श्रद्धा के तीन प्रकार हैं—तामसिक, राजसिक और सात्त्विक । आदर्श श्रद्धा उससे भी आगे की बात है । आदर्श श्रद्धा तो ऐसों को

मिलने के साथ एक क्षण में दिल अपनेआप उसमें चिपक जाता है। उसके पश्चात् भी उसके प्रति किसी प्रकार के संकल्पविकल्प ही नहीं उठते, उसका नाम आदर्श श्रद्धा ।

साधना के क्षेत्र में जीवनहेतु को फलित करने के लिए भावनागत जो निरन्तर अभ्यास आया करता है, इससे जो श्रद्धा एकनिष्ठा से शक्तिस्वरूप आती है, यह सब कोई एकदम अचानक हो नहीं जाता ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २९५)

● ● ●

(अनुष्टुप)

प्रभु में सर्व आधार, श्रद्धा विश्वास जीवित,
जिसे बैठे हो गहरे, वैसे निर्भय रे' सदा ।
सर्वश्रेष्ठ प्रभु जान, उसे महत्त्व देना ही,
जो तो कार्य में ही उसका गहरा ख्याल रखे ।*

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १३)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

७. भाव

भाव यह विचार का अव्यक्त मूल और विचार यह भाव का व्यक्त रूप है, इसलिए भाव को महत्त्व देते रहना है, पर वहाँ तक 'भाव' यह क्या उसकी अभी सूझ-बूझ मानवी को पड़ी नहीं है । वहाँ तक उसका बाह्य स्वरूप, यानी भाषा, विचार, व्यवहार, कर्म, उसमें विचारभाव, ज्ञानभक्तिपूर्वक साधना से प्रेरित होना है। ऐसे प्रत्येक स्थूल में भाव प्रेरित करने का जीवित अभ्यास विकसित होने पर अंतरस्थ भाव प्रकट होगा ही, और वह प्रकट होने पर बाह्य में अर्थात् व्यक्त में—स्थूल में परिणाम आता जायेगा, इससे उसे जहाँ-जहाँ जीवन्त स्पर्श होगा, वहाँ-वहाँ उसका रूपान्तर भी होता जायेगा । इसप्रकार, कर्म को महत्त्व देने पर भी—

---

* श्रीमोटा ने 'श्रद्धा' विषयक शास्त्रीय विवेचन की एक पुस्तक भी लिखी है।

इससे यह सविशेष महत्त्व मानवी को कर्म के आदि, मध्य और अंत में सतत निरन्तर गंगा के प्रवाह जैसे हृदय के भाव प्रेरित करने का अभ्यास जीवित कर्म करने में ही लगातार, समग्र, लक्ष से रखा करना है । प्रत्येक कर्म में जिसका ऐसा भाव ज्ञानभक्तिपूर्वक रहा करता होगा, उसे कहीं छलनापन नहीं । ऐसों का रक्षक उसका भाव ही हुआ करता है । हृदय में जागी सद्‌भावना अभेद्यरूप से ही व्याप्त होगी और उसे अंतर से योग्य कर्म की भूमिका में ही प्राणवान रखायेगी । जिसमें ऐसी सद्‌भावना प्रवेशती है, जिसके विषय में वह केन्द्रित, एकाग्र और एकांगी होती है, उसे वह अपना ही साधन बना लेती है । और वह दोनों जागते ही— एकभाव से तादात्म्य साध सकते हैं, इसलिए हमारे हृदय की वैसी सद्‌भावना उसे भी उस तरह ही व्याप्त होगी । इसप्रकार, जो मानवी अपनी सद्‌भावना विकसित करने के एकमात्र कर्तव्य में ही निर्भय और निर्भर मस्तरूप से रहा करता है, उसका उसके हृदय की जीवित हुई भावना से अतिरिक्तरूप से कुछ भी अकल्याण करने कोई शक्तिमान नहीं हो सकता, परन्तु मानवी अपनी ऐसी सद्‌भावना के साथ अपने में पड़े रहे हुए और बन गये आकारवाले विचारों, मान्यता, समझ, आदत, आग्रह आदि उसमें (सद्‌भावना में) मिलाकर और वह सब वह आधारमाप से समझने और व्यवहार करने का किया करता है । वहाँ वह स्वयं धोखा खाता है, इससे वैसा मानवी पूरी तरह स्वयं विकसित नहीं होता और योग्य सूझ आ सकती भी नहीं है, तो फिर उसका शुद्ध स्वरूप उसके हाथ कहाँ से आ सके ? जैसे कितनी बार दवा एक की एक होती है पर अनुपान अलग-अलग हो तो अलग-अलग असर हुआ करती है । वैसे सद्‌भावना के साथ जो-जो सब अपने में से मिला करता है, इससे वह सद्‌भावना की असर या महत्त्व कम होते जाते हैं, इसलिए ही मानवी को सतत जीवित भान रखकर सर्व प्रकार से मुक्त हुआ करने का यानी कि हृदय का सद्‌भाव बनाये रखना है । जैसे किसी वैज्ञानिक को अमुक प्रकार के प्रयोग या खोज करनी हो तो वह उसमें ही मशगूल रहा करता है । वह दूसरे किसी में व्याप्त होने पर भी अंतरस्थरूप से तो उसका चिंतन उस

प्रयोग के विचार में ही रमा करता है, वैसे जीवन में महत्त्व और रस वह जो खोज करनी है, उसमें ही वह सहजरूप से—उसकी कक्षा में—व्याप्त रहा करता है। और दूसरा सब तो गौणरूप से होते जाता है, उसी तरह साधक के जीवन के प्रति दृष्टि, वृत्ति और भाव हो जाने चाहिए। वैज्ञानिक और साधक में एक अंतर है। वैज्ञानिक तो उसके आगे पीछे का जाने भी दे सकता है। वह सब तो उसकी जीवनभावना की निष्ठा होने के कारण मिला है, उसकी भूमिकारूप, उसने उसे ज्ञानपूर्वक स्वीकार और उपयोग किया करना है और वह सब मानो अपनी ही जात हो ऐसे सब कुछ भगवान के भाव की निष्ठा विकसाने के लिए ही मिला है, इसके बिना उसे सब का रजमात्र जितना भी अर्थ नहीं।

जैसे संसार में जो सब है और जहाँ तक हम जीवित हैं, वहाँ तक तो वह सब बैसा समझने में देर नहीं लगती, वैसे ही जो सब है वह भगवान के भाव निमित्त ही है ऐसा समझे तो वह सब समझ में आता है, परन्तु ऐसा व्यवहार करने में भावयोगयुक्त व्यवहार नहीं होता, कारण वैसा-वैसा व्यवहार करते समय वैसी-वैसी ज्ञानभावनायुक्त चेतना जागृति की स्मृति रख, सँभालकर या जीवित कर नहीं सकता होता। वह वैसा करता हो जाय तो कठिन नहीं है। तो वह क्यों नहीं होता ऐसा प्रश्न खड़ा हो। एक तो वैसा रस नहीं जागा, दूसरी उसकी तमन्ना उस विषय में नहीं है, किन्तु इससे मानवी को लाचारी भोगने की जरूरत नहीं है। श्रीभगवान की स्मरणभावना और धारणा के सामने प्रत्येक होते कर्म में जो जीव वैसे-वैसे साधनों से सतत लगातार हृदय से लगा रहे और स्वयं प्राप्त सर्व प्रवृत्ति और परिस्थिति में एकमात्र हृदयस्थ भाव को बनाये करने की, एवं उस जीवित आदर्श को चेतनारूप मूर्तिमंत किये करने की धारणा, वह रखता जायेगा तो वह जीवात्मा वैसी होगी ही यह निर्विवाद बात है। ऐसी सद्भावना आते-आते सब कुछ खोना पड़ता है, ऐसे खोने में उसका एक-एक करके भार हलका हो वैसा वह हकीकतरूप में अनुभव करता होता है। ऐसा खोने के पीछे तो जीवन की सच्ची कमाई रही है। व्यापार-धंधे में कुछ खोने पर थोड़ा बहुत भी मानवी को भार लगे बिना नहीं

रहता, किन्तु इसमें ऐसा नहीं यह इसकी खूबी है । साधना के मार्ग में **जीव** का जो-तो कुछ दूसरी ओर का खोने जैसा यदि हो तो बेचैनी, भार या ऐसा लगे तो उस जीव की योग्य तैयारी हुई नहीं ऐसा जाने । जो जीवन खोने की ज्ञानयुक्त तैयारी रखता है, वैसा **जीव** कुछ पा सकता है और सचमुच तो उसे कुछ भी खोने जैसा नहीं होता । मानवी को वैसा खाली-खाली डर रहा करता है । वह तो वैसे में पाने की क्रिया में से ही पसार होता रहता है, किन्तु मानवी का मन खोने के लक्ष पर रहा करता है । जिस पल सर्व प्रवृत्ति में एकमात्र पाने की धुन जिसे लगा करती हो, उस समय उससे गँवाया जाता है, इसका भान भी रहनेवाला नहीं है । एक वैज्ञानिक अपनी खोज के लिए करोड़ो रुपए गँवाता होता है, इतना ही नहीं, पर अपना सर्वस्व होम देने पर भी वह कभी पूरीतरह से उसे खोज भी नहीं सकता, तब भी अंतकाल तक उसे अड़िगरूप से निरन्तर, निश्चित रूप से, कुछ भी डाँवाडोल हुए बिना, उसके अपने प्रयोग के चिंतवन में ही चिपके रहने का किया करता है। उसमें ही उसके जीवन की फतेह रही है । हम भले अंधे हो, पर भगवान के भाव की उँगुली पकड़े रखकर उसे छोड़े बिना, एकसमान चलना रखेंगे तो निश्चित धाम में पहुँचनेवाले ही हैं ।*

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. २१ से २५)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

८. भावना

हमारे में रही स्मरणशक्ति भी भगवान की एक कृपाप्रसादी है । यद्यपि मानवी ने उसे प्राप्त दूसरी चेतनशक्ति की तरह कितनी बार यह भगवतीशक्ति का भी दुरुपयोग किया है और द्वेष-जहर उत्पन्न किया है और जारी रखा है, तथापि यह स्मरणशक्ति द्वारा मानवी ने अमृत के घूंट भी पीये हैं ।

उस शक्ति के दो विभाग कर सकते हैं : उस शक्ति से भूतकाल को वर्तमान में जागृत कर सकते हैं । मानवी की जो कोई भौतिक या

* 'भाव' को समझाने एक छोटी-सी पुस्तिका भी श्रीमोटा ने रची है ।

आध्यात्मिक प्रगति हुई है, उसमें यह स्मरणशक्ति का भी हिस्सा है। फिर, स्मरणशक्ति कल्पना को भी उत्तेजित करती है। इससे भविष्य को वर्तमान में जीवन्त भी कर सकते हैं। ऐसा भविष्यकाल जब वर्तमान में हम खड़ा करते हैं, तब कहीं तो उसके मधुर स्वप्न में हमें मानो गुदगुदी न होती हो ऐसा मोहभरा सुखद अनुभव होता है, अथवा दूसरी तरह हमारे आदर्श को नजदिक लाने के लिए हमारे में तमन्ना भी पैदा करता है। **प्रत्येक शक्ति का उपयोग अपने ही विकास में कर लेने की जीवंत कला प्रत्येक साधक को हस्तगत होनी चाहिए।** हमारी स्मरणशक्ति जब-जब भूतकाल के स्मरणों को हमारे आगे जीवंत खड़ा करती है, तब-तब उसमें शामिल न होते तटस्थ रहकर उसमें से जो बोधपाठ सीखने को मिलता है, उसे ले-लेकर अपनी वृत्ति को रचनात्मक रूप से हमें मोड़ देना होगा। जिन संस्मरणों के पीछे भाव और कोई भावना रही है, ऐसे संस्मरणों में हमारा जीव उसमें रहना सोलह आना संभव है। पर साधक को तो उसमें थोड़ा भी जीव चिपकाना नहीं है, और वह इस तरह अलग करना या रखना है कि उस रीति में हमारी उदासीनता भले कारणरूप हो, पर उस उदासीनता में उसकी अवमानना नहीं होनी चाहिए। कहीं भी किसी के प्रति हमें लोलुपता या अनुराग नहीं होने चाहिए, तभी वे संस्मरण हमें मददकर्ता हो सकेंगे। स्मृति यह कितनी बड़ी जबरदस्त शक्ति है कि थोड़े काल के संबंध को अथवा संस्मरण को सचमुच मानो कि वे हमारी आँखो के सामने प्रत्यक्ष हो वैसे तादृश्य खड़ा करती हैं। स्मृति में यदि इतनी शक्ति है तो भाव और भावना उससे भी अधिक सूक्ष्म हैं। उसकी शक्ति तो उससे कहीं अधिक चढ़ जाय। यह बुद्धि से तो हमें समझ में आये ऐसा है। यदि उन भाव और भावनाओं का सतत विकास किया करना रखे तो हमारे लिए क्या असंभव है? **अगम्य और अकल्प्य ऐसी हमारे हृदय की भूमिका के अंदर अवतरण करानेवाला साधन भाव और भावना ही है।** उस पर स्थूल, स्थूल और सूक्ष्म के बीच का और सूक्ष्म ऐसे रूप होते हैं। हम भले उसके पृथक्करण में न पड़े, परन्तु हमारे में वह बढ़ते जाय या घटते उसकी

हमें समझ आनी चाहिए । हम एक सरल उदाहरण लें । हमें यदि शाक काटना हो तो चाकू या छुरी तो चाहिए ही, परन्तु उसकी धार ठीक तीक्ष्ण नहीं होगी तो वह काटने में कठिनाई पड़ेगी और वैसा करने में हमें आनंद-भाव नहीं रहेगा, पूरीतरह सफलता भी न मिले, और उतने अंश में प्रसन्नचित्त भी न रह सके । जैसे हमारे में भाव और भावना सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होती है, वैसे-वैसे हम यदि देखेंगे तो हमारी समझ और अनुभव की दृष्टि अधिक से अधिक स्पष्ट होती जायेगी और वह मर्मवेधक भी होगी ही । इसलिए हमें इसप्रकार साधना में सर्व भाव से अर्पण करने को मथाकर भले उसके परिणाम पर दृष्टि न रखे, तब भी भगवान में हमारी चित्तवृत्ति कैसी रहती है तथा सर्वप्रकार की उथलपुथल की वृत्ति की दशा में हमारी श्रद्धा और विश्वास, शरणागति, तमन्ना और जिज्ञासा आगे ले जानेवाले हुए हैं कि नहीं, यह तो हमें स्पष्ट दिखना ही चाहिए । तब ही हम से ऐसा कहा जा सकता है कि हम सही तरह से पंथ में खूपते जा रहे हैं । उसे बिलकुल नकारने से साधक को चलेगा नहीं, जैसे-जैसे सूक्ष्मतम क्षेत्र में जायेंगे वैसे-वैसे देवासुर युद्ध भी सूक्ष्मतम रूप से हम में खेलता दिखेगा, उस समय हमें अपनी समझ आनी चाहिए ।

इसप्रकार, भाव और भावना यद्यपि जीवनविकास की नसेनी चढ़ने की सीढ़ियाँ हैं सही, तथापि वह अवरोधरूप हो सकती है, क्योंकि वही साधन मन के भी हैं । साधना में जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं वैसे-वैसे मन का हमारे ऊपर का साम्राज्य नुकसानकारी है, इसलिए स्वयं का हमारे ऊपर का कब्जा चालू रखने के लिए मन यह भाव और भावना के साधन का भी उपयोग करता है । मन के अथवा तो चित्त के संस्कारों को अनेक जीवन तक जो मोड़ में पाट बनाने में आये हैं, उस तरह ही बहना उन्हें अच्छा लगता है । ऐसे संस्कारों की पकड़ यदि उसमें भाव मिला हो तो फिर अधिक जोरदार होती है । इसलिए हमें तो इन सभी असरों में से मुक्त होने के कठिन काम के लिए **श्रीभगवान की कृपा का सतत अवतरण होता रहे इसके लिए याचना करनी है ।** आलंबन मुख्य है

भी सही और नहीं भी सही । आलंबन से भावना का विकास होता हो तो **भाव** के विकास पर ही लक्ष रखकर आलंबन का उपयोग किया करना है और तब आलंबन को मुख्य नहीं गिनना है । नहीं तो आलंबन की सनक में पड़ना संभव होता है । सनक यह मूर्छावस्था का परिणाम है, और मूर्छावस्था में से हम सरलता से जाग्रत नहीं हो सकते । इसलिए आलंबन को शुद्ध तरह से और उसके योग उपयोग के लिए ही आधार में लिया करें तो हमारा उदय होगा ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २४३ से २४६)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

९. गुण

तनदिही :

जिसे तनदिही नहीं है यानी कि अमुक लक्ष्य सिद्ध करने के लिए उसके पीछे लगे रहने की आदत न हो, उसे कुछ भी प्राप्ति होनी दुर्लभ है । तनदिही न हो तो उसका अर्थ ही यह है कि उसमें उत्साह नहीं है, उमंग नहीं है । आलसी जैसे, प्रमादी की तरह वह अपना जीवन जैसे तैसे करते बिताते जाता होगा ।

मनुष्य ने अमुक काम पार लगाना भले ही मन में सोचा हो, और उसकी योग्यता तथा अनिवार्यता भले ही उसे बुद्धि से समझ आयी हो, तथापि उस हेतु को सतत ख्याल में रखकर उसके ध्येय की प्रगति के लिए मर मिटने की तमन्ना तो उसकी तनदिही की भावना में से ही जन्मेगी । तनदिही से जो होशियारी, यानी कि सँभाल और सोचा हुआ काम कोई भी विघ्न आने पर भी न छोड़ देने की अड़िगता आती है, इससे हमें कैसी भी विकट परिस्थिति में भी ऊष्मा रहती है और हमारे साध्य से हम अलग-थलग नहीं पड़ते हैं । तनदिही के गुण की वृत्ति उसकी पराकाष्टा को यदि हम विकसित कर सके तो कैसा भी बड़ा कर्तव्य भले ही हो पर वह सिद्ध हुए बिना रहेगा ही नहीं । हमें तब इतना बल मिला होगा कि हमारे विचार में भी दृढ़ता आ जायेगी-डगमग नहीं होंगे और विचार

कार्य में आकार लेता हो जायेगा । तंदेह मानवी के लिए क्या असंभव है ! तनदिही से हम में उत्साह, उल्लास, जोश, हिंमत, साहस की वृत्ति आदि अनेक गुणों का विकास होता है । तंदेहता से—किसी एक ही के पीछे लगे रहने की वृत्ति से—हमें वह वस्तु प्राप्त कर लेने के लिए दृष्टि प्रत्येक कदम पर मिलती जाती है । उसमें आती या पड़ती उलझनों को सुलझाने की समझ भी साथ-साथ तनदिही में से आती जाती है ।

तनदिही का मुकुट विश्वास है, उसका हृदय श्रद्धा है, उसके हाथपैर होशियारी है और उसके प्राण यह उसकी तमन्ना है । तनदिही के बिना तमन्ना टिकती नहीं है । उसमें जोश नहीं आता है । तनदिही के पंख सतत चिंतवन है और तनदिही की आत्मा धीरज है । निष्ठावान मनुष्य एक ही सीढ़ी जीतने का विचार रखता है । और उस शक्ति का उपयोग वह दूसरी सीढ़ी—जो तब दृष्टि के सामने आ पड़ता होता है—वह प्राप्त करने के लिए करता है । तनदिही बिना का पुरुषार्थ यह पुरुषार्थ नहीं है । उसमें प्राण ही न होगे । तनदिही से सब कुछ संभव है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १० से १३)

सहिष्णुता :

दूसरों के भोग से हमारा काम निकलवाने का प्रयत्न हमें छोड़ देना चाहिए । सामनेवाले को बेकार अथवा मूर्ख गिनकर उसका मन में तिरस्कार नहीं करना है, परन्तु उसके दृष्टिबिन्दु को भावपूर्वक समझने का प्रयत्न हमें करना चाहिए । हमारे प्राणप्रिय आदर्शों को या आदर्श व्यक्ति का या उसके विचारों का कोई विरोध करे यह हँसते मुँह देखते रहना यह कठिन है, पर उसमें ही आध्यात्मिक जीवन जीते मनुष्य का दूसरों से बढ़ियापन रहा है । 'क्या होना चाहिए और क्या है' इन दोनों के बीच की विसंगति के सामने वह बगावत नहीं करता । वह तो जीवन का स्वीकार करता है । इसका अर्थ ऐसा नहीं होता कि वह वस्तुस्थिति के आधीन हो जाता है । वह किसी से असहाय हो आधीन नहीं होता है, पर जो-तो परिस्थिति का योग्य परिपाक होने देता है । तथापि फिर वह

जो वस्तुस्थिति का अस्वीकार करता है, उनका भी हँसते मुख से स्वीकार करता है । जो एक जीवनमार्ग के विरुद्ध दूसरा जीवनमार्ग खड़ा करते हैं, उनके जैसा क्षोभ या निराशा उसे नहीं होते हैं । इससे वह किसी के प्रति—परिस्थिति या व्यक्ति—के प्रति असहिष्णु नहीं होता । वह तो सामनेवाले को अपने जितना ही प्रामाणिक और नि:स्वार्थ मानता है । जो धर्म अमुक एक जन के प्रति पक्षपात करनेवाले ईश्वर को नहीं मानता अथवा जो धर्म किसी कीनावर संहारक देव को नहीं मानता, वह धर्म तो हमारे पास ऐसी अपेक्षा रखता है कि कोई हमारा विरोध करे, तब हम धीरज न खो बैठे और जिसके साथ हमारा विरोध हो उसके प्रति भी हम नम्रता से और आध्यात्मिक वृत्ति से व्यवहार करे, हमारा यह स्वभाव ही पड़ गया है, कि जो कोई हमारे मत को न मानता हो, उसे हम विरोधी या अलग मान लेते हैं और जो कोई हमारे जैसी मान्यता न रखता हो, उसे शायद मूर्ख या ऐसा दूसरा गिन लेते हैं, अथवा ऐसा अन्यथाभाव रखने को ललचाते हैं । सामनेवाले व्यक्ति की दृष्टि समझने से हम उसे समझ सकते हैं । इतना ही नहीं, पर हम उसका 'समझ-आधार' आंक सकते हैं । कैसे भी दुष्ट में दुष्ट मानवी में भी अच्छे अंश रहे होते हैं । उस सद्‌अंश का दर्शन हमें ऐसा करने से हो सकता है ।

आज के देशदेशांतर के विद्वेषों का या हमारे देश के व्यक्तिओं या पक्षों के बीच के भेदों का पृथक्करण करे तो उसमें भी यह 'गहरे घाव और गहरे बैर का' सत्य पता लगेगा । घायल मानवी फिर देख नहीं सकता कि 'घाव करनेवाला कोई है और अब मैं जिसे घाव कर रहा हूँ वह फिर दूसरा ही है ।' पर इससे कोई उसमें दूसरे प्रकार के उदात्त तत्त्व का नाश नहीं होता । दूसरी दृष्टि से उसमें भी स्वार्थत्याग, नीडरता वगैरह गुणों के दर्शन हमें उसके जीवन में हो सकते हैं । हमने जिसे समझने की तस्दी नहीं ली है, हम उससे उच्च हैं ऐसा मिथ्याभिमान से फूल जाने की वृत्ति पर हमें अंकुश रखना चाहिए ।

ईश्वर की दुनिया में शुद्ध अनिष्ट जैसी वस्तु ही नहीं है । जब हमें सामान्य रूप से अनिष्ट लगती वस्तु का यदि सामना करना आये, तब उसमें कुछ तो अच्छा है ऐसा समझकर उसका सामना ही न करना, यह जैसे एक प्रकार की भ्रमणा या अयोग्यता है, वैसे उसका सामना करने में ताटस्थ्य खोकर कड़वाहट धारण करना यह भी एक भ्रमणा का दूसरा प्रकार है । ऐसे प्रसंग में हमें स्वीकार और समझपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, हृदय के उदात्त भावयुक्त साहस की वृत्ति धारण करनी चाहिए । संपूर्ण समभाव और प्रेमजन्य समझ से हमें जगत के अनिष्टों का स्वीकार करना चाहिए । यह कहीं किसी के ऊपर आभार चढ़ाकर उदारता बतलाने का या किसी को क्षमा करने का प्रश्न नहीं, पर दोनों से अत्यन्त उच्चतर ऐसी दैवी भावना का प्रश्न है । ऐसी दिव्य चेतनाशक्ति तो मनुष्य जैसा हो वैसा का वैसा ही स्वीकार लेती है । सामनेवाले का व्यवहार या भाव पर से स्वयं में अंतर नहीं आता । यह दिव्य चेतनाशक्ति प्रेमशक्ति से ही दुष्ट में दुष्ट लूटेरे को अथवा सामान्य मामूली साधारण मानवी को वे संत बना सके हैं, उसके अनेक उदाहरण इतिहास प्रसिद्ध हैं ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २६६ से २६९)

उदारता :

जैसे प्रभु और मानवी को जोड़नेवाली सूक्ष्म डोर प्रभुकृपा है, वैसे मानवी मानवी को जोड़नेवाली इतनी ही और ऐसी सूक्ष्म डोर उदार मानस है ।

प्रेम दुनिया के जीवन में उदार मानस के स्वरूप में अवतरित होता है । उदार मानसवाले में प्रेम न हो यह असंभव है । इसप्रकार, प्रेम और उदार मानस परस्पर अवलंबित है । प्रेमस्वरूप हो जाने के लिए किसी की भी अनिवार्य आवश्यकता हो तो वह हार्दिक और मानसिक उदारता और प्रेमपात्र का सब कुछ सह लेने की तत्परता ही । जैसे-जैसे यह सहनशक्ति बढ़ती जाती है, उसकी अनिवार्यता की समझ पड़ती जाती है, वैसे-वैसे हमारे ज्ञानचक्षु खुलते चले जाते हैं । वे नयी-नयी सृष्टियाँ, नये-नये भव्य दृश्य हमारी नजरों के आगे खुलते चले जाते हैं, और हमने

एक नया ही जन्म धारण किया हो, तात्त्विक अर्थ में द्विज बने हो ऐसा अनुभव हमें होता है । इसप्रकार, मानसिक उदारता और सहिष्णुता का अभ्यास हमारे समस्त सूक्ष्म शरीर में नवजीवन का संचार करता है और हमारे जडत्व को हटाने लगता है । हमारे में जिस-जिस प्रकार की संकुचित मनोदशा रहती हो, स्वार्थवृत्ति रही हो, 'ममत्व' रहा करता हो, उन सभी को वह हमारे मनःप्रदेश में से निकालने लगता है और हमारे जीवन को सार्थक तथा आनंदमय करता है । हम सहिष्णुता द्वारा आनंद, शांति और सुख देनेवाली हिमरश्मि (चंद्र) बन जाते हैं, उतने अंश में हम भगवान के यंत्र बनकर उसके दिव्य हेतु के साधन बनते हैं ।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में मानवी मानवी के बीच का सहकार और संमिलन के बिना किसी को चल नहीं सकता । हार्दिक उदारता बिना यह सहकार और संमिलन असंभव है । पतिपत्नी के बीच स्वभाव, दृष्टिकोण, बुद्धि या ऐसे किसी भी प्रकार के विभाजक भेद हो, तब भी यदि दोनों में से एक में भी ऐसा हार्दिक उदारता का गुण विकसित हुआ होगा तो वे एकदूसरे में मिल ही जाते हैं और पृथ्वी पर स्वर्ग उतार सकते हैं । दुनिया हमारी ही राह पर चले, हमारे ही विचारों का अनुसरण करे, हमारे ही मूल्यांकन का स्वीकार करे, हमारा ही रहनसहन को अपनाये और हमारे ही भावों को मान दे ऐसी-ऐसी आशाएँ रखा करने से हम ही दुःखी होते हैं । और हम मृगजल के पीछे दौड़ते थे, ऐसा कड़वा अनुभव हमें अंत में हुए बिना नहीं रहता । दुनिया तो क्या पर हमारे स्वजनों के पास से भी ऐसी आशा रखना व्यर्थ है । और इसीसे ही हमें केवल अपने भले के लिए भी उदार मानस रखना आवश्यक है ।

हार्दिक उदारता अर्थात् जीवमात्र के प्रति मैत्रीभाव । इससे ही हम विश्वबंधुत्व के सर्वोच्च शिखर तक पहुँच सकेंगे और 'सर्व' को 'स्व' के रूप में पहचानते तथा अनुभव करते हो सकेंगे । हमारे में यदि उदारभाव या सौजन्य हो तो हमें स्पर्श करते सभी जीवनप्रवाहों को हम प्रभुसागर की ओर बहती हमारी जीवनसरणी में मोड़ सकते हैं और वैसा करके हमारी आध्यात्मिक उत्क्रांति में वेग ला सकते हैं ।

अन्य के स्वभाव, वाणी, जीवनदृष्टि, मानस, भावना, वृत्ति, जीवनव्यापार को, संक्षिप्त में अन्य के समग्र व्यक्तित्व को सन्मान देना उसका नाम ही हृदय-सौजन्य अथवा मानसिक उदारता । पर इसका अर्थ ऐसा नहीं कि ऐसा करने पर—योग्य रूप से करने पर—हम दूसरों के दोषों को भी अपना लेते हैं । अनिष्ट के प्रति उदार मानस अर्थात् उसकी उपेक्षा । पर यदि दूसरे हमारे अपने क्षेत्र पर हमला करे, हमारे जीवनविकास के आडे आकर खड़े रहे तो उनके ताबेदार हो, भेड़ की तरह होकर उनके आक्रमणों से तेजोवध होने दे या परास्त हो जाना यह कोई उदार मानस का लक्षण नहीं । उस समय तो आत्मश्रद्धापूर्ण, शांत और सबल विरोध करना और हमें सफलता मिले इतनी दृढ़ता से और इतने प्रमाण में विरोध करना यही उदारभाव का लक्षण है । पर उसके साथ ही हर किसी के प्रति हमारा अनिष्ट करनेवाला या करने की इच्छा के प्रति भी तिरस्कार की वृत्ति तो उदारभाव का लोप ही बतलाती है ।

उदारभाव अर्थात् ही स्वार्थी सुख की भावना का त्याग । किसी के भी परिग्रह से उदारभाव से उद्‌भवित आनंद मिल नहीं सकता ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १३२ से १३८)

नम्रता :

जो गरीब बकरी से भी अधिक गरीब है, पर जिसके अंतर में सिंह के जितनी शक्ति भरी हुई है, वह सच्चे अर्थ में नम्र है । **नम्रता बुद्धिपूर्वक विकसित नहीं कर सकते । वह तो अपनेआप ही हृदय में से आती है ।** उसके प्राकट्य के अनुकूल भावनाओं के परिशीलन से हम नम्र बन सकते हैं ।

जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में हमेशा अंतर्गत रूप से बह रही 'मैंपन' की वृत्ति होती है । संसार के विविध अनुभवों से जब अंतर में ऐसा समझ आता है कि जो-जो कुछ होता है या हो रहा होता है, वह हमारी नहीं पर ईश्वर की इच्छा के अधीन है, तब संसार के प्रति का 'मैंपन' कम होता है । जगत के प्रति गहरी उदासीनता और वैराग्य की

भावना आती है ।

शून्यता यह नम्रता का माप है । शून्यता अर्थात् अहंता का सर्वांश में लय । जिसे लेश भी अहंता या अभिमान नहीं रहा उसे ही नम्रता आती है ।

परन्तु ऐसा होने से पहले स्वयं सोच-सोचकर, समझ-समझकर, बारबार, टोकटोककर, अपनी जात को समेट-समेटकर और बटोर-बटोरकर नम्रता का भाव लाना पड़ेगा । यह भाव विकसित किये बिना साधना के मार्ग में एक कदम भी आगे वह चल नहीं सकेगा । जिसमें सच्ची नम्रता का गुण है अथवा ऐसा होने की हृदय की जिसकी इच्छा है, ऐसे **जीव** को तो जीवनपथ में बीच में आते विघ्न पार करने की हिंमत, साहस, तनदिही और उद्योग की भावना अपनेआप जन्मकर उसे वेग दिया करती है और ऐसे प्रकाश से खींचकर ही साधुहृदय पंथ काटते जाता है । **नम्रता बिना की कोई भी प्रकार की साधना अंधकारमय और अज्ञानमय है ।**

नम्रता का गुण लाने के लिए साधक को अपने स्वभाव के अंतर में अनेक बार ज्ञानपूर्वक उतरना पड़ेगा । वहाँ उसके स्वभाव के हृदय में अनेक प्रकार की अहंता भरी पड़ी हैं । ये अहंता के स्वरूप स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक के भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । अहंता स्वयं ही कभी तो नम्रता का रूप धारण करके अपना वेशपलटा छिपा सकती है । उसकी चालबाजी की किसे समझ पड़े ? परन्तु जिसे साधना के निरन्तर प्रयत्न में ही लगे रहने का सूझ गया है, वैसा **जीव** उसमें से उबरे बिना नहीं रहता है ।

सभी इन्द्रियाँ और मन तथा प्राण समग्र रूप से जब मौन रखते हैं, तब ही नम्रता का सात्त्विक गुण जीवन में साकार होता है । जीवनविकास के योग्य ऐसी नम्रता का सहज, सतत परिशीलन से जीवन अपनेआप साधनामय बन जाता है, वह ऐसा होते कोई परम गूढ़ अंतरशक्ति के प्रदेश में मन प्रवेशकर वहाँ प्रशांत होता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २६३ से २६५)

तमस-रजस-सत्त्व :

तमस गति करता लगेगा पर रहेगा वहीं का वहीं । परिमितता, स्थितिस्थापकता और निष्क्रियता ये इसके लक्षण हैं । इसलिए हमें यदि विशेष अर्थ में गति करनी हो तो रजस गुण को धकेलना होगा । प्रत्येक वस्तु में यह गुण भी निहित रहता है । इसतरह प्रकृति में परिवर्तन होने के कारणों में पदार्थ की गतिशीलता का—रजस का—गुण है; परन्तु यदि ये गुण ही मात्र प्रत्येक में होते तो वस्तुमात्र में जो प्रकार-भेद है, वह नहीं होता । जड़ और चेतन अथवा पशु और मनुष्य-ऐसे भेद नहीं पड़ते । स्थितिस्थापकता (तमस) और गतिशीलता (रजस) के गुणधर्मों के परिणामस्वरूप जो व्यवस्था हुआ करती है, वह भी पदार्थ का ही गुण है और उसे पदार्थ का सत्त्वगुण गिना जाएगा । **प्रत्येक चीज अपनेआप की स्थिति में से सहज रूप से निकलने का सतत प्रयत्न किया ही करती है ।**

इसप्रकार यदि हम अपने जीवनध्येय को आकार देने के लिए जीवन्त ख्याल रखते हुए रजस के गतिशीलताभरे क्रियाधर्म को अपने प्रत्येक कर्म, व्यवहार, वर्तन-संबंध आदि का आदि में उसे ध्येयाकार वृत्ति में स्थिर करने चैतन्यशील रहा करेंगे तो अधिक अंतर पड़ेगा । परिमितता (तमस) में से जीवनध्येयाकार की वृत्ति गतिशीलक्रिया धर्म (रजस) में चैतन्य रूप से हुआ करेगी, तब हमें आध्यात्मिक अनुभव होंगे और उसमें योग्य व्यवस्थिति (सत्त्व) आयेगी । ज्ञानपूर्वक की चेतना की व्यवस्थिति यह सत्त्व का लक्षण है । उसमें समता है, एक की एक स्थिति है, परन्तु चेतन है, जड़ता नहीं है ।

प्रत्येक कर्म इन तीन गुणों से संबंधित होता है । इन तीन गुणों की अलग-अलग रीति के संमिश्रण से अलग-अलग भूमिकावाली अलग-अलग दशाएँ जन्मती हैं और उन दशाओं में से कर्मों के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं । जब ज्ञानमय चेतनाभरी जागृति सतत पैदा होती है, तभी ही समतायुक्त प्रसन्न मस्त डोलन होता है, वह सात्त्विक भावना का प्रकार है और अंत में तो **जीव** की शिवत्व में गति होते तमस 'सत्' में, रजस 'चित्' में और सत्त्व 'आनंद' में—सच्चिदानंद

में परिवर्तन होता है । ('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १ से ५)

● ● ●

साधक को अपने जीवन में कब कौन-सा गुण काम कर रहा है, वह समझना चाहिए और उसे समझ-समझकर उन गुणों की असर से भावनाबल पैदाकर प्रयत्न करना चाहिए । एक ही दिन के दौरान में कभी तमस, कभी रजस और बहुत ही कम समय सत्त्वगुण भी व्याप्त होता है ।

तमोगुण में आलस्य, जड़ता, प्रमाद, निर्बलता, अश्रद्धा, शिथिलता, अशक्ति, अकौशल्य, बस पड़े ही रहना, उमंग का अभाव, कठिनाई से होना, शंकाकुशंका, निराशा, विषाद, रोना, मंदता, अग्रहणात्मक स्थिति, संकेत से समझ सकने की अशक्ति, बड़ी लगन और निष्ठा का अभाव, अनिश्चितता, बेपरवाही, बेदरकारी, अनियमितता, सातत्य का अभाव, यद्वातद्वापन, थकान, मोह, अज्ञान, ठंडे और बासी पदार्थ खाद्यवृत्ति, मंदगति, विस्मृतिपन, सुस्ती, निर्बलता, मंद सौन्दर्यग्रहणशक्ति, मंदरसवृत्ति, भावनाओं के मर्यादित प्रत्युत्तर आदि होते हैं ।

रजस में वेग, गति, शक्ति, कुशलता, चपलता, परिस्थिति को नियन्त्रण में लेने की इच्छा, सक्रियता, सबलता, उमंग, पुरुषार्थ करने की चाहना, आशावाद, एक की एक स्थिति में रहने की अनिच्छा, संघर्षवृत्ति, आग्रह, नेता होने की वृत्ति, *अहम्* का जोश, कीर्ति की चाहना, चौकसी, नियमितता, सातत्यता, तनदिही, सीखने की आतुरता, सर्जनशक्ति, उत्साह, ग्राहकता, आवेग, आवेश, कामना, आशा, इच्छा, अपेक्षा, चंचलता, स्फूर्ति, अधीरता, आसक्ति, गड़बड़ी, प्रवृत्तिप्रियता, स्पर्धा, लोभ, हिंसाखोरी, अभिमान, तीखा-नमकीन खाद्यवृत्ति, अनुदारता, बुद्धि की हठता आदि होते हैं ।

सत्त्व में समता, शांति, आनंद, प्रेम, प्रसन्नता, स्थिरता, मुलायमता, निराग्रह, सरलता, सत्यप्रियता, क्षमा, करुणा, नम्रता, निर्दोषता, अभय, अहिंसा, इन्द्रियदमन, दान, शास्त्राभ्यास, त्याग, निर्लोभता, अद्रोह, अविचलता, कोमलता, न्याय, ब्रह्मचर्य, पवित्रता, भक्ति, आरोग्यशक्तिप्रद खाद्यवृत्ति,

सहिष्णुता, अमानित्व, सर्वभूतहितरतता, बुद्धिशाली और सप्रमाण मन, बुद्धि और सौन्दर्यरसवृत्ति से प्रेरित संकल्पशक्ति, आत्मसंयम, संस्कारिता, सप्रमाणता, मध्यममार्ग अभिमुखता आदि होते हैं ।

● ● ●

सत्त्वगुण हमारे आधार में प्राणवान महत्त्वपूर्ण होने से, उस समय हमारे शरीर, मति, मन और प्राण—इन चार में वह मुख्य भूमिका निभाता है और सात्त्विक गुण छलकते रहते हैं । सत्त्वगुण का बल पनपते पनपते एक ऐसी दशा प्रकट होती है कि उसमें से ज्ञानदशा का अभ्युदय होता अनुभव कर सकते हैं । सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान महत्त्वपूर्ण होता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि उसमें भावनाभक्ति ही न हो या कर्मयोग के सम्बन्धित लक्षण भी न हो । सात्त्विक गुण प्रकट होते ही साधना के भाव का विकास सहजरूप से हुआ करता है ।

सत्त्व में सात्त्विक गुणों का प्राकट्य सहज होने से उसका लाभ संपूर्ण समय एकाग्रता से साधना के कर्म में ही लगाये । इस प्रकार यदि ऐसी जागृतिपूर्वक कड़ी निगरांनी और सावचेती रख सके तो साधनाकर्म के फल की प्रक्रिया में अधिक से अधिक उत्साह बनेगा । सत्त्वगुण में उच्च क्षेत्र का पुरुषार्थ करने में उत्साह और उमंग होता है । विचारों की विशेष उलझन नहीं होती । अस्थिरता, संशय, शंका, संपूर्ण अव्यवस्था, द्विधाभाव आदि की अनुपस्थिति होती है । इसलिए सबल भूमिका का लाभ जितना उठा सके उतना उत्तम है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९४, जीवनसंशोधन, आ. २, पृ. २५७-२५८)

● ● ●

साधना में आगे चलकर एक ऐसी स्थिति आती है कि किसी करण में सत्त्वगुण तो कितने ही करणों में रजोगुण भी कार्य करते होते हैं ।

रजोगुण में अहम् प्राधान्य रूप विशेष रहता है । उसमें जिस प्रकार का अहम् है, वह अत्यन्त वेगवाला होता है, इससे ऐसे साधक को अधिक से अधिक चेतनायुक्त जागृति रखकर नम्र रहने सजग रहना है ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ९५-९६)

प्रत्येक **जीव** और पदार्थ में तीनों गुण रहते हैं । एक या दो ही गुणवाले अस्तित्व असंभव है । तीनों गुणों में बारी-बारी से उतारचढ़ाव, कम ज्यादापन हुआ ही करता है । सत्त्व उत्तम, रजस मध्यम और तमोगुण कनिष्ठ कहलाता है । तमस और रजस को सत्त्व में तथा रजस को सत्त्व में फलीभूत कर सकते हैं । अंत में तो तीन गुणों से पार होकर साधक को त्रिगुणातीत होना है ।

● ● ●

मनबुद्धि से प्राण या अहम् पर स्थायी और विश्वसनीय नियन्त्रण नहीं ला पाते । वह नियन्त्रण जीवित नहीं होता । जीवन्त, चेतनामय और ज्ञानात्मक संयम के लिए तो उससे पर जो शक्ति है, उसके द्वारा वह योग्य ढंग से साधा जा सकता है । प्रभु की कृपाशक्ति में जिस साधक को श्रद्धा, भक्ति होती है, ऐसा जीव जब अपने करणों की शुद्धि के लिए श्रीहरि को हृदय में हृदय से हृदय का आर्त और आर्द्र पुकार करता है, तब ऐसे पुकार से जो काम बनता है, उस प्रकार का काम (या शक्ति) नीति या सदाचार के नियम मात्र पालने से नहीं बन पाता । नीति या सदाचार के नियम पालने की आवश्यकता है, यह सत्य बिलकुल यथार्थ है, किन्तु वह केवल और इतना ही पर्याप्त नहीं है । ज्ञानभक्तिकर्मयोग से अंत:करण की पूर्ण विशुद्धि प्रमाण में जितनी सरलता से, शीघ्रता और सुगमता से हो सकती है उतनी और वैसा मनबुद्धिजन्य संयम से या गुणों के लिए गुणों के विकास की साधना से होना संभव नहीं लगता है ।

अनेक प्रकार के प्राण और अहम् से उठे हुए आंदोलन प्रभुकृपा से प्रेमभक्तिभाव सहित प्रभुस्मरण के साथ समझने को मंथन करता रहता । ऐसे ज्ञानपूर्वक अभ्यास का परिणाम तो यह होने लगा कि समता, तटस्थता, शांति, विवेक, प्रसन्नता, सहिष्णुता आदि सात्त्विक गुण अपनेआप प्रकट होने के अनुभव हो पाये । इसप्रकार, ज्ञानभक्तिपूर्वक की जागृति से और उसके हेतु का पालन होते जाते साधना के अभ्यास से गुण तो

अपनेआप आते जाते हैं, यह निश्चित अनुभव का सत्य है । केवल गुण लाने का अभ्यास **इस जीव** को कभी न था ।

('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. १२४, ३५२)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१०. आध्यात्मिक क्षेत्रप्रवेश

किसी भी प्रकार के साधन या शिक्षण या तालीम लिये बिना मानवी विकसित नहीं हो सकता । हृदय में रहे गूढ़ में गूढ़ आत्मा के कोमल में कोमल और सूक्ष्म में सूक्ष्म आवाज को सुनने की शक्ति प्राप्त करने के लिए खास किसी गढ़न की आवश्यकता रहती है ही । यदि कोई ऐसा कहे कि मानवीमात्र जन्म से ही अपनी आत्मा की आवाज को सुन सकता है और पहचानकर उसका अनुसरण कर सके तो उसका अर्थ तो ऐसा ही हुआ गिनायेगा कि शिक्षण, अभ्यास, समागम, साधन या योग— इसका कोई अर्थ नहीं । प्रत्येक क्षेत्र में मानवी तालीम पाकर ही विशेषज्ञ बनता है । पर हमारे लोग कठिन से कठिन और मुश्किल से मुश्किल आध्यात्मिक विषय—उसमें तालीम पाये बिना या प्राप्त किये बिना आत्मज्ञान की बातें करने लगते हैं ।

'जानता होता न कुछ जानने का फिर भी धरे
– पूरा दिखावा', यह व्याधि मानसिक जनों की ।

यदि एकएक क्षेत्र में तालीम की आवश्यकता रहती है तो इस क्षेत्र में उससे कई गुना तालीम की आवश्यकता होगी ? इस क्षेत्र की तुलना में तो स्थूल ऐसे शिक्षण क्षेत्र में भी एम. ए. होते सोलह वर्ष हुए, और उसमें जितना समय दिया जाता था, उसमें से चौथे भाग का समय भी इसमें न दिया जाता होता तो गणितशास्त्र की दृष्टि से गिने तो इसमें चौसठ वर्ष तक राह देखनी रहे । उसमें एक के एक अभ्यास में निरन्तर सतत रहा करने का होता था और one pointed attention एकाग्र, केन्द्रित ध्यान उसमें दिया जाता था और दूसरी किसी लुब्धा बिना का काल हमारा रहा करता था, तो इसमें भी हमें वैसी परिस्थिति उत्पन्न करनी है । इस

काम में इससे अधिक समय और चेतनाप्राण पिरोये करने हैं । और वह निष्ठापूर्वक, ज्ञानपूर्वक और होशियारीपूर्वक, श्रद्धाविश्वासपूर्वक, शरणागति की एकमात्र भावना से । हमारे यहाँ ऐसी मान्यता फैली है—फिर वह पश्चिम के संस्कारों के कारण हो या मानवी के अज्ञान के कारण—कि आत्मा की आवाज सुनने और समझने प्रत्येक मनुष्य भाग्यशाली है ही, इसमें ऐसा कुछ भी कठिन नहीं है । ऐसी उसकी विकास संभावना (potentiality) मानवी में रही है इतनी बात सच है, और मानवी को वैसा मानना बहुत सुविधाजनक लगता है, क्योंकि उसमें एक प्रकार का कोमलतम आश्वासन रहा हुआ है । आज के युवक स्वार्थवासना और दूसरी अनेक वृत्तिओं से भरपूर ऐसे मानसवाले होते हैं । ऐसी वृत्तिओं के आवाज को, ऊपर के उसके ऐसे ख्याल से प्रेरित हो, वे आत्मा की आवाज मान लेते हैं । पर उसकी ऐसी समझ उसकी अमुक मान्यता के कारण थी, इतने ही कारण से कोई उसे क्लेश होनेवाला नहीं है या कम होगा ऐसा थोड़ा है ?

फिर, अमुक को ऐसे कष्ट और क्लेश भोगने के आते ही ऐसा कहते सुना है कि आत्मा की आवाज अनुसार व्यवहार करते संतों और महात्माओं को अपार दुःख सहने पड़ते हैं, वैसे वे भी भोग लेते हैं, यानी कि स्वयं भी वैसे ही हैं पर यह तो ऐसे मूर्ख लोगों की भ्रमणा ही है । ऐसी भ्रमणा किसी को कभी आत्मा के प्रदेश में लेकर नहीं जा सकती । **वासना की आवाज और आत्मा की आवाज दोनों अलग हैं । आज तो लोग स्वतंत्रता में मानते हुए हैं । अपनी बात में किसी को दखल देने का अधिकार नहीं ऐसा समझते हैं । वैसे मानवी भी अपने दूसरे किसी भी काम में उस काम के विशेषज्ञ के पास से मदद, सूचना लेने जायेंगे । उसकी सलाह अनुसार व्यवहार भी करेंगे सही, पर यदि ऐसे को कोई उसके जीवनक्षेत्र के विषय में ऐसे विषय का जानकार कभी उसे सलाह दे कि 'तुम्हारा ऐसा मानना भूलभरा है' तो वह उसे ठीक नहीं लगेगा । सभी भौतिक विषय में और उस विषयों के जानकार की सलाह लेने में वह पूरा मानता है । मात्र इसमें वैसा करना चाहिए**

वह सूझता नहीं और इच्छा भी किसी को होती नहीं ऐसा अंधापन सभी जगह व्याप्त है । हमारा पढ़ा समाज पूरी तरह पामर हो गया है । यह समाज जीवन के दूसरे एकएक क्षेत्र में उसके जानकार की सलाह अनुसार व्यवहार करेगा । यदि डॉक्टर घर में किसी बीमार की सँभाल के लिए जो सूचना दे गया होता है, उससे दूसरा कुछ भी करने को घर का कोई बुजुर्ग व्यक्ति कहे तो यह पढ़ा समाज तूट उठेगा, 'तुम क्या जानो ? डॉक्टर ने ऐसा करने को कहा है ।' मकान चुनाई हो या बड़ी बिरादरी को भोजन करवाना हो तो राज या रसोइये की सलाह अनुसार चलेंगे, पर यह एक आध्यात्मिक क्षेत्र के विषय में मन को वैसा चलना पसंद नहीं । यह हमारी बलिहारी है । इस विषय में किसी योग्य गुरु का शरण लें । इसमें समाज या पढ़े को छोटापन लगता है । दूसरी विद्या प्राप्त करने के लिए मनुष्य को उसके पीछे शक्ति खोना योग्य लगता है । उसके पीछे सारा समय देना चल सकता है, जबकि मानवी को इस क्षेत्र में वैसा करने में एक बहाना खड़ा होता है । संसार में मातापिता, बुजुर्गबंधु, सगेसंबंधी—उनका शासन हम स्वीकार करेंगे । हम राजकर्ता का कितना भी नापसंद हो, पीड़ाकारी हो तब भी वह शासन स्वीकारेंगे, जीवन में दूसरे क्षेत्र में या व्यापारी के यहाँ सीखने जाने पर सेठ का शासन स्वीकारेंगे, वहाँ हमें गुलामी लगती नहीं है । पर गुरु का शासन स्वीकारते गुलामी लगती है, ऐसा आज के पढ़े लोगों की खूबी है ।

सर्वप्रथम तो साधक को दैवी और आसुरी इन दो वृत्तिओं के बीच भेद परखना पड़ेगा । उसे समझना होगा और जानने अनुभव के बाद आसुरी वृत्तिओं को परख-परखकर उसके अधीन होना छोड़ना पड़ेगा, इतना ही नहीं, दैवी वृत्तिओं को विकसित करना होगा । उसके शासन तले ही रहना होगा न ? दैवी संपत्ति का सतत परिशीलन हुआ करता होने से उसकी अधीनता में रहा करना स्वीकारना ही होता है । इसप्रकार, मानवी को किसी न किसी के कहे में तो रहा ही करना होता है, पर गुरु के कहे अनुसार करने में संपूर्णरूप से उससे रहा नहीं जाता यही सबसे बड़ी

कमी है न ? दुनिया में जो तो कुछ हम किसी की मदद लेकर सीखते होते हैं । वहाँ खुशी से मदद लेने में मानवी को कुछ नहीं लगता । गुरु की महत्ता स्वीकारे बिना की तालीम सब कुछ बेकार है । एक ही बात में कुछ करना होता है वही हकीकत कोई भी कहेगा तो हम नहीं करते, पर जिस पर हमें खूब श्रद्धा, विश्वास होता है अथवा जिसके विषय में हमें खूब खूब प्रेम, आदरभाव होता है, वह कहता है तो हम तुरन्त करते हैं । वैसा गुरु के वचनमात्र कहने से आचरण में उतरनेवाला नहीं है । उसे आचरण में रखवानेवाले, गहरे उतारनेवाले, उसका प्रेरणात्मक बल, उनमें से लेने की कला भी साधक को सीखनी होगी । वह कैसे सीखी जाय यह भी एक पहेली ही है न ?

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २७१ से २७५)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

११. साधना और साधक

साधना यानी ही काल को जल्दी ही योग्यरूप से पकाने की जड़ी-बूटी । प्रतिकूल संयोगों को अनुकूल करने की कला यानी साधना ऐसा भी कह सकते हैं । प्रकृति द्वारा जीव की होती उत्क्रांति में शक्ति और प्राणसंचार लाकर उसे वेगवान और भावात्मक बनानेवाली जो चेतना की प्रक्रिया यह साधना ऐसा भी कह सकते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३४५-३४६)

साधना यानी भक्ति, ज्ञान, ध्यान और कर्ममार्ग का समन्वय । भक्ति यह भावना का प्रवाह, ज्ञान यह हेतु, ध्यान यानी एकाग्रता और केन्द्रितता, कर्म यानी इन सबको सुयोग्यरूप से, सुमेल लाकर बहने के लिए का पाट—channel.

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १०)

साधना में रूचि कब होगी ?

१. जीवन में जिसे हम सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न गिनते हों उसमें रुचि आये तब ।
२. जिसके लिए प्रयत्न हुए करते हो, उसके लिए भावना, प्रेम होगा तब भी रस आयेगा ।

३. जो प्राप्त करना होगा उसकी उत्कट जिज्ञासा और तमन्ना जागी होगी तो उसकी तीव्र भूख लगेगी और रस आएगा ।

४. 'गरज' जागी होगी तो रस आएगा, अमुक वस्तु किये ही छुटकारा है, ऐसा दृढ़ मरणान्त निर्धार किया हो, कि जो न हो तो जीना बेकार होगा, तो रस आएगा ।

५. जिसका सतत चिंतवन हुआ करता होगा उसमें रस पड़ेगा ।

६. जीवनध्येय की प्रतीति हो गई हो और उसके बिना जीवन में दूसरे किसी में रस न आए तो रस आएगा ।

७. ऐहिक पुरुषार्थ के कारण प्राप्त सभी प्रकार के संसारी सुख, सुविधा होने पर भी इन सबसे दिल में चैन न हो और हृदय अंदर से अभी किसी और की इच्छा करता हो तो रस आएगा ।

ऐसे कारणों से साधना में रस आना संभव है । भले ही हमें प्रारंभ में रस न भी आये, या प्रारंभ में रस आने के पश्चात् मंद गति हो जाय तब भी, जीवन का ध्येय—शेष कार्य यही हो सकता है ऐसा दृढ़ निर्धार यदि ला सकेंगे तो एक या दूसरे साधन को पकड़े रहकर प्रेमभक्ति से कुछ न कुछ करते रहेंगे तो एक दिन उसमें से वेग जन्म लेगा ही । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ५६-५७)

(अनुष्टुप)

लाखों बार कुछ बोध सुनते रहोगे भले,
जाओ करोड़ बार ही संत के समागम में,
शास्त्र का चिंत्वन गहरा व अभ्यास किया करो,
तब भी नहीं पायेगा बिना कोई साधना किये ।
साधना मात्र उपाय केवल एक वहाँ सही,
शक्ति को पाने के लिए कोशिश अन्य बेकार गिनो ।

('कर्मगाथा', आ. २, पृ. ४४-४५)

प्रारंभ में एकांतिक साधना :

जीवन का साधक तो जहाँ कहीं से सद्भावना की पहचान और कदर किये बिना नहीं रह सकता । जिस किसी का योग्य मूल्यांकन वह

यथाभाव से करता रहता है। किसी भी सद्प्रवृत्ति के हार्द को वह अनुभव करे बिना नहीं रह सकता है, इससे जो जीवन की सकल सद्वृत्ति के मूल में है, उसकी भावना जैसे एकाग्र और केन्द्रित, उसके लक्ष के प्रति रस रहा करता है वैसे ही वह सर्वतोमुखी होने को निरंतर लगी रहती है। उसकी दृष्टि एक में एकाग्र केन्द्रितरूप से होना जो होता है, वह तो विस्तार पाने की दशा प्राप्त करने के लिए। उसका एक में जो बंद रहने का एक काल तक ही हुआ करता है, वह तो ज्वालामुखी की तरह बाहर फूट निकलने से पहले उसके अंदर के भूगर्भ में बहुत समय पहले से ही बाहर करने की क्रिया-प्रक्रिया सतत चलती रहती है उसके जैसी अथवा तो मक्खन पाने के लिए, दूध को दही करने के लिए उसे कुछ समय हिलाये बिना एकांत स्थल में रखने की आवश्यकता रहती है, उसके जैसी यह पूर्वतैयारी है। इसप्रकार की पूर्वतैयारीरूप साधना में एकाग्र और केन्द्रित होने की साधक को कुछ समय के लिए ही आवश्यकता होती है। इससे वह समाज से अलग, अकेला हो जाता है, ऐसा मानना भी योग्य नहीं है। वैज्ञानिक जैसे अपनी खोज के प्रयोग का मनन-चिंतन में एकाग्र रहकर, उस काल के दौरान एकाकी जीकर सभी प्रकार के जीवन पर दृष्टि नहीं दौड़ाता—और संसार इसे योग्य भी मानता है—ऐसा साधक का भी होता है।

जिन्हें भी कुछ पाना है, उन्हें उस पाने के प्रयत्न में एकाग्र और केन्द्रित हुए बिना नहीं चलेगा। जिसने जो प्रवृत्ति जीवनध्येय विकसित करने हेतु हाथ में ली है, उसमें उसे एकचित्त होना ही होता है। यह सच्चाई जीवन के सर्व क्षेत्रों में लागू होती है। लड़ाई के जोश को जीवंत और उत्साही रखने के लिए उस दौरान समग्र प्रजा की दृष्टि को एकमात्र मुक्ति और विजय के पहलू पर जैसे एकाग्र और केन्द्रित रखी जाती है—और उस काल दौरान जैसे दूसरे किसी के प्रति भी थोड़ा महत्त्व नहीं दिया जाता—वैसे जीवन में साधना के प्रति भाव को समझना होता है।

ऐसा साधक अकर्मण्य है, ऐसा कभी नहीं कहा जा सकता है।

जीवन में उद्‌भवित राग-द्वेषादिक प्रकृति के भावों से न खिंचकर, शांति, समता, तटस्थता लाने हेतु जागृतिपूर्वक मंथन करना और जीवन के प्रति सकल वर्तनभाव में सत्त्वगुण को लाने लगातार ज्ञानपूर्वक मथे जाना उसे क्या कर्म नहीं गिनेंगे ? और वैसा कर्म भी प्रभुप्रीत्यर्थ, प्रभुभाव से और ज्ञानभक्तिपूर्वक श्रीभगवान के चरणकमल में समर्पणभाव से हुआ करे । यह सब कोई जैसा-तैसा कर्म नहीं । संसार के कर्म से साधनामय कर्म निराला है । संसार का कर्म स्थूल होने से देख सकते हैं; साधक का सूक्ष्म होने से देख नहीं पाते ।

साधना का अर्थ गला घोंटकर जीवन को रुँधना नहीं है, परन्तु सहज स्वाभाविक रूप से उसका विकास हो और उसी तरह वृत्तिओं का सुमेल हो और उसमें से शांति, समता, तटस्थता, धीरज, सहिष्णुता, प्रसन्नचित्तता आदि गुणों का विकास होते अनुभव हो, उन गुणों की शक्ति का जीवन में प्राप्त प्रसंगों में ज्ञानपूर्वक उपयोग हुआ करे, और उसके द्वारा जीवन हराभरा लगे और धन्य होता अनुभव हो उसका नाम साधना ।

मौनएकांत लेने का हेतु लगनी लगाने का है, और साधना में विशेष एकाग्रता, केन्द्रितता प्राप्त हो उसके लिए है, मौनएकांत की साधना में अनुष्ठानों से **जीव** एकदम कोई **शिव** नहीं हो जाता, पर उसमें से **शिव** होने की संभावना प्राप्त होती जाती है । आध्यात्मिक जीवन के इच्छुक को एकांत और मौन यह अत्यधिक आवश्यक हैं । **यहाँ मौन अर्थात् मन की नीरवता प्राप्त होने में सहायक को उस प्रकार का मौन और यह उत्तम प्रकार का मौन है ।** मौन तो अच्छा है ही, परन्तु वह मौन रूढ़ प्रकार का शुष्क, कोरा कोरा नहीं होना चाहिए । मौन में आंतरिक प्रवाह भावनामय रहा करे और वैसा न हो तो उस समय मनन-चिंतन की प्रक्रिया चलती रहे, यानी कि किसी न किसी प्रकार मौन पालते समय साधना के रचनात्मक साधन में लगे रहा करते हो तो उस प्रकार का मौन विकासात्मक है ।

साधक और स्वजन :

कोई भी हमारा स्वजन हम से झगड़ा करे, क्लेश, संताप या कलह करे और इससे यदि हम लज्जित न हो या घिर न जाय तो उसके हथियार निश्तेज हो जायेगे, परन्तु यदि हम इससे झुँझलाये, चिड़े या क्रोध से भरे तो उस **जीव** के वे हथियार अधिक धारवाले होंगे । इसलिए ऐसी स्थिति में तो प्रभुकृपा से हमें अधिक सरल, शांत, धीरजवाला, समतावाला और प्रेमभावी होकर अधिक सहनशीलता लानी है । हमारे सत्त्वगुण को बढ़ाने, प्रस्फुरित करने तथा हमारे में रही चिड़चिड़ाहट की अकुलाहट की, क्रोध की वृत्ति को धीरज रखने की परीक्षारूप वह कृपाअवसर मिला है, ऐसा हृदय में मानकर हमें तब व्यवहार करना है । फिर, तब हमारा हृदय प्रेमभाव से खूब आर्द्र, कोमलतम और सहानुभूतिवाला और सामने **जीव** के अंदर का जो-जो अच्छा हो । उसकी कदर करने की तत्परताभरी भावनावाला होना चाहिए । ऐसे समय में हम में पूरीतरह जागृति रही होनी चाहिए, तो ऐसा हो सकता है ।

जीवन का इसप्रकार के संघर्षों से निर्माण होता है । जिस जीवन में कभी ऐसे संघर्ष, युद्ध, उलझन, कठिनाइयाँ, उपाधियाँ नहीं आयी हैं, उस जीवन में परिपक्वता कैसे आ सकती है ? किसी भी विषम परिस्थिति में भी हमारी मानसकि स्थिति पूर्ण समझवाली, शांतिवाली, धीरजवाली रह सके उस प्रकार के शिक्षण के लिए ईश्वर कृपाकर वैसे संयोग हमें देता है, ऐसी जागृति तब होनी चाहिए ।

सामनेवाले **जीव** की प्रकृति में कैसे भी दर्शन हों, तब भी हमारे प्रेमभाव में बिलकुल भी अंतर नहीं पड़ना चाहिए—बल्कि वह बढ़नी चाहिए । तभी संसार में किसी के भी साथ हम समतायुक्त आचरण रख सकने में समर्थ होंगे, तो ही पापी में पापी को, दुष्ट में दुष्ट **जीव** को हम चाह सकेंगे ।

हमारा दोष हो तो लाख बार माफी माँग लें । ऐसा करने में कहीं भी संकोच न रखें ।

यदि किसी **जीव** की प्रकृति सामनेवाले को झुकाने या घसिटने ऐसी अंतिम हद तक जाती हुई अनुभव हो तो उसमें हमारी अपनी परीक्षा है

और हमारी कक्षा या दशा कैसी हुई है उसे जानने के लिए एक थरमामीटर है। उस समय में सामने की ओर थोड़ी भी लापरवाही या तिरस्कार होते हमारा प्रेमभाव और सद्‌भाव कम होने लगे तो हमारा पतन हुआ समझें। **सेवा का प्रसंग मिलने पर प्रेमभाव से उसकी सेवा भी करें, परन्तु जहाँ हमें झुकना नहीं चाहिए वहाँ तो ना ही झुकें। उसकी आत्मा को जरूर वंदन करें, झुकें, परन्तु उसकी प्रकृति को या उसके स्वभाव को तो नहीं ही। किसी की भी प्रकृति या स्वभाव को नमन किया कि हम नीचे उतरे समझना। ध्येय के विषय में और आदर्श के प्रति तो दृढ़ ही रहना है।**

साधक के जीवन में ऐसा भी समय आता है कि जब हमारे अपने ही हमें नीचे खींचकर गिराना चाहते हैं। उस 'चोट' के बड़े-बड़े हथियार भी होते हैं, क्योंकि उनके प्रति हमें दूसरों से अधिक प्रेम होता है। परन्तु ऐसी जो कृपा का अवसर मिलता है, वह यदि साधक सचमुच जागृत होता है तो आँख खोलनेवाली हो सकती है। इससे, उनके प्रति हमारा राग, ममता, आसक्ति, मोह आदि जो-जो होंगे उनकी प्रकृति के दर्शन होते ही कपूर की तरह हम में से उड़ ही जाएँगे। साधक के जीवन में निरी शुष्कता भी नहीं होनी चाहिए। वह तो सदा ही कोमल में कोमल बना हुआ होगा। इसके साथ उसके ध्येय के प्रति उसकी दृढ़ता व्रज से भी कठोर होगी। जीवन में कारुण्य, उदारता, विशालता, प्रेम आदि को स्थान है, परन्तु उन सभी का उपयोग करना है ध्येय के खातिर, असत्य या प्रकृति के नीचले स्तर को अपनाने की खातिर नहीं। उल्टे समझे जाएँगे, घातकी लगा करेंगे, ऐसा होना संभव लगे तब भी ध्येय के योग्य ऐसे समग्रताभरे प्रेम के भावयुक्त अड़िग व्यवहार से सामनेवाले को जीवन की सच्ची समझ और श्रेष्ठतम बतला सकते हैं। एक बार सामनेवाले व्यक्ति को हमारी दृढ़ता का ख्याल आ जाय तो हमें हिलाना असंभव है, ऐसा उसे लगते ही अंत में वह अपनी हठ छोड़ भी दे।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ७५ से ८२)

साधक और जीवनसाथी :

(अनुष्टुप)

योग मार्ग जाना यदि हो इससे अन्य रूप में,
तुम्हें कोई जाने प्रेरे 'ना' कहिए दृढ़ता से ।
दु:खाये दिल अन्य का ऐसा कुछ करने से,
प्रेम गहरा हृदय में रख ऐसों को समझाएँ ।
साथी का साथ लेने को साथ देने कहाँ करें,
हमें तो रहना है स्व-मार्ग पर दृढ़ता रखके ।
एक की एक बात को अधिक नहीं मसलें,
स्पष्ट कहना जो हो उसे कह शांत होयें ।
अन्य चाहता रहेगा अपनी रीति चलाने,
हमें न डिगना वहाँ दृढ़ वहाँ सदा रहे ।
जिसे जो चाहिए वह लेने दो उनको सब,
नि:स्पृही हमें रहना हिस्से आयेगा वह करके ।
फंदे में फँसना ना हो किसी में हमारा,
ऐसा आचरण करें स्वस्थ शांतरूप से ही क्या !

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ११९-१२०)

साधक और नौकर :

अपने जीवन में साधना को सांगोपांग होने के इच्छुक साधक को घर के नौकर के प्रति संपूर्ण भाईचारे की भावना रखनी चाहिए । नौकर के हिस्से में आया काम नौकर करे, इसलिए वह हल्का नहीं हो जाता । वैसे ही कोई लखपति या करोड़पति अपने हिस्से में आये काम को करता हो, इससे वह ऊँचे दरज्जे का नहीं हो जाता । काम के प्रकार को लेकर ऊँचनीच का भेद कभी नहीं हो सकता । साधक को ऐसे भेद कल्पना में भी होने चाहिए ।

अंतर में और बाहर, ऊपर और नीचे सभी जगह भगवान का भाव सचराचररूप से व्याप्त है, उसे जीवन में अनुभवरूप हृदय में प्रामाणिकता से उतारने को परिश्रम करनेवाला ही साधक है । ऐसा साधक अपने नौकर और कुटुंबीजनों के बीच सद्‌भाव की दृष्टि से

या भावनात्मक रूप से कोई अंतर नहीं देखता है । उसके बीमार पड़ने पर अगर उसकी कोई असुविधाभरी स्थिति का ख्याल आने पर अपने कुटुंबीजन जैसी उसकी मर्यादा की स्थिति का विवेक रखकर उसकी योग्य सेवा करने और उसके उपयोग में आने से चूकेगा नहीं । उसके पास सामर्थ्य से अधिक काम कभी नहीं लेना । नौकर को काम कितने घण्टे और कितने समय तक रहता है, उसका जीवन्त भान रखना चाहिए । काम के कारण उसे देर रात तक जागना तो नहीं पड़ता है न ? उसे भी देखना चाहिए । उसके भोजन और आवास की सुविधा उसके जीवन की मर्यादानुसार देखनी होगी । किसी भी योग्य कारण अनुसार हमारे यहाँ से उसे जाने का हो तो दूसरों के वहाँ किसी भी संयोग में यशस्वीरूप से वह अपना काम कर सके ऐसी शिक्षा और तालीम भी हमारे यहाँ उसे मिलनी चाहिए ।

नौकर के साथ साधक कभी भी असभ्य न बने और प्रत्येक प्रसंग में, वाणी में मिठास बनाये रखेगा । नौकर अर्थात् उसे बेकार नहीं रख सकते और सतत दिनभर एक के बाद एक काम बताया करे यह तो बहुत हलकट मनोवृत्ति है । नौकर भी मनुष्य है । उसमें भी भावना होती है । उसे भी आराम की आवश्यकता है । फिर, कितनी ही जगह तो घर का मुख्य आदमी न सोये वहाँ तक नौकर का सोना नहीं हो पाता । ऐसी जगह स्वयं सोचकर नौकर को भी कम से कम सात से आठ घण्टे नींद मिलनी चाहिए । ऐसा विचार समझदार जीव करे बिना नहीं रहेगा । नौकर का शरीर बीमार हो, उस समय उसे काम न करने दें तथा उसे आराम, दवा और हमारी ऊष्मा मिले ऐसी सुविधा, खुल्लापन और सहृदयता यदि हम रख सकें तो नौकर हम पर सद्भाव रखने में सहायक हो सकेगा । ऐसा करना यह हमारा धर्म भी है । नौकर की शक्ति मर्यादा देखकर उससे आसानी से हो सके उतना ही काम करवाना चाहिए । नौकर गरज के मारे हमारे यहाँ काम भले करेगा, परन्तु यदि उसके प्रति हमारा व्यवहार सख़्त और कठोर होगा तो उसके दिल में हमारे प्रति सद्भाव या प्रेम कभी नहीं जागेगा । हम स्वयं उसकी स्थिति में हों तो हमें कैसा लगेगा यह हमें

सोचना है ।

साधक का नौकर के साथ का व्यवहार प्रेमभावपूर्ण होना चाहिए । साधक ऐसा कभी न माने कि उसके साथ वैसा व्यवहार करने से नौकर चढ़ बैठेगा या बहक जायेगा । उसके साथ-साथ नौकर का अयोग्य व्यवहार होने पर उसमें से उसे रोकना भी न चूके । साधक के हृदय का सहज प्रेमभाव और उसके साथ का नैसर्गिक व्यवहार नौकर के दिल में कोई अनेरा भाव पैदा किये बिना नहीं रहता । नौकर यह नौकर नहीं है, पर कुटुंब का ही एक अंग है ऐसा भाव हृदय में आना चाहिए । नौकर को हो सके तो बिना योग्य कारण हम न निकालें । वह अपनेआप जाना चाहे तो अलग बात है ।

नौकर के प्रति साधक संपूर्ण विश्वास रखे सही, परन्तु अपने ऐसे विश्वासभरे भाव से यदि नौकर अपने स्वभाव से गलत प्रेरित हो रहा हो तो उस विषय में उसे समझाएँ और आवश्यकता होने पर रोकना भी साधक का धर्म होता है । अपने विश्वास के भाव को लेकर उसके अकल्याण होने का निमित्त वह नहीं हो सकता । वैसे ही जानबूझकर नौकर को बेदरकार नहीं होने देगा, साथ ही गलत रूप से उसे चंचुपात भी नहीं करेगा ।

वर्ष में एक महीने वेतन के साथ छुट्टी और यदि वह न भोगे तो उसे अलग मुआवजा और महीने में चार दिन छुट्टी उसे मिलनी चाहिए । नौकर स्वयं कुटुंबीजन जैसा होकर छुट्टी न भोगे तो उसे उसका मुआवजा दें । वर्ष के अंत में एकाध महीने का वेतन बक्षीसरूप देने की संभावना हो तो ऐसा भी सोच सकते हैं ।

अंत में साधक नौकर को नौकर रूप में न समझकर, उसे आ मिला स्वजन देखेगा और ऐसी भावना रखेगा । ज्ञानपूर्वक भावना से प्रेरित सद्भावना का कोई गेरलाभ उठाये ऐसा डर साधक को नहीं होना चाहिए । अपना धर्म उसके प्रति सर्व प्रकार से योग्य प्रकार के वर्तन में फलित हो, यह देखने में साधक का संतोष निहित हो ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २१६ से २२१)

यहाँ नौकर को मात्र 'घरनौकर' ही नहीं समझना है, परन्तु एक से अधिक नौकर हो तो वैसा तथा रसोई करनेवाला महाराज, आया,

गुमास्ता, कारीगर, शॉफर, माली, चौकीदार, सहायक मंत्री आदि सभी प्रकार के व्यक्तिओं से जुड़े गिनना है। और उनके प्रति पृथक् पृथक् धर्म साधक यथायोग्यरूप भावपूर्वक अपने हृदय का भाव विकसित करने के लिए ही मानो सब भगवान ने साधनरूप बक्षा हो वैसे सहृदयी भाव रखकर वैसी सभी प्रभुभेंट का प्रेमपूर्वक स्वागत करना।

साधक और साधक :

साधकों के सूत्रधार एक ही गुरु जहाँ हो वहाँ, और तथापि साधकों को परस्पर व्यवहार में अनेक बार उन्हें शोभा न दे ऐसा व्यवहार दिखाई देता है। **सचमुच तो साधक अर्थात् गुरुरूपी विराट शरीर के अलग-अलग अंग।** जैसे मानवशरीर के अलग-अलग अंगों के नाम, काम और प्रकार अलग-अलग होते हैं, वैसा ही गुरु के विराट शरीर के ये अंग के बारे में हैं।

जब कोई **जीव** साधकदशा में आता है, तब उसके स्वभाव के अच्छे और अनिष्ट तत्त्व, दोनों जो अब तक साधक में गहराई में पड़े रहे थे, वे ऊपर आ जाते हैं, बाहर व्यक्त होते हैं। उनमें निम्न तत्त्वों के आक्रमण शीघ्र होते हैं। उनका व्यक्त होना वेग से और शीघ्रता से होता है और वह सविशेष रूप से प्रबल होने लगते हैं। ईर्ष्या, असूया, 'मैं' पन, क्रोध, मत्सर, अयोग्य स्पर्धा, गुरु पर अपनी मालिकी की वृत्ति, दूसरों के कारण स्वयं अच्छा लगने और दीखाने की वृत्ति, स्वयं को अधिक महत्त्व मिला करे ऐसी व्यवस्था आदि **जीव**प्रकार की निम्न वृत्तियाँ एकदम प्रबल आक्रमण करती हैं। अनेक वर्षों से बहती कोई नाली में या खारकुँए में नीचे कचरा जमा रहता है और उसके ऊपर से पानी बह जाता हो तो वह पानी प्रमाण में स्वच्छ होता है, पर जहाँ नाली साफ करने, कुतरने की शुरूआत होती है, तब वह पानी उलटा अधिक बदबूदार, मैला और गंदा हो जाता है। वैसा ही कुछ साधक के जीवन के विषय में होता है।

ऐसे समय में अनेक बार साधक उसके निचले स्तर के प्रबल बहते

हुए प्रवाह में बह भी जाता है—यद्यपि फिर जागृति आने से उसका भान भी होता है। साधक में कभी कभी अंदरुनी खींचातानी, तू-तू मैं-मैं और झगड़े भी होते रहते हैं। इससे, ऐसे साधक बहुत निचले दरज्जे के हैं ऐसा मानने की ओर संसारी लोग ढलते हैं, परन्तु वास्तविक रूप से यह मान्यता अघटित है।

साधक में और संसारी में एक बड़ा अंतर है। उसकी सारी विकृतियों के बावजूद साधक भगवान की ओर अभिमुख थोड़े बहुत अंश में भी होता है, इसलिए समयानुसार वह अपने स्वभाव को अधिक से अधिक गहराई में परखने लगता है। और निचले स्तर के बहाव के पाट को छोड़ता जाता है, अर्थात् वह स्वभाववश होना कम से कम करता जाता है। इसलिए ऐसे साधकों के बीच अंत में तो एक दिन सुमेल जागे बिना नहीं रहेगा। इससे वह जैसे-जैसे जागता जायेगा और उसका जैसे-जैसे क्रियात्मक उपयोग होता जाएगा, वैसे-वैसे नयी आयी या खिली शक्ति ही अपनेआप सभी में सुमेल लाएगी।

प्रकृति के कितने भी प्रबल आक्रमण आये तो भी साधक को जागृतिपूर्वक उनका सामना करके दूसरों के साथ अघटित व्यवहार न हो, ध्यान में रखना होगा। उसे अपने वर्तन के प्रत्येक क्षण को समझना होगा और वह कहाँ गलत है, उसका पूरा ख्याल उसमें होना चाहिए। साधक अपने को पूरी तरह पहचानने लगे तो हमेशा उसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव उसके प्रत्येक प्रसंग में, विचार में, वाणी में और वर्तन में अपनी भूल कहाँ है, उसे देखने में ही उसका लक्ष रहेगा। स्वयं को हुए या होते किसी भी आघात विषयक या अन्यायी दिखते वर्तन विषयक जो कोई साधक सामनेवाले का दोष देखेगा अथवा खोजेगा वह सचमुच का साधक नहीं है या तो वह प्रसंगवशात् किसी बड़े भ्रम में पड़ा जीव है। ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २१० से २१३)

● ● ●

गुरु प्रत्येक साधक के साथ उसकी उस-उस समय की आवश्यकता, संयोग, परिस्थिति आदि देखकर व्यवहार करते हैं, जिसमें किसी प्रकार का निजी पक्षपात या गणनाएँ-Consideration—गुरु को नहीं होती, तब भी साधक अनेक बार अपने अहम् और प्राण से प्रेरित होकर गुरु के व्यवहार पर मन में आलोचना करने न्याय करने बैठ जाता है। इसमें साधक अपने आपको, गुरु को और जुड़े साधक को इसप्रकार तीनों को अन्याय करता है। साधक को जब ऐसे भाव जागें, तब उसे सविशेष जागृति रखकर उसमें से तुरन्त दूर हो जाने दृढ़ प्रयत्न करना चाहिए।

जो-जो साधक जिस एक के साथ जुड़े होते हैं, वे परस्पर मिलने पर अपने अनुभवों का आदान-प्रदान करें, किन-किन पद्धतियों को ग्रहण करने से साधनापथ में सरलता मिली है, उन सभी का विनिमय करें और एकदूसरे के उत्कर्ष में प्रीति रखें, उमंग रखें, संघबल का इसतरह लाभ उठाये यह इच्छने योग्य है। ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २१५)

साधक और बहनें :

बहनों की ओर हमारा दृष्टिबिन्दु खूब ही भावनाशील—जिसमें से कठोरता और रुक्षता निकल गई हो वैसा—होना चाहिए। वैसे ही उनके लिए मान, आदर और पूज्यभाव की भावना हम में खूब विकसित होनी चाहिए। इसके बिना हमारे में रही विकारवासना मूल से नष्ट नहीं होगी। पुरुषों ने अपने आपको सर्वोपरी मानकर जगतभर में वासना को अधिक पोषा है और स्त्रियों को भी वैसी बना दी है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०९)

● ● ●

बहनों के साथ का भाव खूब निर्मल होने दें। उसमें हृदय के प्रेमभाव का विकास किया करें। साधक को हृदयभाव से निःसंकोच रूप से बहनों के साथ व्यवहार करना है। अधिकतर लोगों में एक प्रकार के छूत लगने का सूक्ष्म प्रकार का भयभाव होता है। वैसी भावना होने में और रखने में यद्यपि तथ्य रहा है, पर असली हमारी प्राचीन संस्कृति

में तो इस विषयक भाव बिलकुल अलग प्रकार का था । किन्तु संस्कृति का पतन होने से पिछले समय में ऐसे आदर्श के मार्ग में जानेवाले साधक के लिए कठोर नियम निर्दिष्ट हैं, वह भी योग्य था । फिर, वर्तमान में जहाँ स्वच्छन्दता व्याप्त है, वहाँ वह विशेष योग्य भी हो । **तथापि अलग रहने से अथवा तो डरने से और चौंकने से साधक उस वृत्ति से मुक्त हो सके ऐसा मानना यह अज्ञान है । ऐसी दूर-दूर रहने की एक प्रकार की सूक्ष्म भावना का यदि तटस्थतापूर्वक पृथक्करण करेंगे तो उसमें से जीवन से भाग जाने की—भय से भाग जाने की—वृत्ति दिखेगी ।** हमने तो जीवन का स्वीकार किया है । हमें ज्ञानपूर्वक जीवन में जो भी ऐसी बहनों के साथ प्रसंग आये, जो भी संयोग आये, प्राप्त प्रवृत्ति अनुसार जिस किसी के संबंध में आना पड़े, उनसे ऐसा कोई भय रखकर दूर भाग जाना नहीं होता । ऐसा करने में किसी तरह का असंयम सूचित नहीं होता । सभी प्रकार के भय और संकोच से दूसरों के द्वारा या हमने उपजाये हो व बनाये हो व समझे हुए निषेधों से भी ज्ञानभक्तिपूर्वक मुक्त होना है । यह सभी पूरी जागृति के हेतु से तथा जीवनध्येय के ज्ञानभान सहित हमें करना है । बहनों के अंतर के आशीर्वाद मिलें, तो वह जीवन में बहुत सहायक होते हैं । जीवन में शुद्ध प्रेमभाव का विकास एकाग्र और केन्द्रित हो, इसका ध्यान रखना है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. १०-११)

● ● ●

बहनों के साथ व्यवहार करने विषयक 'भाई ! गहरे पानी में उतरने में सार नहीं है ।' इसप्रकार के व्यावहारिक, दुनिया की सलाह हम सुनते हैं । बाड़ बांधकर जैसे खेतों के अनाज की रक्षा की जाती है, उसी अनुसार संसारव्यवहार की नीति को जैसेतैसे बनाये रखने के लिए उपरोक्त कथन योग्य है । हमें तो यह याद रखना है कि जिसका कर्म में सचमुच जीवन्त भाव रहता होगा, उसे किसी प्रकार के संकोच और भय की भावना नहीं हो सकती । जिसे जीवन की साधना यथायोग्य करनी है, उसे तो सर्वप्रथम अभयभावना विकसित तकनी है । भय अनेक प्रकार के होते हैं । भय

में अनेक प्रकार के संकोच करनी भी रहे हुए हैं ।

बहनों से भय के मारे छूत न रखें, यह यथार्थ होने पर भी, साथ ही साथ उनके अधिक परिचय में यों ही आना हो उसे तो सावधानीपूर्वक समझ-समझकर त्यागना है । अधिक आवश्यकता तो उनके योग्य संसर्ग द्वारा दिल में जीव प्रकार की वृत्तिओं से मुक्ति मिले ऐसा भाव रखना है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २७४)

बहनों के साथ संबंध और संमति के पीछे का भाव का ज्ञान रखकर, संबंध का हेतु समझकर यदि व्यवहार हो सके तो किसी भी प्रकार का अनिष्ट जन्म ले वह संभव है नहीं है । उनकी त्यागभावना, धीरज, सहिष्णुता, कोमलता, स्वार्पणशक्ति आदि गुण हमें जागृति रखकर हेतुपूर्वक विकसित करने के हैं । ऐसे सभी गुणभाव का उद्दीपन बहनों के साथ के संबंध से संभव हो सकता है । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. १५२-१५३)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१२. नामस्मरण

पहले तो हमें मन को ही विकसित करना है । जैसा मन वैसी सृष्टि । जीवन में प्राप्त प्रत्येक प्रसंग, संबंध, व्यवहार, कर्म में हमारा मन जहाँ तक शांति, धीरज, तटस्थता, प्रसन्नचित्तता, योग्य ज्ञानपूर्वक का विवेक, समता वगैरह सभी ज्ञानभक्तिपूर्वक रख न सके, वहाँ तक आध्यात्मिक जीवन में हमारा प्रवेश भी नहीं हो सकता । इसलिए मन को उसके मनपसंद विषय में टहलने से रोकने के लिए हमें उसे जीवनध्येय विषयक किसी अन्य काम साथ-साथ देना ही चाहिए और वह है प्रेमभक्तिपूर्वक प्रभु का नामस्मरण तथा जीवन में प्राप्त प्रसंगों में जीवंत ख्याल और भान रखकर हमारा मन उसके पड़े स्वभाव अनुसार व्यवहार न करे, उसकी दरकार-संभाल हमें रखनी है। मन शिव-संकल्प-रूप बने बिना जगत के विचार जो आयेंगे वे जगतस्वरूप के ही रहेंगे, इसलिए उसमें से मन को बटोरने, उकसाने, ऐसा जीताजागता आंतरिक

बल प्राप्त करने के लिए साधना करने की आवश्यकता होती है । साधना से मन पर का काबू आने लगता है । प्रत्येक होते कर्मों में यदि हम अपने मन की गति को योग्यता अथवा अयोग्यता का ख्याल रखकर भावना के विकास के लिए ज्ञानभक्तिभाव से समझपूर्वक व्यवहार किया करे तो मन जितनी प्रत्यक्ष सहायता हमें देता है, उतना कोई हमें दे नहीं सकता । घर में प्रवेश करने के लिए जैसे देहलीज यह प्रथम प्रवेशरूप है, और बाहर एवं अंदर यह दोनों को जोड़ती है, और उसे लांघे बिना हम घर में नहीं जा सकते, उसी तरह मनरूपी दहलीज को लांघे बिना जीवन की चेतना के घर में हम नहीं जा सकते । इसलिए हमें मन को लांघना ही होगा, यानी कि मन की पड़ी हुई रीतरसम, समझ, आदत, कल्पनाएँ, आग्रह, मान्यताएँ, मत, धारणाएँ, अनुमान वगैरह सभी से सोचने से रोकना ही होगा ।

अपने आप मन वैसा नहीं हो जाता । इसीसे मन को बारंबार **जीवन के** विषय में खिंच लाने के लिए उसके गले में डोर बांधने की आवश्यकता रहती है । जैसे खूँटी से बंधा बछड़ा कितना भी अलग चरा करे तब भी वह खूँटी से अलग नहीं हो सकता, वैसे ही मन को हमें ऊर्ध्व जीवन का सतत निरन्तर चिंतन कराना रहता है । **हमें संसार में जकड़कर रखनेवाला मन ही होता है । मन जैसा पकड़े रखनेवाला ब्रह्मांड में भी दूसरा कोई नहीं है । इसलिए उसने हमें बांधा न होने पर भी हम उससे बंधे रहते हैं, ऐसी उसकी खूबी है ।** सभी कोई जो-जो कुछ करते हैं, वह आनंद के लिए करते होते हैं, परन्तु वैसा होने पर भी **जीव** की होती रहती प्रवृत्ति में से उसे चाहिए वैसे और उतने सुख-आनंद मिलते नहीं हैं । यह तो सभी किसी के अनुभव में आया है और जैसा-जैसा मन वैसा-वैसा आनंद का भी प्रकार होता है ।

फिर, जैसा-जैसा मन, जैसी मन की भूमिका और जैसे-जैसे समय मन का वातावरण उस-उस तरह सुखदुःख का भी वैसा ही प्रकार रहता है । प्रत्येक मनुष्य दुःख भले उठाता हो पर वह किसी न किसी प्रकार के आनंद की आशा रखकर ही दुःख भोगता है । यदि किसी के जीवन

में आनंद ही न हो तो जीवन टिक भी नहीं सकता । इसप्रकार, सकल प्रवृत्ति में जहाँ तक जगत का दृष्टिबिन्दु है, वहाँ तक उसमें राग-द्वेष, सुख-दुःख, ऊब, त्रास, संताप, कठिनाई, उलझन, संघर्ष, दुविधा वगैरह वगैरह सभी हुआ ही करेंगे । इन सभी का अंत अपने आप नहीं हो सकता । अंत लाने का जहाँ हमारा दिल हुआ और उसमें यदि हदय से कृतनिश्चयी हो सके तब ही अंत आ सकेगा । सारा संसार हमारे से ही है, हमारे में रहा हुआ है और जो बाहर है वह भी हम से अलग नहीं । ऐसी जीतीजागती समझ यदि हृदय से ठस जाय या उत्पन्न हो जाय तो संसार में प्राप्त संबंध, स्वजन, यह दूसरे कोई नहीं, परन्तु हमारे अपने में से ही हमारे अपने कर्म के संबंधो के प्रत्यक्ष प्रत्येक स्वरूप ही है । ऐसा जीवित ज्ञान यदि उस उसमें हृदय से व्याप्त हो तो, और वह हमें सचमुच योग्य और हृदय से सच लगता हो तो हमारा मन हमें एकभाव से सुमेल की भावना से सभी में व्याप्त करेगा । ऐसा होते दूसरे हमें जो मिले हो, वे हमारे साथ योग्य व्यवहार न करे सके तो, उसमें से उत्पन्न दुःख, क्लेश, संताप, त्रास आदि वृत्तियाँ हमारे मन में से कम होती जाती हम अनुभव कर सकेंगे । एकात्मभाव यदि हम प्राप्त हुओं में और प्राप्त हुओं द्वारा हृदय में हृदय से यदि न उत्पन्न कर सके हों तो आध्यात्मिक एकता का सही अनुभव हम कभी भी नहीं कर पायेंगे ।

जगत यह हमारी नजर से अलग-अलग लगता हैं, क्योंकि हम अलग-अलग हुए हैं और अलग-अलग रहते हैं, सचमुच तो यह ज्ञान और भाव की कक्षा में निरन्तर एक ही है । उसी तरह और वैसा होने पर भी हमारा संसार वह अलग-अलग लगने पर भी वह एक ही है, क्योंकि वह हमारा अपना ही विस्तार है और हमारे अपने में से ही उत्पन्न हुआ है । और जैसा वह संसार है, वैसा उस स्वरूप में हमने ही उसे वैसा रखा है । इसलिए वहाँ से ऊर्ध्वमार्ग के प्रत्येक जिज्ञासु को संसार से संसार की वृत्ति हटाये बिना उसका संसार कदापि मिट नहीं सकेगा । संसार को हमने स्वयं ही उत्पन्न किया है और संसार को हमने स्वयं ही पोषित किया है और निभाया है । इसलिए उसे हमें स्वयं ही परमभावना

में पलटाने के लिए प्रत्यक्ष भावनास्वरूप ही हमें बन जाना होगा । ऐसा हमारा हो जाने पर हम से वह अलग नहीं लग सकेगा । जो कुछ होता है, उसका कारण दूसरा कोई नहीं, हम स्वयं ही हैं, ऐसा सोचकर ही संसारव्यवहार के होते कर्म में भावना का हृदय से उद्दीपन होता रहे ऐसा जीवित मन से ख्याल और उसका अभ्यास हमें रखते ही रहना होगा और उसके लिए, ऐसा होने के लिए—हमें बुद्धि की सात्त्विक सूक्ष्मता की बहुत आवश्यकता रहती है और वैसा कुछ भावना के जीवित अभ्यास के बिना नहीं हो सकता ।

भगवान का नामस्मरण मन को उसकी लीक पर से हटाने के लिए उत्तम साधन है । मन जो-जो सोचता है, उसके परिणाम को उस तरह होते रोकने के लिए नामस्मरण को उस-उस पल में उस-उस के साथ मिलाना मनहृदय से होता रहेगा तो मन के ऐसे-ऐसे उन-उन पलों के विचारों का जोश, उसकी छाया और उसके संस्कार मंद पड़ते जाएँगे, यह बात निश्चित है । जैसे कि विष हो, परन्तु उसके साथ उसके विरुद्ध का दूसरा कुछ मिलाया गया हो तो उसकी मात्रा घटती है और विष का जोश भी घटता जाएगा । और जिस प्रकार का परिणाम उससे आनेवाला हो उस ढंग से उसका परिणाम न आ पाए यह संभव है । उसी तरह **यदि मन की मन से होनेवाली सारी प्रवृत्तियों में समझपूर्वक का भावनापूर्ण भगवान का स्मरण जीवित चलता रहेगा तो हम संसार के सिकंजे में से मुक्त हो सकते हैं । जब तक मन का स्वभाव नहीं बदलता, तब तक मनुष्य को किसी में से मुक्ति नहीं मिल पाती ।** इसीलिए सभी धर्मों ने मन की शिक्षा पर महत्त्व दिया है । जीवन की समझ और जीवन को हम किस मार्ग पर ले जाना चाहते हैं, उन दोनों की जीवित धारणा मन को विकसित करने के लिए मुख्य साधन है । संसार की प्रवृत्ति में से **जीव** को कभी शांति नहीं मिलेगी, यह तो ठोस सत्य है । संसार को छोड़ने पर भी नहीं छोड़ सकते । संसार हमें चिपका नहीं है, किन्तु हम संसार में चिपके हुए हैं । इसी से हमें मन की स्थिति को वहाँ मात्र पलटनी रहती है । मन अपने आप पलट नहीं सकता । इसीलिए ही साधना की आवश्यकता है । **मन को पलटाने**

के लिए ही प्रभु के नाम का प्रेमभक्तिपूर्वक का सतत निरन्तर स्मरण—यह एक मुख्य साधन और दूसरा साधन जो प्रतिदिन होते जाते कर्मों में श्रीभगवान की भावना और धारणा जीवित रहे उसके लिए दृढ़ताभरा अभ्यास और तीसरा साधन वह जीवन में आनेवाले सभी प्रसंगों में समता, शांति, धीरज, तटस्थता, दूसरों के प्रति सहानुभूति आदि गुण हमें बनाये रखने हैं । यदि जीवन की भावना बनाये रखने की हम में सचमुच की भावना जीवित हुई हो तो जो कुछ भी होता रहेगा, वह हमारे विकास के लिए ही है, ऐसी अनुभव की समझ उस-उस में से जागती ही रहेगी । ऐसा होने से मन के सभी बंधनों से मुक्त होने के लिए प्रत्येक साधक को इतना तो अवश्य करना ही होगा ।

जो चल रहा है उसे कोई उलझन नहीं आती । चलनेवाला तो उलझन, कठिनाई, संघर्ष, दुविधा, बेचैनी, संताप, त्रास, दुःख—इन सभी को योग्य ढंग से सुलझाकर ही आगे बढ़ने में ही समझता है । चलने का ही जिसने दृढ़ निश्चय किया है, उसे जगत में कोई भी नहीं रोक सकता, ऐसी उसकी खूबी है ।

मन की स्थिति जब-जब रचनात्मक रूप से योग्य प्रकार की न रहे, तब-तब उसमें फँसना नहीं, परन्तु वैसी स्थिति में से निकलने के लिए समझपूर्वक मथना । जिसने चलने का निश्चित किया है, उसका चलना बंद होते, चलने का बंद होने का कारण वैसा **जीव** उस-उस पल सोचकर उसके कारण से अलग होकर दुबारा चलना प्रारंभ कर देता है । ऐसा जो **जीव** करता है, उसे ही समझना कि चलने का सही निर्धार हुआ है । **कहीं किसी में फँस जाये तब मनहृदय से प्रबल भावनापूर्वक स्मरण करें । यदि वैसा करने पर भी मन का बोझ, संताप, मन की चिंता, दुविधा, मन का संघर्ष, मन का त्रास वगैरह सभी मंद पड़ते न लगे तो जिन्हें तुमने जीवन का गुरु माना है, उन्हें मनहृदय में भावना से दृष्टि के सामने रखके और ऐसे मनहृदय में उन्हें प्रत्यक्ष करके उनके साथ उन-उन प्रसंगों की बातचीत किया**

करे । ऐसा करने से अवश्य मन में प्रसन्नचित्तता आयेगी । हमारे जीवन का गुरु वह मिट्टी का पुतला होने पर भी उसमें दूसरा कुछ है । इसका जीवित अनुभव तो हम समझ और भावनापूर्वक मनहृदय से करते रहेंगे तो ही होगा ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. ६५ से ७२)

● ● ●

मेरे मन तो गुरु यह स्थूलरूप नहीं है, पर भावना चेतनारूप है और इसतरह उनका स्मरण, उसका चेतनभाव—हमारा विचार, कर्म, व्यवहार, संबंध आदि में—जीवित रहा करने का अभ्यास विकसित करते रहेंगे तो हमें हृदय में अनुभव होकर ही रहेगा ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. ७०)

● ● ●

नाम का सतत स्मरण होना यह कोई सरल बात नहीं है । कोई जीव भगवान का नाम ऐसे-ऐसे ही नहीं ले सकता है । सतत भगवान का नाम लेना यह हँसीखेल नहीं है ।

इतनी सारी सावधानी, जागृति रखने पर भी नामस्मरण सतत नहीं रहता है, तो लीक अनुसार कैसे रह सकता है ? और मानो कि लीक अनुसार रहे तो भी उसका परिणाम बेकार नहीं जाता । जैसे कोई किसान बीज बोने से पहले खेत में खाद डालकर उसे जोतकर नरम बनाता है और फिर बीज डाले तो, और भगवत् कृपारूपी बरसात हो तो उसमें से पुष्कल शुभ परिणाम आये बिना नहीं रहते । परंतु कोई आलसी किसान ठीक से खेत न जोते और बीज बो दे तो भी थोड़ा बहुत उगे बिना नहीं रहेगा । कुछ नहीं तो पशु-चारा तो होगा ही । इसप्रकार भगवान का नामस्मरण जोतकर खाद देने की तरह यानी कि मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहंकार इन सभी को नामस्मरण उदय होने की भूमिका के योग्य विकसित करने नाम लिया करे तो वैसा मानवी प्रत्यक्ष परिणाम अपने जीवन में अनुभव करे बिना नहीं रहता । इसके लिए अत्यन्त, अपार धीरज और भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता है ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १८१-१८२)

जप का उद्‌भवस्थान हृदय है। जप अंत में तो एक भाव ही है। यदि जप हृदय की धड़कन के साथ हम ठीक किया करें तो ध्यान भी अपनेआप वहाँ रहेगा। यह अभ्यास स्थिर होते जप हृदय में से स्वतंत्र रूप से होता जायेगा और यदि उसमें भाववृद्धि कर सके तो धारणा भी रहा करेगी। इसप्रकार तीनों—जप, ध्यान और धारणा—ठीक से होंगे।

किसी के भी स्मरण से ऊष्मा जागते या कोई भी भाव होते उसका सदुपयोग जपभाव से कर लेना हो सकता है।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. ४९ से ५१)

जप भावुक और सात्त्विक तो अंदर से ही चलता रहे वही अच्छा, पर जैसे आदर्श को एकदम पहुँच नहीं सकते, जिस रास्ते जिसे पहुँचने की संभावना लगती हो, वह मार्ग अभी लेना अच्छा। इससे जोर से जप करे तो बाधा नहीं, पर क्रमशः जीभ मात्र हिलाकर, मन में जप हो सके और अंत में तो अंदर से हृदय में से अपनेआप वह होता जाय। जप के ध्येय को यदि भूलेंगे नहीं, तो यांत्रिक जड़ आदत नहीं पड़ेगी। सही अर्थ में धारणा यह तो कर्म में से परिणाम लानेवाली असर है। मुख्य तो हृदय की धड़कन के साथ खूब भावावेश के साथ जप हो यह आवश्यक है।

('जीवनपगरण', आ. ३, पृ. १६६)

प्रतिदिन जप बोलने में हमारा उत्साह बढ़ते रहना चाहिए। जप का हेतु श्रीभगवान का भावात्मक सातत्य जीवित निरन्तर रहा करे इसके लिए है। जप यह तो मात्र साधन है। साधन यह तो साध्य का, ध्येय का मिलाप करानेवाला होने से, उस दृष्टि से साधन की उतनी महत्ता है। मात्र साधन को जड़रूप से खाली-खाली पकड़े रखने से कभी ध्येय हांसिल नहीं किया जा सकता। इससे हमें ध्येय को भूलना नहीं है। पर जो **जीव** किसी भी प्रकार की साधन लेना ही नहीं चाहता अथवा जिस **जीव** को साधना की भावना का धारणा किसी न किसी प्रकार से जीवित नहीं रह सकती, उस **जीव** की ध्येय प्राप्त करने की अवधि नहीं होगी, निरन्तर जप भले न हो सके, पर जिस हेतु से लिया हो, उसे दिन के निरन्तर व्यवहार में अंतर्गतरूप से रख सके, तो उसका

नाम भी जप है । जप तो स्थूल है, परन्तु उससे उत्पन्न होती भावना ही महत्त्वपूर्ण है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १९०-१९१)

दूसरे कर्मों में हम लगे हों, तब शरीर का कोई भी सहज अलग हुआ भाग जैसे कि पैर का अंगूठा, हाथ का अंगूठा या उँगली हिलाये करना और उसके साथ जपयज्ञ जारी रखने का अभ्यास उसकी वैसी सजीव जागृति के साथ करने से तो दूसरा काम करते-करते भी अंतर में स्मरणभाव की धारणा जरूर जारी रहेगी । ऐसा भावना से ज्ञानपूर्वक होता रहता प्रयोग चलते, उठते, फिरते, बैठते, दैनिक क्रियाएँ करते-करते, स्मरणभाव की धारणा जीवंत रखने में सरलता प्रकट करता है । यद्यपि ऐसा कुछ भी एकदम नहीं हो जाएगा ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३०-३१)

प्रारंभ में ऐसा मानसिक जप होना संभव नहीं है । मन तो संकल्प-विकल्प कर सकता है । इसलिए जप की स्मरणभाव की धारणा का निरन्तर अभ्यास बोल बोलकर करना रहता है । जब अजपाजप प्रकटता है, तब ही मानसिक जप की धारणा रह सकती है । बाकी तो हम मानेंगे कि मन में जप हो रहा है और जप का होना तो कब का गायब हो गया होगा, उसका पता भी नहीं चलेगा ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २८९)

जप को यज्ञ गिना है । यह एक बड़ा सहज, सरल साधन है । सामान्यरूप से जप छोटे से छोटा हो तो उत्तम, जो जपने में क्लिष्ट नहीं होना चाहिए, सरल होना चाहिए । ह्रस्व और मृदु तथा कठिन नहीं ऐसा (घोष व्यंजन) हो तो अधिक अच्छा । शब्द के तीन स्थान हैं : नाभि, कंठ और ब्रह्मरंध्र । जप ऐसा होना चाहिए कि वह तीनों को स्पर्श कर सके । एक-एक स्थान पर से जप के प्रत्येक अक्षर का भावपूर्वक हेतु की निरन्तर धारणा के साथ उच्चारण हो तो वह साधना अति उत्तम है । जपमंत्र श्वासोच्छ्वास अथवा नाड़ी की धड़कन के साथ ले सके तो उत्तम । जप को यज्ञ कहने का कारण यह है कि यज्ञ में सभी कुछ होमना होता है । इसलिए हमें मनादिकरण में जो-जो उफान आये, वह सभी उसमें

प्रार्थना के साथ ज्ञानभक्तिपूर्वक होमा करना है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३२०-३२१)

मंत्र लगातार निरन्तर हृदय से हो तो वैसे मंत्र के उच्चारण से होती धारणा ज्ञानतंतु को - प्राणवान करती है । इससे समता और शांति आती है । ऐसी समता और शान्ति जब ज्ञानतंतुओं में आकर ऊँचाई पर पहुँचती है, तब शरीर के रोग का भी निवारण करने में शक्तिमान होती है । जप में इस कारण से गंगा के प्रवाह जैसी सतत, लगातार, निरन्तरता आनी यह बहुत आवश्यक है । इसके बिना पूरी तरह असरकारक नहीं हो सकता । जब जप में ऐसी भावात्मक निरन्तरता आती है, तब करणों के प्राकृतिक भावों को योग्य रूप से प्रकटाने में वह प्रेरणात्मक होती है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३८४)

जप अर्थात् चेतनभाव का सातत्य अखंड रहना वह । मन को चेतन के प्रति सद्‌भाव से जिस तरह प्रेरित रख सके वह ही जपयज्ञ । मन का स्वभाव जब तक चेतन के प्रति रसार्द्रता और आर्ततावाली भूमिकायुक्त न हो, तब तक वह यद्वातद्वा रहा करेगा, इसलिए हृदय से ऐसे सद्‌भाव में रहने का जितना ज्ञानयुक्त अभ्यास बढ़े उतना उत्तम ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. १८७)

नामस्मरण का प्रभाव अपरंपार है । दिन के समय का अधिकांश समय यदि उसमें हम दे सकें, हमारी सारी शक्ति के जोड़ का बड़ा भाग उसमें खर्चें, तो भावना की निरन्तरता भी आएगी । नामस्मरण की भावना जिसके दिल में पैदा हुई हो, उसके अनुसार जाग्रत होकर, भावना के साथ उसमें तल्लीन होकर उस ओर मुड़ने का दिल से हो तो उसे उस मार्ग के प्रति जाने की पूरी संभावना है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. २४५)

स्थूल रूप से, प्रत्यक्ष रूप से नामस्मरण बिना स्थूल जीवन निभ सकता है, पर प्रभुमय जीवन के लिए नामस्मरण प्राण समान है । यह न हो तो कुछ नहीं है । इसलिए ध्यान आदि दूसरे साधनों से भी उसका सविशेष ध्यान रखना है । नामी से भी नाम बढ़कर होता है । दिनभर

खाये बिना जी सकते हैं पर जिसे भगवान की शरण में जाना है, उसे नामस्मरण के बिना एक क्षण भी नहीं चलना चाहिए । नामस्मरण यह हमारा एक तरह का जीवन है ।

कोई भी काम करते-करते भी यदि भावपूर्वक नामस्मरण चलता रहता हो तो यह काम हम साधना के एक साधन रूप में ही करते हैं । ऐसी भावना हमारे में गहरी उतरती जाय, क्योंकि हमें गहरा भान तो यह स्मरण के कारण रहता है कि हम यह काम करते भगवान की शक्ति का आह्वान जाने अनजाने करते हैं, इसलिए यह शक्ति थोड़ीबहुत हमारे में उतरती ही है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २३९-२४०)

● ● ●

जैसे H_2O का सत्य सभी प्रयोगसिद्ध यथार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, उसी तरह अनेक देश के, अनेक समाज के, अनेक धर्म के, अनेक भिन्न-भिन्न संस्कृति के भिन्न-भिन्न मनुष्यों ने प्रयोग कर बलिदान की भावना से न्योछावर होकर, सभी तरह से और सर्वभाव से संपूर्ण समर्पण में तदाकार हो जाकर जिस सत्य का अनुभव किया और जीवन में समा लिया और उसकी शक्ति द्वारा जीवन जिया और समाज के इतरजनों को भी उनकी उस असर से प्रभावित करके, जीवन की नयी राह दिखाने में और नयी राह पर चलने में प्रत्यक्ष क्रियाशील, सर्जनशील बने हैं । ऐसे महानुभावों के जीवन के उस-उस काल में उनके जीवन की वैसी प्रेमभक्ति-ज्ञानकर्मभावपूर्वक का समर्पण के प्रयोग कर करके जगत को प्रत्यक्ष उसका वैसा सत्य सिद्ध कर बतलाया । उसी तरह जीवन का नवनीत निष्कर्ष रूप निकालकर समाज को ऐसे महानुभावों ने अपने जीवन के वैसे प्रत्यक्ष समर्पण के प्रयोग द्वारा जगत को और समाज को उसके प्रत्यक्ष दर्शन का अनुभव करवाया है । ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानभक्तिभाव से प्रकट हुए जीवन यह क्या प्रयोग नहीं ?

ऐसे लोग स्वयं तो जीवन में जीवन से परिवर्तित हुए हैं, यह तो प्रत्यक्ष सत्य है । इतना ही नहीं, परन्तु वैसे लोग के जीवन की असर से दूसरे लोगों के जीवन को परिवर्तित होने की असर भी उन्होंने पैदा की

है । अनेक नकारात्मक भाववाले जीव को भी उन आत्माओं ने नयी पहचान देने में अनोखा प्रदान दिया है । यह भी ऐतिहासिक सत्य है ।

श्रीप्रभु का स्मरण अर्थात् भावनात्मक जप जीवन को परिवर्तित करने की एक प्रकार की सूक्ष्म प्रक्रिया है । उसमें श्रद्धा की आवश्यकता है सही, पर जिसमें वह न हो, उनमें भी वे पैदा कर सकते हैं ।

किसी को तर्क उठे कि जप से कैसे काम, क्रोधादि किस तरह मंद हो सकते हैं ? उसका उत्तर तो यही है कि जो कोई उसमें समर्पणभाव से न्योछावर हो और जप में प्रेमभक्ति की निष्ठा में यदि सजग रह सके तो उसको उसका पता चल ही जायेगा । तथापि बुद्धि भी स्वीकार कर सके वैसा सत्य कितनी बार प्रवचनों में बतलाया है वह निम्न लिखित है ।

पाँच तत्त्व हैं—आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल और पृथ्वी । प्रत्येक तत्त्व की तन्मात्रा नीचे अनुसार है ।

आकाश — शब्द
वायु — स्पर्श
तेज — रूप
जल — रस
पृथ्वी — गंध

यह पाँच तत्त्वों का तीन गुणों के साथ संबंध है ।

सत्त्व का आकाश के साथ ।
रजस का वायु और तेज के साथ ।
तमस का जल और पृथ्वी के साथ ।

शब्द और आकाश परस्पर संपूर्ण रूप से संलग्न हैं । परस्पर भिन्न होने पर भी एक ही हैं, जैसे प्रकाश और सूर्य, गर्मी और अग्नि ।

शब्द आदि अनादि से है । ऐसे चेतन के प्रतीक शब्द में जब जीवंत निरन्तरता, अखंडता, अटूटता आ जाती है, तब आधार* में आकाशतत्त्व

* मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहं

खिल उठता है और शीर्षस्थ हो जाता है । अब आकाशतत्त्व को और सत्त्व को परस्पर मम्बन्द होने से जब आकाशतत्त्व खिलता है और शीर्षस्थ हो जाता है, तब साथ आकाश के खिलने के साथ सत्त्वगुण भी खिलने लग जाता है और सत्त्वगुण खिलने लगते और सत्त्वगुण शीर्षस्थ जीवंत होते रजस, तमस गौण बनते जाते हैं । काम-क्रोधादिक विषय तो रजस और तमस गुण के आधार पर होते हैं, इसलिए जब रजस तमस गुण मंद पड़ने लगे, तब स्वयं काम-क्रोधादिक मंद पड़ते जाते हैं । इसप्रकार चेतनात्मक, भावात्मक शब्द में जब जीवंत, सहज निरंतरता, अखंडता और अटूटता आती जाती है, तब काम-क्रोधादिक, रागद्वेष को कम करने या निशेष करने में श्रेयसाधक को अधिक कठिनाई नहीं पड़ती । इसका मूल कारण तो यह है कि ऐसे चेतनात्मक शब्द में जब जीवंत सहज अखंडता आती है, तब समग्र आधार में एक ऐसे प्रकार की — A distinct kind of awareness — एक विशिष्ट जीवंत सहज सभानता आती है । इसके द्वारा उसे अपने ध्येय के प्रति विवेक इतना अधिक सजीव हो जाता है कि वह सत्-असत् का सही निर्णय कर सकता है । इतना ही नहीं, परन्तु ध्येय के विरुद्ध का यदि जो जो कुछ हो, उससे अलग होते उसे देर नहीं लगती । उस समय उसका विवेक यह तो पूरी तरह ध्येय के प्रति दृष्टि, वृत्ति और भाववाला जीवंत, गतिशील, क्रियाशील अखंडरूप से सभानतायुक्त सदा ही चेतनामय हरपल का सहज जाग्रत रहा करता है । ऐसा जीवंत, सहज, क्रियाशील, गतिशील और सर्जनशील विवेक आने पर श्रेयसाधक की दृष्टि, वृत्ति और भाव निरन्तर सहज रूप से सदा हरपल ध्येय के प्रति ही विशेष बरतते प्रकट होते जाते हैं ।

मंत्रशब्द में ऐसी जीवंत सहज सभानता जाग्रत होते, उसमें से एक ऐसे प्रकार की भावप्रेरक संनिष्ठा का उन्मेष होता है कि ऐसी सहज, जीवंत संनिष्ठा से अनंतगुना गुण और शक्ति आती रहती है । तब गुण को विकसित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । उपरोक्त संनिष्ठा का गुण और शक्ति परिणाम होता है ।

श्रेयसाधक के आधार में ऐसी संनिष्ठा जब तक नहीं आ पाती, तब तक वैसे साधक को गुण और शक्ति विकसित करने की भी उतनी ही आवश्यकता होती है ।

प्रभु का स्मरण होता रहे, परन्तु यदि रागद्वेषादिक मंद न हो रहे हो, तो ऐसे स्मरण का कोई अर्थ नहीं यह भी उतना ही सच है । सामान्य **जीव** अखंड, जीवंत, निरन्तर रूप से प्रभुस्मरण में लगा रहे ऐसा हो पाना संभव नहीं है । यह तो जिस **जीव** को Volcanic Aspiration जागते हैं, ऐसी कि ज्वालामुखी के समान ध्येय के प्रति उत्कट तमन्ना जागती है, वैसे **जीव** ही शब्द की निरन्तरता में तन्मय रह पाते हैं और ऐसे **जीव** तो अत्यंत लघुतम सर्जक लघुमति (Microscopic Creative Minority) में ही होते हैं । यों सामान्य **जीव** के लिए तो नामस्मरण या जप उसके जीवनविकास के लिए उत्तम से उत्तम, सरल, निर्दोष, निर्मल, साधन होने पर भी ऐसे जप के साथ-साथ उसे उसमें चेतनप्राण आ सके इसके लिए रागद्वेषादिक मंद करने हेतु प्रयत्नशील रहना ही होगा । और ऐसा करने पर ही जप में गति आ पाएगी ।

किसी भी विषय का हार्द पकड़ना हो तो उसमें संपूर्ण रूप से न्योछावर होना पड़ता है । संपूर्णरूप से, संपूर्ण भाव से उसके समर्पणभाव में लीन हुए बिना उसका हार्द प्राप्त करना कभी संभव नहीं हो पाता ।

जीवन किसके लिए, जीवन का मूलभूत हेतु क्या है—ऐसे आंतरिक प्रश्न जिसके हृदय में जब तक प्रत्यक्ष रूप में न जागे हो, ऐसे **जीवों** को जप में चेतनप्राण पैदा होने की संभावना बहुत कम रहती है ।

शब्द में जब चेतनप्राण और भावप्रेरक जीवंतता सहज संनिष्ठा के साथ आ जाती है, तब उसके करण—मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् विशेष से विशेष तेजस्वी और सूक्ष्म होते जाते हैं । उन-उनके विहार के प्रदेश ध्येय की ओर ले जानेवाला कोई निराला ही होता है । ऐसी संनिष्ठा से जो चेतनप्रेरक शक्ति पैदा होती है, वैसी शक्ति द्वारा फिर तो श्रेयसाधक देवासुर संग्राम को तलवार की धार द्वारा संपूर्ण सभानता

और पौरुष से खेल सकता है । इसप्रकार का श्रेयसाधक बाद में तो संग्रामवीर बन जाता है । ऐसी भावना तो बाद में प्रचंड शक्ति बन जाती है । उसकी भावना जब आधार में प्रकट होती है, तब ऐसी जीवंत सहज भावना में से गुणशक्ति का तो उन्मेष होता ही रहता है, इतना ही नहीं, परन्तु कला, सौन्दर्य, व्यवस्थिति वगैरह वगैरह जैसे जीवन के aspects – स्वरूपों के प्रति भी उसकी सभानता बढ़ती जाती है और इसप्रकार वह सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् के प्रति की दिशा में स्वानुभव की भूमिका में आने लगता है ।

प्रभुस्मरण में या उस प्रकार के जप में जब सहज निरन्तरता और सतत सातत्य पैदा हो जाता है, उसके पश्चात् ही आधार के प्रत्येक करण में ऊर्ध्वीकरण की एक साहजिक सर्जक और क्रियाशील सतत जीवंत प्रक्रिया का प्रारंभ होता है ।

(A spontaneous, creative, dynamic and continuous process of sublimation begins.)

भावना पैदा होती है । इसके भी प्रत्यक्ष लक्षण हैं । यह परख भी सकते हैं । भावना प्रकट होते ही स्वयं की सूझ, प्रत्येक कर्म का विवेकभान आदि सभी उसमें आये बिना नहीं रह पाते । भावना यह तो सभी के प्रति प्रकाश डालनेवाली प्रत्येक के स्वरूप को पहचान करानेवाली और प्रत्येक के मर्म का दर्शन करानेवाली प्रचंड शक्ति होती है । ऐसी भावना का जो सत्कार, स्वीकार करता है, उसे ही वह प्रेम से सत्कार और स्वीकार करती है । ऐसी भावना तो श्रेयसाधक के ज्ञानचक्षु होते हैं । ऐसी जीवंत सहज भावना में ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय और सुमेल जन्मता जाता है । भावना जैसे भक्तिप्रेरक है वैसे वह ज्ञानप्रेरक भी है, जो कर्म से ज्ञान और भक्ति को वह साकार करवाती है ।

भावनायुक्त शब्द की साधना से हृदय की संपूर्ण एकाग्रता आती है । हृदय की संपूर्ण एकाग्रता आये बिना ध्येय का हार्द नहीं पकड़ा जा सकता है । एकाग्रता केन्द्रित होने से वस्तु के साथ का हृदयपूर्वक का तादात्म्य हो सकता है ।

जप की Technique (पद्धति और गुणमाप) **:** जप संक्षिप्त से संक्षिप्त होना चाहिए ।

जप में अघोष (hard) अक्षर नहीं होने चाहिए । जो जप बोलने में बहुत ही सरल हो वही उत्तम.

शब्द के तीन स्थान **:** नाभि, कंठ और ब्रह्मरंध्र । इन तीनों को स्पर्श करे और भेद डालें ऐसे अक्षर जिस जप के शब्द में हो वह श्रेष्ठ ।

श्वासोच्छ्वास के साथ अथवा नब्ज की धड़कन के साथ जपमंत्र बोलना चाहिए ।

जप के मंत्र में गंगा के प्रवाह जैसी सतत एकसमान जीवंत सहज निरंतरता आये, तभी अंत**:**करण और आंतरिक करणों को योग्य ध्येय हेतु दिशा देने में वह सही मददगार हो पाता है ।

जप में निरंतरता का आना अति आवश्यक है । उसके आते ही चेतनद्योतक भाव तो अंकुरित होगा ही ।

जप जितना ऊष्मा, संवेदना और भावपूर्वक लिया जाय उतना उत्तम ।

मानसिक जप उत्तम है, यह बात सत्य है । परन्तु प्रारंभ में सामान्यत**:** कोई भी **जीव** मन में तो जप नहीं कर सकता है, क्योंकि मन तो संकल्पविकल्प कर सकता है । द्वन्द्व और गुण की भूमिकावाले मन का कार्य (Functioning) तो संकल्पविकल्प का ही होता है, इसके बिना वह दूसरा नहीं कर सकता है । जब जप का सतत, दृढ़ अनुरागभरा जीवित चेतनमय अभ्यास होने लग जाय और उसमें एकसमान सहजता एवं निरंतरता आ जाए तभी मन में जप की धारणा आ पाती है ।

अनेक प्रकार के आघात प्रत्याघात के कारण हमारे शरीर में ज्ञानतंतुओं में कंपन पैदा होती है । ऐसे कंपन के प्रकार भी अलग-अलग होते हैं । अलग-अलग कंपन से शरीर में अलग-अलग संवेदना उद्‌भवित होती है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहम् आदि की उत्कटता से अमुक प्रकार के आवेग और आवेश पैदा होते हैं । उनके आघात प्रत्याघातों से ज्ञानतंतुओं में अलग-अलग प्रकार के कंपन पैदा होते

हैं । शरीर के आधार में एक प्रकार की समता ही सन्तुलित होती है । उसमें इसप्रकार के कंपन अव्यवस्था फैलाते हैं । अशांति-असमानता पैदा करते हैं और इससे ज्ञानतंतु की सरलतायुक्त व्यवस्थिति का भंग होने से ज्ञानतंतु की कार्यक्षमता और धारणाशक्ति घटती जाती है । समत्व टूट जाता है, संतुलन घटता है और इससे रोगादि होते हैं । जप या मंत्र लगातार निरन्तरतापूर्वक हृदय से लिया जा रहा हो तो ऐसे मंत्र की धारणा से ज्ञानतंतु प्राणवान (tone up) होते हैं । इससे ज्ञानतंतुओं में समता, शांति, संतुलितता आदि आते हैं । ज्ञानतंतु में ऐसी शांति, संतुलितता, और समता उत्पन्न होकर उसके शीर्ष तक पहुँचती हैं, तब शरीर के रोग भी वह निवारण करने की संभावना में पहुँच सकती है । इसलिए जप में गंगा के पुनीत प्रवाह के जैसी सतत एकसमान अटूट निरन्तरता का होना अति आवश्यक हकीकत है । **जब जप में ऐसी भावात्मक निरन्तरता आ जाती है, तब मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् के प्राकृतिक भाव एवं ध्येय को व्यवस्थित बनाने में वे प्रेरणात्मक और कार्यसाधक बनते हैं । मन के संकल्प-विकल्प घटने लगते हैं । चित्त में सात्त्विक प्रकार के संस्कार जन्म लेते हैं । प्राण की कामक्रोधादिक विषयों की स्फुरणा में अपने आप अत्यधिक मंदता आये ऐसी स्वाभाविक भूमिका बन जाती है । बुद्धि में समत्व पैदा हो उसकी धारणा उसे अखंडरूप बनी रहती है, और *अहम्* जो पहले जीवदशा में द्वन्द्वादिक एवं गुणादिक विषयों में रुका रहा करता है, वह अब उसमें से अटककर चेतन के प्रति ज्ञानप्रेरक अभ्यास में गतिशील रहने के लिए प्रेरित रहने लगता है ।**

जप में श्रद्धा आवश्यक है सही, परन्तु यों तो प्रत्येक जो कुछ भी साकार करना हो, उस विषय के कर्म को परिपूर्णरूप से सिद्ध करने के लिए उस कर्म के प्रति श्रद्धा अनिवार्य है, वैसी श्रद्धा के बिना ऐसा हो भी नहीं सकता । ('जीवनस्मरण', आ. १, पृ. १६ से २२)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१३. सत्संग और चरणमहिमा

मन में कोई वृत्ति उठते ही स्थगित-static स्थितिचुस्त नहीं रह सकती । तो सद्‌भाव या सद्‌वस्तु के प्रति की वृत्ति या भावना स्थगित कैसे रह सकती है ? पर दोनों प्रकार की वृत्ति में अंतर रहता है । एक तो है प्रकृति से जन्मी वृत्ति, दूसरी वृत्ति भी यदि मात्र वैसी ही हो और गुणात्मक भूमिका पर से होती रहे और वह भी मात्र एक वृत्ति की नजर से, तो उसमें से **जीव** को तात्कालिक तत्त्वलाभ कभी नहीं होगा । सत्संग आदि भावना से क्रियात्मक शक्ति का प्रवाह न जन्म ले सके तो मानव को सोचना पड़ेगा । उसके चिंतन का प्रवाह निरन्तर चलते रहना चाहिए । जिस मार्ग में जाना है, उस मार्ग पर उसका दृढ़, निश्चयात्मक भाव एकाग्ररूप से केन्द्रित हुआ नहीं है, यही उसका अर्थ निकलता है । फिर, इससे ऐसा भी लगता है कि उस जीव का ध्येय भले प्रभुभाव के प्रति लगे, परन्तु उस ध्येय पर जीवन का बुनियादपूर्वक, स्थिरतापूर्वक भाव अभी नहीं हुआ है । बिलकुल छिछली बुद्धि द्वारा ही सत्संग की प्रवृत्ति में रुचि लेता रहता है । इतना भी रस यह **जीव** लेता है, इसका कारण तो उसके अंतर का सूक्ष्म अनुराग यह सत्संग की प्रवृत्ति की ओर रहा है यह है । पर सूक्ष्म अनुराग को जीवन में, जीवन के सर्व क्षेत्र में, सर्वव्यापी-सर्वभक्षी चेतनात्मक स्वरूप में बनाने की कला हस्तगत करने का सद्‌भाग्य तो जिसे सच में जीवन की धधकती भूख लगती है ऐसे ही पा सकते हैं ।

जीवन का चिंतन किये बिना अथवा तो निरन्तर रूप से किसी तरह चलाये बिना मानवी का मन पिघल नहीं सकता है । सद्‌भाव की भूमिका होनी यह एक वस्तु है और उसे जीवन के परिणाम या परिपाक में काम करवाने—अनुभव होती देखना यह दूसरी बात है । ऐसे सद्‌भाव की भूमिका मिलने पर भी जो जीव हिलता नहीं है, वह प्राप्त पूँजी होने पर भी भिखारी की दशा में पड़े रहने जैसा करता है ।

यदि ऐसा सचमुच हो तो ऐसे **जीव** को क्या करना चाहिए ऐसा प्रश्न सहज ही उठता है । ऐसे **जीव** को भावना का जोर करके, बुद्धि का उपयोग करके, जीवन के सर्व प्रसंगों में, संबंधो में, व्यवहार में,

प्रभुभाव की धारणा जीवित रखने या रहा करे इस तरह व्यवहार करने के लिए भगीरथ प्रयत्न करना चाहिए। किसी-किसी जगह पानी नजदिक में होने पर भी उसके ऊपर का स्तर इतना तो कठोर पत्थरवाला होता है कि सुरंग फोड़ने पर भी नहीं टूटता। जिसे सद्वस्तु के प्रति भावनायुक्त समझ है, जिसने संत जीवात्माओं का सत्संग किया है, उस **जीव** को पड़े हुए देखकर दिल में दुःख का कंपन होता है ।

तो क्या जो सत्संग की भावना युगयुग से समाज में चली आ रही है और आज भी जो भावना मरी नहीं है, यह भावना सही या गलत ? यदि सच गिने तो दोष हमारा या सत्संग का ? यदि सत्संग का दोष गिने तो ऐसे संत जीवात्मा की अभी की दशा हमें सूचित करेगी कि वे अपनी दशा में मस्त जैसे हैं और आत्मदशा के प्रत्यक्ष लक्षण उनके जीवन में या उनके परिचय में आये हुओं को प्रत्यक्ष अनुभव से समझ आये ऐसे होते हैं। यदि वैसा उनके विषय में हमें लगे तो फिर हमारी सद्भावना उनके विषय में पूरी होने पर भी हमारी वह भावना भगवान की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाहरूप क्यों नहीं हो सकी यह प्रश्न भी उठेगा ही । जिस तरह चाँदी पर सोने का पानी चढ़ता है, पर उपयोग में आते ही मुल्लमा निकल जाता है, उसी तरह सत्संग का प्रभाव होता है, पर दुबारा मानवी संसार में पड़कर उसका सेवन-चिंतन भावना स्वरूप में रख नहीं पाता है। परिणामस्वरूप आया या चढ़ा भाव का स्पर्श बिलकुल फीका हो जाता है और वह मानवी स्वयं खाली का खाली जैसा ही रह गया हो ऐसा उसे लगता है ।

तो क्या सत्संग का स्पर्श भी फीका हो जाता है ? क्या वह भी ठोस वस्तु नहीं है ? ऐसे प्रश्न भी उठेंगे। उत्तर यह है कि सत्संग के स्पर्श के संस्कार मानवी के अंतर में पड़ना यह एक बात है और वह स्पर्श उसके अभी के जीवन में काम करता हो जाय यह दूसरी बात है, और वह ऐसे काम करता किस तरह हो जाय यह फिर अलग ही बात है ।

संत्सर्ग का स्पर्श (अर्थात् 'उसकी वर्तमान जीवन में परिवर्तनकारी

असर') यह कोई एक ओर के बल का परिणाम नहीं है । उसका मेल तो सद्‌भाव से **जीव** को भी अपनी तरफ से करना होगा । जीवन के दूसरे सभी क्षेत्रों से सत्संग के स्पर्श की कीमत हजारगुना ऐसे मानवी के मन से आँकी हुई होनी चाहिए । जीवन के सर्व प्रसंग-व्यवहार-संबंध में उसका मन सद्‌भाव को ही महत्त्व दिया करे इसतरह व्यवहार करता हुआ हो जाना चाहिए ।

उसे जहाँ-तहाँ युद्ध आया ही करेगा । जैसे-जैसे भावना की अखंडता आती जाएगी, वैसे-वैसे उस युद्ध की वैसी अनेक परंपराएँ और हारमालाएँ उसके जीवन में अखंड धारावत् प्रत्यक्ष अनुभव होगे, इतना ही नहीं, पर उसमें कूदे बिना वह रह नहीं पायेगा । यह तो उसके जीवन का एक लक्ष्य बन गया होगा । उसका मानस संसारी घटनाओं को संसारी की तरह सोचते हुए ही रुक जायेगा । उसके उस सत्संग के स्पर्श का भाव और प्रकार ऐसे कोई ओर ही है कि जमीन पर है ऐसा लगने पर भी संसार के संबंधों में, वर्तन में, व्यवहार में, विचारवृत्ति में—सभी में कोई एक चेतनायुक्त शृंखला जुड़ी हुई अनुभव होगी ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ५८ से ६२)

श्रीगुरुचरणमहिमा :

श्रीगुरुचरण श्रीभगवान के चरणकमल की महिमा भक्ति में अनेकगुनी गायी गई है । **चरण अर्थात् गति प्रेरक करनेवाले गतिप्रेरक । साधक को ध्येय के मार्ग पर ले जानेवाला ।** चरण में स्थितिस्थापकता भी है, गति भी है और ऊर्ध्वता भी है, इससे इसमें तीन गुणों का समावेश भी होता है और उससे वह पर भी है ।

चरण जिसे-तिसे स्पर्श करता है । फिर, वह उस पर टिकता होने पर भी उस-उसमें ही वह जड़कर नहीं रहता । जिसे-जिसे स्पर्श करे वह उसे पहचान ले, पर वे उसके मय हो नहीं जाते—उसे पार करते हैं, उसके ऊपर वे रहते हैं । जिस पर होकर वे जाय उसके गुणदोष को पहचानेगे सही, पर वे मन में कभी संग्रह करके रखते नहीं है ।

चरण पर ही जो तो सभी खड़े रह सकते हैं । चरण से ही जहाँ-

जहाँ जाना हो वहाँ जा सकते हैं। चरण ही शरीर का आधाररूप है, तथापि उसकी कोई भी गिनती न हो वैसा वह व्याप्त है। यह एक महत्त्वपूर्ण अंग होने पर भी कुछ भी महत्त्व का मानो न हो ऐसा लगता है। चरण की भावना में ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता रही हुई है। ऐसा हम से हो इसके लिए प्रतीक-symbol-रूप आध्यात्मिक मार्ग में उसकी पूजा का स्थान है, पर वह जड़रूप में नहीं। वह नीचे में नीचा होने पर भी हमें वह ही टट्टार रखवाकर रख सकता है। वह यदि कमजोर हो तो शरीर कमजोर ही पड़ेगा। जिसके चरण स्वस्थ हो वह भी वैसा ही होगा। चरण के साथ ही जो तो सभी जुड़ा हुआ है। चरण की महिमा जिसे स्थूल अर्थ में समझ आयेगी वह तो चरण को उसकी योग्यता में यदि रखे तो पूरे शरीर को मानवी उसकी योग्यता में रख ही सकता है। चरण का ज्ञानभाव तो दासानुदास है। भक्तिभाव तो स्वयं निम्न में निम्न रहकर भी टट्टार रह सकता है, वैसी ज्ञानदशा में प्रकटने के लिए की उसकी ऐसी धारणा है। चरण बिना दूसरा कोई आधार नहीं है। वैसे हम में भी रज की रज हुए बिना जीवन का योग्य होनापन उपजेगा ही नहीं। चरण से ही शरीर की सार्थकता है। चरण स्वयं शरीर को हवा में लटकता रखता है। इससे ऐसी ज्ञानभक्तिपूर्वक की हृदय की नम्रता लाये बिना जीवनविकास दुर्लभ है। चरण की महिमा यानी जीवनविकास के लिए की एक प्राथमिक आवश्यकता—मुख्य और महत्त्वपूर्ण अंग रूप शर्त, नम्रता विकसित करने का वह प्रत्यक्ष प्रतीक है। चरण में ही जो तो समाया हुआ है। चरण के नीचे की चमड़ी बहुत ही खुरदरी-जाड़ी होने पर भी, उसमें जो सूक्ष्मता रही है वैसा शरीर के दूसरे भागों में नहीं है। रात को अंधेरे में चलने पर यदि पैरों तले कोमल-कोमल कुछ आये तो पैरों को एकदम पता चल जाता है, पैरों तले कुछ दबने पर भी उसे कुचलते नहीं है। जीवन में ऐसा ज्ञानभक्तिभाव से भी व्यवहार करने की आवश्यकता रहा ही करती है। चरण में खुरदरापन होने पर भी उसके सूक्ष्म भाव में अंतर नहीं पड़ सकता है। वह स्वयं जड़ जैसा होने पर भी उसके चेतनपन में अंतर नहीं आता। चरण चलते

हैं, तब उसे कुछ न कुछ तो दबाना ही पड़ता है । वह चलता है, तब रास्ता काटता ही रहता है और जीवनसाधना में भी यही हुआ करता है । चरण की रज की भी रज हुए बिना कोई **जीव** का ज्ञानमार्ग में उद्धार नहीं, ऐसा जो कहा है, इसका अर्थ सरल और आसान है । संपूर्ण निरभिमानी और ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता की अंतिम से अंतिम हद तक **जीव** से पहुँचे बिना उसकी ऊच्च गति होनी कभी संभव नहीं । इसके अलावा सच्चे अर्थ में हम कुछ भी नहीं हैं । वैसे ही हम से कुछ हो नहीं सकता, जो-तो कर्ता-करवाते चेतन ही है । जो कुछ होता बनता हुआ दिखता है, वह सभी चेतन द्वारा ही हुआ करता है । उस चेतन को व्यक्त होने की भूमिका मानवी में से गुणभाव का अहम् नष्ट नहीं होता वहाँ तक पक्व नहीं हो सकती । इसलिए मानवी सही रूप में परम मंगलमय चैतन्य की रज की भी रज नहीं है ।

शरीर की रचना में आधा भाग तो चरण रोक लेता है । उस तरह देखने पर चरण का महत्त्व शरीर में जैसा है वैसा, चरण एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में चरण ही मानवी का योग्य साधन है । मानवी का मन ऐसा न हो वहाँ तक ऊर्ध्वगति संभव नहीं है । मन को बोध करवाने और स्वयं कैसे साधन से और किस तरह होकर ऊर्ध्व भूमिका के योग्य बनना है, उसका उदाहरण लेने के लिए यह उसके लिए उत्तम उदाहरण है ।

संतमहात्मा-उच्चात्मा की चरणरज सिर पर चढ़ाने से मानवी पावन होता है, ऐसी मान्यता समाज में प्रचलित है, परंतु इसतरह चरणरज सिर चढ़ाने से ही कोई *जीव* का कुछ होता नहीं है । झुकना अर्थात् जिसे नमन किया जाता है, उसमें से ग्रहण करने लायक जो कुछ उत्तम हो, वह ग्रहण या स्वीकार करने की हृदय की उत्कट भावना से झुककर वह लेने जाने का भाव रखना वह । झुकना यह अपने जीवनविकास के लिए है । स्थूल झुकने में कोई लाभ नहीं, बल्कि दंभ बढ़ने की पूरी संभावना रहती है । जिस कार्य के लिए हृदय की जीतीजागती, जागृतिपूर्वक की चेतना नहीं है, वह कार्य मानवीजीवन को कभी ऊर्ध्व जीवन में नहीं ले जा सकता । जिस

गति में से हमारे जीवन में जीवंत श्रद्धा जन्मे, और जिस गति से हृदय में भक्ति की प्रेरणा जागे और सचराचर में व्याप्त हुए चैतन्य को अंतर के उत्साह से प्रणाम करने की सहज भावना जागे और ऐसा जहाँ-जहाँ और जब-जब हो, वहाँ-वहाँ 'मेरे श्रीगुरु के चरण हैं'—ऐसा अनुभव करें। **श्रीगुरु अर्थात् शरीर नहीं, वैसे उसकी तेजस्वी प्रभा भी नहीं, परन्तु उनके जीवन की अलौकिक, दिव्य, रम्य और भव्य शक्ति और उनके जीवन द्वारा गतिमान हो रहा क्रियावान हो रहा हुआ व्यक्त जीवंत दैवत। संतमहात्माओं के पैरों पड़ने से कुछ नहीं होगा। जो कर्म होते पल में साधना का जिसमें जीवंत ज्ञान नहीं है, ऐसा कर्म यह कर्म नहीं है, परन्तु उलटा बोझरूप है। अंधानुकरण करने से भी कुछ नहीं मिलता। किसी भी महान आत्मा की जगत की प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर भी *जीव* का उद्धार नहीं, परन्तु उन साधु, संत, महात्माओं में जो प्रचंड चमचमाती चेतना जाग रही है और उनमें अथवा उनके द्वारा जो कुछ नया सर्जन करने उनमें रहा तत्त्व चाहता है, उस तत्त्व के भाव को साधक यदि ज्ञानभक्तिपूर्वक की धारणा से हृदय से सत्कार करे, इतना ही नहीं, परन्तु उसे काम लगाने की कला सीखे तो ही हमें कोई सत्य तत्त्व मिलनेवाला है।** संत-साधु-महात्माओं के चरणकमल की महिमा अनेक ज्ञानी संतभक्तों ने गायी है, परन्तु उसका ज्ञानभक्तिपूर्वक का जीवित ख्याल आज समाज में नहीं है। समाज आज चरण में पड़ता है सही, परन्तु उसकी उस आदत में कहीं जीवितपन नहीं। यह तो खाली अज्ञानता भरी जड़ता है। ऐसी आदत से उद्धार होना तो कहाँ रहा पर पतन ही होगा। संसारव्यवहार के कर्म में भी अक्ल बिना का मानवी उस-उस कर्म का कुछ ख्याल रखता होता है। यदि वह सच हो तो साधना के मार्ग में कर्म में रखने का जीवंत हेतु कितना अधिक प्राणवान होना चाहिए, यह समझ सके ऐसा है। साधना में से मानवी की दृष्टिशक्ति विकसित होनी चाहिए, तब ही प्रत्येक कर्म में और प्रत्येक कर्म से जीवन की गति होने का पूरा संभव रहता है।

चरण की सेवा या भक्ति यह तो जीवन में जीवन को गति में लाने

के लिए है । संत, साधु, महात्मा तो सदा चलते ही रहते हैं । वे कभी भी स्थिर या सलामत स्थिति में नहीं होते । इसलिए वे एक रूप से गतिमान चरणरूप ही हैं और वे 'सर्वभूतहितरत' हैं, ऐसा उनका सहज स्वभाव है । इसमें उन्हें कुछ विचारने का नहीं रहता । ऐसे जीवित चरण का आदर्श साधक के ख्याल में रहे इसके लिए गुरुचरण की महिमा गायी होगी ऐसा मैं मानता हूँ । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १० से १५)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१४. प्रार्थना

प्रार्थना यह तो जीवन का प्रत्यक्ष सहारा है । जीवन के योग्य बल, प्रेरणा, सहानुभूति, धीरज, हिंमत ऐसा सभी प्रार्थना से मिल जाता है— यदि प्रार्थना की कला साधक को प्राप्त हुई हो तो । जैसे शरीर साफ रखने के लिए नियमित नाहना है, वैसे अंतःकरण को स्वच्छ और शुद्ध रखने के लिए प्रार्थना है, परन्तु वह स्वयं मनोभाव और भावना से होनी चाहिए । प्रार्थना जीवन को तेजस्वी बनाती है । प्रार्थना यह कोई निर्बल भावना की अभिव्यक्ति नहीं है, परन्तु भावनाओं को योग्य प्रकार का आकार देने का एक उत्तम साधन है । प्रार्थना के निरन्तर आर्द्रताभरे अभ्यास से कर्मों के दोष कम होते जाते हैं । इससे जीवन में सद्‌विचारों की प्रेरणा भी मिलती है ।

किसी की सेवा करनी, सद्‌व्यवहार करना, सत्कर्म करना, सदाचारी और परोपकारी रहना और होना यह सभी प्रार्थना की ही एक प्रकार की रीति है, परन्तु हमारे मार्ग में सबसे अधिक गहरी असर करे ऐसी प्रार्थना तो ईश्वर का ध्यान, मनन, चिंतन है । प्रार्थना के अभ्यास से मनादिकरणों में शुद्धि प्राप्त होती है । जीवनविकास में प्रार्थना को महत्त्व दिया जाता है । प्रार्थना की भी हमें गरज लगी होनी चाहिए । इसके बिना उसमें सच्चा भाव नहीं आ पाता । पुरुषार्थ द्वारा होने में बहुत समय लगेगा और कभी तो असंभव जैसा लगता है, तब भी प्रार्थना के बल से वैसा- वैसा होते हुए बहुतों ने अनुभव किया है ।

('जीवनप्रवेश', आ. २, पृ. २७१-२७२)

● ● ●

प्रार्थना जैसा चेतनात्मक और बलवान दूसरा कोई साधन नहीं है । हृदय में हृदय के सच्चे भाव से आर्तनाद और आर्द्रभाव से जो **जीव** उसका आश्रय लेता है, उसे वैसी प्रार्थना कभी निराश नहीं करती । ऐसी है प्रार्थना की अंतरतम शक्ति, परन्तु **जीव** की कैसी परम लाचारी है कि उसे प्रार्थना की शरण लेना कभी सूझता नहीं ! कोई **जीव** करता है तो वह कैसी निर्बल प्राणविहीन । जब कोई सच्ची गरज जगे, कोई गहरा दर्द हो, अत्यधिक सालने लगे, तब जो प्रार्थना होती है यानी कि जो प्रार्थना के भाव में अंतर का दर्द व्यक्त होता है, वैसी उस समय की प्रार्थना का भाव ही कुछ ओर होता है । प्रार्थना तो सारे काम करते-करते की जा सकती है । यह कितना सरल, सहज और उत्तम साधन है । ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ७१-७२)

● ● ●

बालक को देखें, उसके जैसी निर्दोषता जीवन में लाएँ, कोई प्रेमी सचमुच हृदय के प्रेमभाववाला देखें तो उनके जैसा निर्दोष प्रेम प्रभु के प्रति हमारे जीवन में आए, किसी सचमुच कार्यरत ऐसे जीव को देखें तो उन जैसी आदत हमारे ध्येय के प्रति हम में आए, किसी साधुपुरुष को देखकर उनके जैसी साधना करने की तीव्र तत्परतावाली भावना और शक्ति तथा वैसा ओज हममें प्रभुकृपा से आये, कोई निर्मल भाववाली बहन या माँ देखें उनकी जैसी निर्मलता हम में आये, कोई नैसर्गिक सुंदर दृश्य देखते ही उसके जैसा प्रभु का आविर्भाव हम में उद्‌भव हो, वेगशील नदी को देखकर उसके जैसे उत्साह और उन्माद से अविरतरूप जोश की तरह अपने ध्येय के प्रति बढ़ें वैसा हमारे जीवन में हो, ऐसे हमारे जीवन में प्राप्त अनेक प्रसंगों और दृश्यों में ऐसे भाव जाग्रति रखकर, प्रकट करके हृदय में बढ़ाएँ, ध्येय के उद्देश्य को पूरा करने के लिए उस प्रकार की हृदय से प्रार्थना करनी है, यह भी एक बहुत बड़ा साधन है । ('जीवनसंशोधन.', आ. १, पृ. २८७)

प्रार्थनाभाव से प्रवृत्तियाँ :

(अनुष्टुप)

अन्न या स्थूल ऐसा जो आये वह सब उपयोग,
चेतना-शक्ति प्रेरित प्राप्त मानकर ग्राह्य करो ।

('जीवनपगले', आ. १, पृ. १७)

अन्न से तो टिके प्राण चेतना सही अन्न में,
शक्ति उत्पन्न करने जीवन में ठानना पड़े ।
पानी पिघलाने हेतु है हमारी वक्रता,
पानी को लेते समय धारणा ऐसी स्मरण रखें ।
दुर्वृत्तिरूप त्याग ही मल द्वारा जाता दिखे,
होने दूर वैसा सब प्रार्थना हो हृदय से उस समय ।
सोते समय सो जाता, रहा स्थूल हमारे में,
'जागते सोते रहे' करो प्रार्थना ऐसी हृदय में ।
प्रार्थनाभाव दिल में दृढ़ करके सभी कर्म करें,
बिना भाव से हो काम, सभी बेकार ही गिने ।
प्रार्थना दिव्य शक्ति की शुद्ध आधार सभी होने,
मानों धारणा **उस**की वह सभी किया करें ।

('कर्मगाथा', आ. १, पृ. ११८)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१५. गुरु

किसी भी विषय या कार्यक्षेत्र में कोई अच्छा और सहृदयी होशियार सिखानेवाला प्रत्यक्षरूप से मिल जाय तो उस विषय में या कार्यक्षेत्र में कुशलता प्राप्तकर सीखनेवाले को बहुत सरलता होती है । संसार में जहाँ-जहाँ नजर डालेंगे, वहाँ-वहाँ पता चलेगा कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी सिखानेवाले के पास से जो चाहिए वह सीख लेता है । अनजाने पर्वत पर चढ़ना हो तो हम भटक न जाँय, संकटों से उबर सके इसलिए मार्गदर्शक को साथ ले जाते हैं । वैसा ही

अध्यात्ममार्ग में है ।

जिसे प्रभु के मार्ग पर मुड़ना है, अंतर्मुख होना है, भगवान की शरण में रहना है अथवा ऊर्ध्वगामी जीवन अपने में उद्‌भवित करना है, उसे ऐसे किसी के साथ संपर्क करना आवश्यक है । उसके संपर्क और संबंध के कारण स्वयं में ऊर्ध्वगामी प्रवाह टकरायें और जन्म लें ऐसी व्यक्ति-विभूति निरासक्त, अहंरहित, द्वंद्वातीत, त्रिगुणातीत और भगवान की भावना में सदा रत होने से साधारण मानवी में जो रागात्मक प्रवाह पड़े हैं, इससे उच्चकोटि के प्रवाह उस **जीव** में टकरायेंगे । यद्यपि साधक को प्रारंभ में इसका पता नहीं चलता, परन्तु आगे की कक्षाओं में पता चल सकता है—और एक प्रकार का संघर्षण होकर मंथन होगा—इसप्रकार, आमनेसामने रागात्मक और अरागात्मक प्रवाह जागता होने से जीव की चेतनाशक्ति में जरूर अंतर पड़ने लगेगा । जब हमारे दूसरे संबंध पार्थिव होने से ऐसे संबंध हमें पार्थिवता से ऊपर नहीं ले जा सकते । गुरु की प्रथा इस कारण से होगी ।

केवल संपर्क या अकेले संबंध से हमें सामनेवाले व्यक्ति का चिंतवन नहीं होता, पर उसमें जब राग या आसक्ति आती है, तब उसका चिंतवन हुआ करता है—और राग जितना अधिक उतना चिंतवन अधिक—वैसे ही ऐसे गुरु के प्रति भी यह खूब प्रेम होता जाएगा तो उसका चिंतवन भी जरूर सविशेष होगा । गुरु के प्रति प्रेम का उद्देश्य हमारी चेतना को जगाने, जगाकर क्रियात्मक बनाने और ऐसा होते-होते हमारा संपूर्ण दिव्य रूपान्तर होगा । इस संबंध के उद्देश्य में संपूर्ण ज्ञान और भान होने के अलावा गुरु के प्रति हमारा भाव Receptive and Responsive - ग्रहणात्मक और क्रियात्मक सहकारात्मक होना चाहिए । सही आतुरताभरे भाव, वृत्ति और दृष्टि हम में केन्द्रित, एकाग्र और हृदय से रहनी चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ४४, ४५, १०४)

(अनुष्टुप)

गुरु न देहधारी है, गुरु तो सूक्ष्म भाव है,
गुरु आधार भूमिका पाने को गूढ़ तत्त्व को ।

('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ५)

प्रत्येक प्रसंग में जिस सद्‌गुरु की समझ बनी रहती है और व्यवहार आचरण के प्रसंग में वह दूसरों को मार्गदर्शन देता है, यह सही तथा उनका कर्मकौशल, सूक्ष्म विवेक, उसकी जिस-तिस में से तारतम्य खोज लेने की कला, थोड़े से परिचय में आते ही किसी की प्रकृति की योग्य समझ आ जाती है, प्रसंग को उसकी यथार्थता में समझने की उसकी सूझ, सभी प्राप्त जीवों को समझने और उन-उनके यथार्थपन में स्वीकारने की शक्ति, अलग-अलग प्रकृति और स्वभाव के जीवों के साथ उनके वर्तनप्रकार का सुमेलभाव और वैसे-वैसे जीवों के साथ उनकी सुमेलभाव की वर्तनकला, वृत्ति, विचार, भावना आदि का सूक्ष्म से सूक्ष्म समतापूर्वक का निरीक्षण, अवलोकन, पृथक्करण कर करके, उनका यथास्थान पर क्या क्या यथायोग्यरूप हो सकता है, उनका स्पष्ट यथार्थ वर्णन कर बताना, प्रत्येक मनादिकरण के प्राकृतिक धर्म तथा गुणों के खेल अमुक-अमुक कक्षा में कैसे-कैसे और किस तरह हो सकते हैं, उनका योग्य आकलन करके उन्हें हम समझा सकते हैं, उनके जीवन के दूसरे लाक्षणिक तरीके, इससे अनेक प्रकार के अलग-अलग होते रहते अनुभव, ऐसों के संबंध-संपर्क के परिचय से कमज्यादा मात्रा में कुछ-कुछ बदलती रहतीं प्रकृति के उदाहरण, उनका निरहंकारीपन, निर्मलत्वपन, उनकी अपार निःस्पृहता और साथ-साथ अपरंपार स्पृहा, उनका राग और राग का अभावपन, अपनेआप जो कुछ बना करे, वही कर्म ऐसी उनकी समझ और वर्तन, कर्म या संबंध को खोजने की जरा भी वृत्ति का बिलकुल अभाव, जिसके द्वारा हमारे जीवन में धीरज, हिंमत, सहनशीलता, मतसहिष्णुता, प्रेम, सभी के प्रति सद्‌भाव और समभाव आदि प्रगट हुए अनुभव कर सकते हैं, जिसके द्वारा अचानक, अनदेखी कोई किसी के विषय में प्रेरणा मिला करती है, जिसके द्वारा हमारा सारा जीवन ऊर्ध्वगामी होने लगता है, जिसके द्वारा हमारे शारीरिक दर्दों के साथ उनकी तादात्म्यता उसके शरीर पर अनेक बार प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा मालूम हुई और जिन्होंने हमारे दुःखों में सहभागी बनकर हमें सरल और हल्का कर दिया है, आदि आदि सभी

के द्वारा सद्गुरु की यथायोग्यता समझ सके ऐसा होता है । ऐसा यदि सभी उनका हमें बिलकुल वास्तविक लगता हो तो फिर ऐसों का हमें स्वीकार करना यह यथायोग्यरूप है, ऐसा मानें और जानें ।

('जीवनपोकार', आ. २, पृ. २१३ से २१६)

व्यायाम शिक्षक का कार्यक्षेत्र शरीरविकास है । शिक्षक का कार्यक्षेत्र मनोविकास या बुद्धिविकास है, वैसे गुरु का कार्यक्षेत्र मानवस्वभाव का दिव्य रूपान्तर करना है, शीलविकास का कार्य भाग्य से ही शिक्षक के कार्यक्षेत्र में आ पाता है । मानसिक विकास थोड़ा बहुत शिक्षक करवा सकते हैं, आध्यात्मिक विकास होता हो तो बहुत ही कम और अप्रत्यक्ष रूप से । इसप्रकार, जहाँ शिक्षक का कार्य समाप्त होता है, वहाँ से सद्गुरु के कार्य का प्रारंभ होता है ।

भावनाएँ, प्रेरणाएँ, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, संस्कार, सुषुप्त मानस आदि में जो-जो बुरी आदतें गले में चक्की के पाट की तरह लटकती रहा करके साधक के आत्मिक विकास को रोकती हैं, वे सभी दूर कर अथवा शुद्ध कर, आत्मस्थिति में लाने में साधक की प्रथा और श्रीसद्गुरु सहायता करते हैं । **गुरु का कार्य मात्र बोध देना नहीं, परन्तु साधक की सुषुप्त शक्तिओं को प्रकट करके जाग्रत करने में मददरूप होना है ।**

ऐसे अति सूक्ष्म कार्य के लिए प्राकृतिक रूप से साधन भी सूक्ष्म होते हैं । यह साधन इतना तो सूक्ष्म होता है कि साधक को शुरू में तो पता भी नहीं चलता है कि स्वयं गुरु के प्रभाव से परिवर्तित हो रहा है । इस विद्या में वाणी बिलकुल वर्ज्य नहीं है, परन्तु सूक्ष्म संबंध से उपदेशात्मक वाणी कम असरकारक होती है और इससे उसका उपयोग भी कम किया जाता है । ऐसे ही किसी कारण से सद्गुरु और संत अनेकबार निष्क्रिय अथवा बिलकुल स्थगित जैसे दीखते हैं और वे केवल जगत के आंदोलनों के प्रति ही नहीं पर जिन्होंने उनको मार्गदर्शन के लिए स्वीकार्य किया हो उनके प्रति भी, सचमुच तो जगत या वे साधक जाने या भले न जाने, तथापि वे तो सूक्ष्म और अदृश्य रूप से खूब ही प्रवृत्तिशील

रहा करते हैं । वे वाणी द्वारा उपदेश दें या न दें, साधकों को समीप रखें या दूर रखें, तो भी आध्यात्मिक शक्ति के आंदोलन साधकों के व्यक्तित्व में गहरे प्रवेशकर, उनका परिवर्तन करने लगते हैं। साधक की निद्रावस्था के समय जब उसके अंतरसत्त्व को पहुँचना अत्यधिक सुगम होता है, तब भी श्रीसद्‌गुरु ऐसे आंदोलनों का उपयोग अमुक बार करते हैं ।

साधक के आंतरमंथन तथा उसके समीप खड़े होते प्रश्नों का ज्ञान गुरु को होने से वे उन प्रश्नों का हल कभी-कभी बात में तीसरे व्यक्ति के साथ बात करते हुए दे देते हैं । साधक को इसकारण खूब जाग्रत रहने की आवश्यकता होती है, ऐसी सजगता का प्रशिक्षण भी मिलता रहता है। कितनी बार कड़वे अनुभवों द्वारा सीख देने की गुरु की अप्रत्यक्ष रूप से निर्दय पद्धति में सच्ची करुणा, डर और प्रेम समाया हुआ है, ऐसा साधक को भान होता है । जो अपने एकमात्र सच्चे और प्रेमपूर्ण हितकारी को वह भ्रमवश मन में दोष देता था, उसका भान होने पर वह फिर से गुरु के प्रति अधिक आकर्षित होता है । अब उसे सूझता है कि कठिन संयोगों में जानबूझकर उसे रखा गया, तभी उसके अंदर की दबी शक्ति उभरकर आयी और लाभ हुआ । गहरे पानी में धकेलनेवाले गुरु, हाथपैर मारकर किनारे पहुँचने के उसके प्रयास में गुप्त सहायता करनेवाले भी उसे गुरु है । कितनी ही बार सांसारिक कार्यों का लगभग असह्य बोझ डालकर गुरु उसकी प्रगति करता है अथवा पीछेहट करवाते लगे, परन्तु उसमें भी उसे कल्याणकारी परिणाम साधक अनुभव करता है । श्रद्धा की कठिन कसौटी हो ऐसे कार्य भी बतलाये जाते हैं । ऐसी सब प्रवृत्तिओं द्वारा सद्‌गुरु का उद्देश्य अपने साथ साधक की चेतना की शृंखला दृढ़ और अटूट होने लगे यह भी होता है । कितनी बार सूक्ष्म, द्विअर्थी या अनेक अर्थी वाणी का भी अवलंबन साधक की सूक्ष्मता, सजगता और विवेकशक्ति के विकास के लिए उपयोग में लिया जाता है ।

प्रारंभ में साधक को अनेक बार अनुभव होता है कि गुरु उसकी योग्य या अयोग्य ऐसी सभी अनेक इच्छाओं को पूरी करता है, और गुरु को इससे अनेक बार बहुत सहन करना भी पड़ता है । तो उसे वे अपना

प्रारब्ध भोगते हैं, ऐसा जानकर वैसा सब होने देते हैं । जब साधक को इसकी जानकारी होती है, तब उसका गुरु के प्रति प्रेम का फुहारा वेग से निकलता है । प्रारंभ में साधक को पता नहीं होता कि स्वयं किसी सूक्ष्म असर के परिणामस्वरूप गढ़ता जा रहा है । उस समय दुःखद लगते अनुभव भी उसे होंगे, परन्तु जो ऐसे विषम संयोगों को भी वह आनंदपूर्वक स्वीकार कर लेता है तो प्रगति शीघ्र होती है । कोई भी एक बार गुरु अपनी दिव्य चेतनाशक्ति का सहज परचा भी साधक को बतलाते हैं—जिसे साधक चमत्कार के रूप में गिनता है और उस साधन द्वारा भी साधक को अपने प्रति आकर्षण से प्रेरित करता है । कितनी ही बार आघात देकर भी उसके मन, बुद्धि को उत्तेजित कर सतेज करता हुआ अपनी ओर मोड़ता है । जैसे माँ अपने बालक को कोई भी एक बार हँसाती है, कोई भी एक बार बहलाती है तो कोई भी एक बार रुलाती है, और कोई भी एक बार उस पर गुस्सा भी करती है, वैसे गुरु भी साधक के साथ व्यवहार करता है । परन्तु अलबत्ता, माँ की तरह प्रकृतिवश होकर नहीं, किन्तु सभान—सज्ञानता—प्रकृति पर के स्वामित्व के साथ हेतुपूर्वक साधक की प्रगति जैसे-जैसे होती जाती है वैसे-वैसे उसे प्रतीति होती जाती है कि गुरु का मार्गदर्शन और व्यवहार किसी से भी पहले करे विचार से प्रेरित नहीं पर सहज और स्वतः स्फुर्त होता है और उनके एकएक कार्य, वाणी और हावभाव में गूढ़ हेतु समाया होता है । ऐसे किसी प्रकार का मत या सिद्धान्त नहीं होता कि गुरु का अपना निजी अगुआ हो । वह तो पलपल बदलती परिस्थिति और व्यक्ति को—साधक के—योग्य जिस प्रकार का तब लक्षण और व्यवहार होना चाहिए उसे तटस्थतापूर्वक रखता है । उनका आज का व्यवहार कल से बिलकुल भिन्न प्रकार का भी हो सकता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १६४ से १७३)

● ● ●

ज्ञान की कक्षा में आने से पहले उस स्थिति को प्राप्त करने के लिए अपने स्वयं के प्रति सख़्त और निष्ठुर सद्गुरु बना हुआ होता है,

वैसा ही निर्दय उस साधक के प्रति भी समय आने पर जरूर होता है । प्रत्येक साधक के साथ वापिस उसी अनुसार व्यवहार करेगा ऐसा भी नहीं । कौन से साधक की प्रकृति कैसी है और उसके अपने साथ का कर्म प्रारब्ध के संयोग कैसे हैं, उसकी उसे जानकारी होने से साधक के साथ योग्य समय में उस-उस साधक के कल्याण के लिए ही उसका ऐसा व्यवहार होता है । प्रारंभ में अनेक बार तो लंबे समय तक साधक ऐसा व्यवहार समझ नहीं पाता है । और इससे गुरु के प्रति वह क्रोध भी करता है या मन में अन्यथा भी सोचता है, परन्तु इससे तो साधक को अपना ही नुकसान होता है । साधक को कैसा भी दुःख या कष्ट हो, तब भी जरूरत होने पर जो कुछ योग्य करना होगा वह करने से गुरु हिचकिचाएगा नहीं । जहाँ तक गढ़न की क्रिया को साधक दुःख और कष्ट गिना करेगा, वहाँ तक उसे संताप और क्लेश रहा करेगा ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १०७)

● ● ●

एक ही गुरु को साधक अलग-अलग तरह से अनुभव करते हैं । एक साधक को वे व्यवस्थित, देखभालवाले, निश्चिततावाले, स्मृतिवाले इस-इस प्रकार के दीखते हैं । फिर, दूसरा साधक उन्हें दूसरी तरह के अनुभववाला निश्चयपूर्वक वैसा जानता है । फिर, तीसरे प्रकार के **जीव** के साथ वे तीसरे ही रूप में मालूम पड़ते हैं । ऐसे वे अनेक के साथ अलग-अलग दीखते हैं, इससे किसी को भी वैसी किसी की बतलाई सच्चाई में भेद मानने जैसा नहीं । अपनेआप को हुए अनुभव जो-तो स्थान पर यथार्थ होना पर्याप्त संभव रहता है ।

● ● ●

जीव तो हमेशा पार्थिवता की पकड़ में ही रहकर, उसके चौकठ में जकड़कर ही सब सोचता होता है । गुरु की सलाह से उसे प्रत्यक्ष गैरलाभ भी होता दीखे—ऐसा भी हो—तब भी गुरु का हेतु तो उसके जीवन के कल्याण के लिए होता है । इसलिए ऐसों का कहना यदि मात्र अपने आंतरिक जीवनविकास की भूमिका पर से और मात्र अंतर्मुखता के नाम से तटस्थ सात्त्विकता से यदि ग्रहण करना हो सके, तो इससे उपजी

सर्व कोई स्थिति में मनुष्य की दृष्टि, वृत्ति और भाव जीवनविकास के प्रति रहा करने में प्रेरणारूप रहा करेंगे । जिस संत के समागम में हम आये हों और जिसकी अतिमानवता के दर्शन और अनुभव हमें हृदय से होता हो, उसके पश्चात् कोई ऐसे किसी के कुछ विषय में, उनके बारे में हमें उलझन हो, तो उसके उस अतिमानवता के दर्शन और हम उनके हुए दृढ़ ख्याल से, उसके उस 'कुछ' का हमारे जीवन विषयक क्या हेतु हो सकता है, ऐसा तटस्थतापूर्वक का पृथक्करण ज्ञानपूर्वक यदि किया जाय, तो उसका कोई दिव्य हेतु समझ में आये बिना नहीं रहेगा । जिसके विषय में अतिमानवता के दर्शन और अनुभव हमें सचमुच हुए हों, उसके विषय में कुछ भी डाँवाडोल भी न हो, और जिसके विषय में बुद्धि भी वह कबूल करती हो, तो वैसा व्यक्ति कभी पार्थिवताबद्ध जीवनवाला नहीं हो सकता । जैसे विज्ञानशास्त्र में कुछ भी जैसे तैसे अटकल पर कुछ भी स्वीकार नहीं किया जाता, उससे भी विशेष इसमें उसके योग्य प्रमाण और लक्षण होते हैं । या तो ऐसा संभव है कि ऐसों का अतिमानवता के दर्शन या अनुभव करने में हमारी मात्र अंधश्रद्धा हो तो फिर अलग बात, परन्तु जिसका अनुभव बिलकुल प्रमाणभूत सत्य के आधार पर, प्रत्यक्ष आँखों से, बुद्धि और मन से प्रत्यक्ष हुआ हो, तो फिर उसके विषय में कुछ सोचने से पहले अपने विषय में ही साधक को गहराई में सोचने का लक्ष्य रखना योग्य लगता है । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १२१-१२२)

● ● ●

साधक एक समय अपने जीवन में गुरु की आवश्यकता स्वीकार कर लेता है, उसके बाद उसे उनकी महत्ता समझे बिना नहीं रहती । उसे समझ में आ जाता है कि **गुरु अर्थात् विश्व की प्रत्येक वस्तु का कोई परम चेतनाशक्ति के साथ किसलिए और किस तरह जुड़ा रहता है, उसे समझानेवाली ज्ञानशक्ति ।** मानवजीवन का क्या रहस्य है, क्यों हमें जन्म मिला है, जीवन का क्या उद्देश्य है, उसके साथ जगत का क्या संबंध है, इन सब की क्रमशः समझ जिसकी चेतनाशक्ति द्वारा स्वयं में

प्रकट होती जाती है, वह चेतनाशक्ति ही गुरु है ।

इसप्रकार, जो साधक को गुरु की महत्ता समझ में आती है, वह जीवन में नया-नया सीखता जाता है, और फिर धीरे-धीरे गुरु के नजदिक आता जाता है । प्रारंभ में साधक को गुरु की स्थूल समीपता की आवश्यकता अधिक लगती है, तथापि योग्य गुरु तो उस साधक को आवश्यकता अनुसार ही पास रहने देगा । आवश्यकता से अधिक रहना, उस साधक में गुरु के प्रति जो योग्य समझ या आदरवृत्ति जन्मी या जन्म लेती जाएगी उसके लिए लाभकारक न भी हो । गुरु तो साधक के आधार में अदृश्यरूप से अपने भाव आवश्यकतानुसार रखकर तटस्थता से देखा करता है । साधक जब गुरु के समीप होता है, तब भी गुरु ऐसे कई प्रसंग खड़े करता है कि जिससे साधक का मन गुरु में आकर्षित रहा करे ।

जो साधक अपने पुराने मंतव्य, समझ, गिनती, उलझन, आग्रह आदि रखा करता होगा, उसे उन सभी से छुड़वाने गुरु कोई न कोई सूक्ष्म प्रयत्न किया करता होता है—इससे, कई बार आघात देकर भी साधक के अंतर में विरोध भी जागता होता है । परस्पर दो विरोधी मुठभेड़ के कारण ऐसा होगा ही । गुरु का भाव साधक की प्रत्येक दशा में उसके साथ रहा करता है ।

जो साधक अपने जीवन के उद्देश्य की तह को अभी तक ठीक से बैठा नहीं पाया या उसका महत्त्व अभी तक पूरी तरह से अंतर में बैठ नहीं गया, ऐसा साधक गुरु को यथार्थ रूप से समझ नहीं सकता है । इतना ही नहीं, पर अपनी अधूरी समझ अनुसार गुरु के विषय में मत बांधकर उन्हें अन्याय भी करता है । ऐसे भाव से गुरु की निकटता कोई लाभ नहीं दिलवा सकती । यदि साधक अभिप्राय न बांधकर खुला रहने को प्रयत्नशील रहा करे तो लाभ उठा सकता है ।

शायद कर्मप्रारब्ध के संयोग से कोई अति निम्न स्तर के साधक के साथ गुरु का संबंध हुआ होगा तो अनेक प्रकार के संघर्ष उस साधक

के जीवन में उद्‌भवकर उसे ऊँचा उठाये बिना गुरु रहनेवाले नहीं हैं । इस कार्य की परिपूर्णता के लिए उसके मन में अपार धीरज होता है । साधक को अपना स्पष्ट भान जागे ऐसा करवाने में वह कुछ भी बाकी नहीं रखता । अलबत्ता, साधक के हाथ से ही वह सब होने देता है । उसके पीछे के संयोगों में स्वयं खड़ा है, यह ख्याल भी वह साधक को नहीं होने देता है । परन्तु साधक जब गुरु का सूक्ष्म हाथ पहचान लेता है, तब उसे अपने जीवन की कृतार्थता होने लगती है ।

गुरु सामीप्य बेला में अलग-अलग प्रकृति के अनेक मनुष्यों के साथ गुरु के व्यवहार में शुरूआत के साधक को जीवनदृष्टि के अभाव से दंभ, दिखावा, आडंबर, अहंभाव, क्रोध इसतरह प्रकृति की अलग-अलग अनेक वृत्तियाँ दिखा करती हैं । गुरु अपना प्रभाव, ओज, महत्ता, शक्ति आदि साधक के दिल में बलात् मानो ठुसाना चाहते हैं, ऐसा भी साधक कल्पना करे बिना नहीं रह सकता । ऐसे सभी साधकों के मनोभावों को गुरु स्पष्ट रूप से जान जाता है, तथापि अपने व्यवहार का योग्य खुलासा गुरु क्वचित ही करते हैं । अपने को उल्टा आसानी से समझने देते हैं । उन्हें धीरज होती है कि साधक यदि साधना को ही महत्त्व दिया करेगा तो आज नहीं तो कल, गुरु का विचित्र या प्रत्यक्ष रूप से अयोग्य लगता व्यवहार उसके योग्यरूप में साधक को समझ में आये बिना नहीं रहेगा ।

किसी को भी उनके लेखन या पत्रों के अभ्यास से या उनके तत्त्वज्ञान की समझ से भी हम पूरी तरह समझ नहीं पाएँगे । इसके लिए उनका निकट सहवास जरूरी भले हो । तथापि पर्याप्त नहीं है । सतत निरन्तर जीवनविकासका अभ्यास और हृदय की भावना से रखा सहवास, इसके अलावा उनका हृदय समझने और उनके जीवन की समग्र, लगातार, सर्वतोमुखी विचारसरणी, भावसरणी और जीवनसरणी का भवन किस नींव पर खड़ा है, उसे जानने, समझने का प्रयत्न हो तो ही उनका जीवन-मूल हमें शायद हाथ लगेगा और यदि हाथ लगे तब भी वह पूरीतरह तो नहीं ही । इससे, साधक अपने में होते परिवर्तनों को सत्य हकीकत

के रूप में अनुभव करेगा, तब उसके दिल में गुरु की परम महत्ता और उपयोगिता का अधिक से अधिक स्फोट हृदय से होता जाएगा ।

गुरु का सामिप्य योग्य और फलदायी उतने ही प्रमाण में गिन सकते हैं कि जितने प्रमाण में साधक का समग्र जीवन उनकी चेतनाशक्ति के साथ जुड़ता जाय और उनका दैवी लाभ उठाते जाँय । साधक स्वयं ही इस विषय में सजग रहकर अपनी निम्न प्रकृतिओं के विकृत भावों का इनकार सतत करते हुए मथन करता रहे ।

जो समझ या प्रेरणा साधक को मिले, वह साधक को रचनात्मकता सहाय और वेग देनेवाली हो, उसकी असर को दूसरी ओर न ले जाय उस विषय में साधक को सूक्ष्म जाग्रत विवेक रखना होगा, क्योंकि जिस चेतनाशक्ति के साथ हमारा संबंध हुआ है, वह चेतनाशक्ति व्यक्त रूप से शुद्ध सरलता से हमारे साथ काम नहीं लेती होती है । हमें तो कभी दूसरा भी बतलाए और उस समय हमारी पूरी कसौटी हो जाना भी संभव रहता है । इसी कारण से साधक को कभी भी विवेकशक्ति का उपयोग न करें या बुद्धि का उपयोग न करें ऐसा मान लेना ठीक नहीं है । हम में पूरी समझ, तुलनात्मक बुद्धि और शक्ति, प्रत्येक परिस्थिति में हमारा क्या धर्म है, यह समझने की सहज शक्ति, उलझनों को तुरत ही सुलझाने की अंतरस्फुरणा—इन सभी को हम में अंकुरित करने के लिए गुरु की चेतनाशक्ति है । यह शक्ति हमें पराधीन नहीं रखना चाहती, पर अपने जैसी ही चेतनाशक्तिवाला बनाना वह चाहती है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३२ से ५३)

● ● ●

फिर, अनेक बार गुरु जैसा होता जाता है वैसा शांति से होने देते हैं । वे कुछ भी बलपूर्वक नहीं लादते । वे भी उन-उनकी वैसी-वैसी भूमिकाएँ माँग लेते हैं । समष्टि और व्यक्ति की रचना में और चलन में इस जगत में रहती महान आत्माएँ साक्षीवत् ही रहती हैं । फिर, साधक भी गुरु को पूरीतरह हृदय से स्वीकार भी नहीं पाया होता है । शायद मान लें कि गुरु उसे अपनी इच्छानुसार चलाना चाहे तो

भी वह **जीव** उसे समझ नहीं पाएगा, उनके भाव के अनुसार तरह वह चल भी ना पाएगा । गुरु के आघात-प्रत्याघात स्वीकार करना सरल नहीं है, क्योंकि वे अटपटे हैं । साधक की कक्षा जहाँ तक **जीव**भाव में होती है, वहाँ तक वैसा **जीव** गुरु की भावना एवं चेतना और उसके योग्य प्रकार की यथार्थता को समग्र और अटूटरूप से समझ पाने में समर्थ नहीं हो सकता । गुरु की जाग चुकी चेतनाशक्ति की प्रतीति और अनुभव **जीव** को अनेक बार होने पर भी साधक **जीव**दशा में है, वहाँ तक वैसी आत्मा की योग्यता में उसे उगमग हुए बिना नहीं रहती । **जीव**स्वभाव में जकड़ रखने के लिए हमारी प्रकृति हमें अनेक सूक्ष्म और कारणरूप से कुछ न कुछ बतलाकर या अमुक हमारी वैसी दशा में 'यथार्थरूप' दिखे वैसा दिखलाते हुए मन को उसमें एकराग होने से रोकने के लिए वह सारी तनतोड़ प्रयत्न करती ही रहेगी ।

जहाँ तक साधक का संपूर्णभाव एकरागरूप गुरु में सर्वभाव और सर्वरूप शरणागति की जीवित भावना में पूरीतरह न हो पाया हो, वहाँ तक गुरु भी बेचारा पूरी तरह से लाचार होता है । उनकी लाचारी का तो पार नहीं होता—ऐसे उनके दर्द को कौन पहचान सकता है या कौन अनुभव कर सकता है ? गुरु तो शव जैसे हैं । उन्हें जीवित रखों तो जीयेंगे और शव जैसा रखोंगे तो वे वैसे भी आराम से पड़े रहेंगे । वे जीवित हमारे आधार पर ही हो सकेंगे । गुरु की भावना, सर्व अर्पण भाव से, समर्पणभाव से और केन्द्रितरूप से चैतन्यता हमारे आधार के एक-एक करण में न बन जाय तब तक गुरु भी लूले-लंगड़े होते हैं । गुरु में हमारा पूरीतरह हृदय से हृदय में एकराग हो जाना—उनमें से स्वीकार करने की भूमिका योग्यरूप से होने के लिए—अति आवश्यक है । ऐसा हो सके तो ही योग्य गुरु योग्य साधक को अपने उपयुक्त ढंग से चला सकते हैं । ऐसा संपूर्ण विज्ञानशास्त्र है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. १, पृ. १२३ से १२७)

उनकी प्रत्येक सूचना नम्रता, संपूर्ण भक्तिभाव से, कोई भी किसी भी आशा अपेक्षा रखें बिना, हमारे अपने कल्याण के लिए ही यह सब

है यों समझकर और उस समय उस सूचना से दूसरा विरुद्ध विचार लाये बिना उन सूचनाओं का हृदयपूर्वक आचरण करना रखें ।

गुरु विषयक कोई घटना या किसी भी प्रकार की उनकी ओर से कठोर प्रसंग-कसौटी में, मन-बुद्धि से समझ न आये ऐसी बेला में भी मन में व्याकुलता, उद्वेग या दूसरी वृत्ति न जाग पाए ऐसी दशा मन की रहा करे और मन में किसी प्रकार के दूसरे ख्याल न जाग सकें तो अपने मन को जीवन के रचनात्मक रूप में जागृत रखने, यह एक अति उत्तम प्रकार का प्रशिक्षण होगा । सद्‌भाव, भक्ति या आदरभाव जो हमें रखने हैं, वे हमें अपने जीवनविकास के लिए ही करने हैं ।

व्यावहारिक क्षेत्र की तरह आध्यात्मिक क्षेत्र में भी जहाँ तक हमें उस क्षेत्र का ज्ञान, समझ या अनुभव नहीं है, वहाँ तक उन्हें (गुरु को) हम उचित तरह नहीं समझ सकेंगे । इससे उनके विषय में हम किसी भी विषय में मन बड़ा रख सकें वह हमारे लिए उत्तम है ।

गुरु भी साधनरूप हैं । उसका महत्त्व है तो वह साधन तक ही सीमित है । उसे—उस साधन को—उपयुक्त और आवश्यक अनुरूप और योग्य महत्त्व हो उतना ही हमें देना है । उससे कम भी नहीं और अधिक भी नहीं । अधिक देने पर साधना में ही हम उलझ जानने का संभव है और कम देने पर साधना का पूरीतरह लाभ नहीं उठा पाते हैं ।

हमारा प्रेम वे (गुरु) माँगते हैं । जितना अधिक दिया जाय उतना हमारा ही श्रेय है । हमारे प्रेम द्वारा अपने काम में वे हमें सहयोगी बनाते हैं । उसे हमारे में काम कर सकने हमारे में भूमिका रचने हेतु वे माँगते हैं ।

साधक को किसी भी प्रकार का संकोच या अंतर गुरु और अपने बीच नहीं रखना चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २६)

अपने मार्गप्रदर्शक के प्रति अश्रद्धा, असद्‌भाव का मन का या ऐसे किसी का एक भी तरंग-लहर न उठे उसे देखें और उठे तो उसका तत्क्षण इनकार करने का कार्य साधक का होना चाहिए ।*

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २१८)

● ● ●

* श्रीमोटा ने 'श्रीसद्‌गुरु' विषयक विस्तृत जानकारी देते हुए एक पुस्तक लिखी है ।

॥ हरिः ॐ ॥

१६. ध्यान

ध्यान हमारे अंतर की खोज के लिए है । समर्पण की भावना के लिए, खालीपन, निर्विचारता विकसित करने, लय होने के लिए, प्रार्थना के mood (भाव-तरंग) जैसा हो, इसप्रकार, ध्यान के अनेक प्रयोजन हैं । इससे एक बार ऐसा हुआ और दूसरी बार ऐसा क्युँ हुआ ? ऐसी स्थितिचुस्तता इसमें नहीं है । जो हो उसे देखा करें—ध्यान में एकाग्रता का भाव यह मुख्य वस्तु है । वह स्थिरता—जड़तावाली एकाग्रता नहीं पर चेतन स्फुरण करनेवाली एकाग्रता होनी चाहिए ।

ध्यान के समय तंद्रा, यह एक बड़ा सामान्य अवरोध आ जाता है । उसके आने से अपनेआप सामान्यतः तो पता चल जाता है । ध्यान में से कोई खास प्रकार की भावना उत्पन्न हो ऐसी कोई अपेक्षा न रखें । मात्र उसमें से हम सतत जागृति प्राप्त करें और साधना में वेग मिले तो वह बहुत है । **उस समय आग्रह, मंतव्य, भावनाएँ, विचार आदि सभी ही सच्चे अर्थ में लय पा सके तो उतने समय हमारी अंदर की चेतना का जिसे भगवान का भाव भी कह सकते हैं, उसका स्पर्श होगा, पता चलेगा, अनुभव होगा ।**

ध्यान में समय की गिनती यह महत्त्व का माप नहीं है । अमुक घण्टे ध्यान हुआ यह गौण है । गहरायी का ख्याल रखें । उस ख्याल को भी महत्त्व नहीं देना है । ध्यान के समय जो कुछ अनुभव हो उसे तटस्थता से देखा करें ।

ध्यान में अपनेआप स्वाभाविकरूप से श्वासोच्छ्वास मंद होते जायेंगे और अंत में तो बिलकुल शांतरूप से चलेंगे । उसमें प्राणायाम के नियम स्वतः पालन होते जायेंगे, यदि ध्यान योग्यरूप से होता होगा तो । और बिलकुल अंत में तो श्वासोच्छ्वास बिलकुल लय हो जाये ऐसी स्थिति होगी ।

ध्यान के समय ध्यान ही । प्रार्थना के समय प्रार्थना ही । जो करते हो उसके भाव को ही प्रधानरूप से चिपके रहे । ध्यान को छोड़ने की इच्छा न हो तो चालू रखें । समय हुआ इसलिए छोड़ दिया ऐसा न करें ।

ध्यान में जाने के बाद जप पर भार न रखें । जब पूरी लीनता का अनुभव हो, तब अंदर की जो चेतना है, उसे अनुभव करने में चित्त का लक्ष रखना है । ध्यान पूरा होने के बाद जो घुमरी और एकाग्रता जैसा रहता है, उससे जप, धारणा का भाव गहरा हृदयस्थ उतारना ।

ध्यान शुरू करते समय जप का आश्रय ले सकते हैं, पर उस पर भार दिये बिना, फिर उसका भी आग्रह न हो । सचमुच सर्जनात्मक शक्ति का अनुभव प्रत्यक्ष कार्यक्षेत्र में आकर सर्वांग में ध्यान की साधना चालू रखनी है । **ध्यान मात्र शांत बैठे रहने के लिए नहीं है । मन को नीरवता में लाने के लिए ध्यान मददरूप है—यह तो यद्यपि उसका तात्कालिक लाभ है । वैसा होने से मन के लिए उपरोक्त अनुभव संभव होता है । ध्यान अर्थात् ही हमारे आंतर्तत्त्व की खोज ।**

हलके ध्यान में मन की चालबाजी पता लग सकती है—ध्यान में से शक्ति, आनंद, नूतनता मिलती है । तथा हमारे दृष्टिबिन्दुओं में वह अंतर ला देता है । आत्मविश्वास और श्रद्धा की वृद्धि करता है—ऐसे सभी अप्रत्यक्ष लाभ भी मिलते हैं । मूल हेतु तो आत्मा की खोज है ।

ध्यान के समय आसन की हेरफेर न करें । शरीर ठीक न हो तब सोते-सोते भी ध्यान हो सकता है । सोते-सोते पलथी लगाकर भी हो सकता है । उस समय तंद्रा या निद्रा में न पड़ जाय इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए । ध्यान का समय भी हो सके तो निश्चित रखें और स्थान भी । आसन की आवश्यकता ध्यान में शुरू में ही रहती है । उसमें सराबोर होने पर अमुक निश्चित आसन की आवश्यकता नहीं रहती है ।

ध्यान के समय बाहर की आवाज सुनाई दे, इसका अर्थ है कि अभी एकाग्रता आयी नहीं है । इसका अर्थ ऐसा भी नहीं कि ध्यान में मूढ होना या रहना है । अज्ञान, मूढपना तो इन्द्रियों का विकसित करना है । मन की शून्यता तो क्रमशः बढ़नी ही चाहिए और मन के अंग उपांग भी साथ-साथ रस लेते होने चाहिए ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ३७, ४४, ४७, ५२, ५३, ५५, ६४, ६८, ६९)

ध्यान के समय भाव जागे यह ठीक नहीं है । किसी भी दशा में

अव्यक्त औऱ निराकार भाव जागे तो ठीक । जो-जो विचार आये उसमें रस न लें, शृंखला न जोड़े, उनको बह जाने दें ।

निश्चित किया समय पूरा होने के बाद ही हो सके तो ध्यान छोड़े । अधिक मन हो तो भले अधिक बैठे, पर बीच में से तो न ही उठे, अपवाद माफ । कुछ भी यद्वातद्वा करना न हो वैसे जड़ नियम अनुसार भी नहीं । ध्यान में अच्छे विचार आये वह भी उस समय के लिए योग्य नहीं हैं ।

एकाग्र ध्यान के समय मन, बुद्धि, चित्त सभी लय हो जाता है और उनका सुमेल होता है । ध्यान के समय लक्ष्य और चित्त को हृदय में रखना ठीक है । हृदय में लक्ष्य रखकर, भ्रूमध्य में चित्त (धारणा) रखें अथवा तो नाक के नोक पर दोनों का लक्ष्य तो हृदय ही हो । इससे विचार एकदम कम हो जाएँगे ।

'ध्यान में अमुक-अमुक हो तो ही अच्छा ।' ऐसी भावना न रखें । जब जो कुछ हो उसमें मन शामिल न हो उसका ध्यान रखना चाहिए । लीन और एकाग्र होने पर गहराई में उतरते जाएँ । और जहाँ तक ख्याल रहा करे वहाँ तक भगवान के भाव का ख्याल रखें, वह भी उड़ जाय तो उड़ जाने दें और क्या होता है उसे तटस्थता से देखा करें ।

ध्यान के समय या बाद में हाथपैर आदि शारीरिक अवयवों के अस्तित्व का ख्याल चला जाता है । इसका कारण यह है कि यह सभी एक की एक स्थिति में रहने से ऐसा होता है ।

जिस भावना को बढ़ाना हो, वह भावना भी ध्यान से बढ़ सकती है । रोज नयी नयी भावना रखने से उसमें कोई खास लाभ न होगा । वैसे ही भावना को बाधारूप जो कुछ हो उसका वह दिव्य रूपान्तर करने के लिए भी ध्यान का उपयोग हो सकता है ।

ध्यान में लीनता हो उस समय हृदय पर से लक्ष्य हटने पर लीनता घट न जाती हो, तब भी लक्ष्य तो हृदय में ही रखा करें यह उत्तम है । लीनता के समय चेतना की स्थिति बदलती जाती है । तब वैसी वैसी प्रत्यक्ष कक्षा में मिल न जाय, नहीं तो विकास रुक जायेगा ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ७०, ७२, ८३, ९५, १२६-१२७, १७२)

ध्यान में एकाग्रता होने के बाद विचार का हमला नहीं आयेगा ।

विचार आने पर वे सतह पर से बह जायेंगे। दोनों नथुनों में से हवा समान आती होगी तो श्वासोच्छ्वास सम होगा। छाती में खिंचाव होता है, कितनों का कंठ सूखता है। और जीभ सूखती है, तो कितनों के मुख में अमीरस भी झरता है। किसी भी एक ध्यान के अंत में सिर या तो हलका या स्फूर्तिजनक भारी-भारी लगता है।

लक्ष्य अर्थात् एक प्रकार का एकाग्र, केन्द्रित और ध्येयलक्षी उत्कट ख्याल तथा चित्त की उस पर ज्ञानभक्तियुक्त चेतना। लक्ष्य अर्थात् भाव और चित्त अर्थात् उसके प्राण और शक्ति ऐसा अर्थ यहाँ करता हूँ।

बहिर् में एक दृष्टि रह सके इसके लिए भक्ति की आवश्यकता और अंतर में वैसा होने के लिए ध्यान की आवश्यकता।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ४८, ५५, ८४)

● ● ●

ध्यान में एक प्रकार की उन्मादभरी तरंगे आनी चाहिए। एक प्रकार की अलगपन की शक्ति उसमें से मिल जानी चाहिए। और उसे दिन के दूसरे व्यवहार में सक्रिय बनानी चाहिए।

● ● ●

ध्यान में वृत्तियाँ और आसक्ति का बल हमें पता चल जाता है। कितनी बार ध्यान के समय सूक्ष्म तत्त्व टकराते हैं। उदा० सूक्ष्म कर्णेन्द्रिय को असर कर सके ऐसे नाद के सूक्ष्म तत्त्व उसे टकराते हैं। दिव्य संगीत सुनाई देता है। ऐसे समय जागृति रखके अपना ध्येय अलग है, ऐसा दृढ़ ख्याल रखना है। 'नादब्रह्म' स्थिति कोई सर्वोपरि नहीं है।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १४४-१४५, १८४)

● ● ●

ध्यान में नाडी की धड़कन कम हो वह अच्छा है। यह चेतनावाली स्थिति है। ध्यान की संपूर्णता में नाड़ी की धड़कन शून्य की दशा में पहुँचती है। ध्यान समाप्त होने के बाद यदि धड़कन पचास हो, तो ध्यान के सही समय तो इससे भी कम होती है। ध्यान की एकाग्रता में हृदय

की धड़कन कम होती जाती है ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ११६, १४५)

● ● ●

ध्यान की एकाग्रता में आंतरिक चेतन की स्फूर्ति सतेज होती जाती है ।

ध्यान में तदाकार होने के लिए मनहृदय सर्व प्रकार से सरलतावाले, निश्चिंततावाले, निर्द्वन्द्वभाववाले हो जाने चाहिए । इन सभी के लिए दैनिक कर्तव्यव्यवहार में मनादि भावों को ज्ञानपूर्वक विकसित करने चाहिए ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१७. त्राटक

त्राटक का हेतु हमारी आंतरिक क्रियाओं पर नियंत्रण बढ़ाना है । हमारे विचार, भावनाएँ, मनोभावों को जहाँ-तहाँ अस्तव्यस्त ढंग से विहरने न देने के लिए यह साधन है । इनसे यह सभी का योग्य पाट हम रच सकेंगे और ऐसी आत्मश्रद्धा हमें त्राटक से पैदा होनी चाहिए ।

त्राटक में हृदय पर अंतरदृष्टि रखने से लीनता आती है, यह सच है । पर बाह्यदृष्टि तो त्राटक बिन्दु में ही रखें । आसपास का कुछ भी नहीं दिखना चाहिए । मात्र बिन्दु ही दिखे । पलके भी तब बिलकुल झपकनीं नहीं चाहिए । तीन घण्टे तक उस अनुसार ले जाना है, परंतु वृत्ति पर किसी तरह का बलात्कार न करें । जैसे-जैसे प्रेम, रस उसमें आते जाय, वैसे-वैसे समय बढ़ाते रहें । आँख बंद हो जाय या पलक झपक जाय तो बंद कर दें । उस समय के लिए वह पूरा हुआ गिनें । समाप्त होने के बाद ठण्डे पानी से आँखों पर छीटें मारे या ठण्डे पानी में पाँचेक मिनट डुबाये रखें । और उसके बाद आँख बंद करके कुछ समय बैठे रहें या लेट जाँय और नामस्मरण किया करें । आँख पर कपड़े का स्वच्छ मोटा पट्टा रखने से भी अधिक उपयुक्त रहेगा – आँख को आराम अधिक मिलेगा ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ५३, ७२)

प्रारंभ में थोड़ा भी भार आँख की पलकों को न दें । धीरे-धीरे

सहज रूप से होले-होले आँख खोलें और तब यदि खूब प्रेमभाव छलकता रख सकें तो उत्तम ।

बिन्दु-त्राटक यह हमारी बहिर्मुख सर्व स्थूल और सूक्ष्म प्रवृत्तिओं में से एक में किस तरह एकाग्र रह सके इसके लिए है । ज्योति का त्राटक शक्ति के आह्वान के लिए है । (ज्योति बिलकुल स्थिर, जरा भी हिलनी नहीं चाहिए ।) दोनों ही आवश्यक हैं ।

त्राटक में बैठने से पहले मन से खूब निश्चय करके बैठें कि पलके झपकनेवाली है ही नहीं । हमें अपनी संकल्पशक्ति को पैदा करके सर्वोपरि करना है । आँख झपकें तो वह त्राटक नहीं है । ज्योति त्राटक दिन में दो बार हो सकता है । बिन्दु त्राटक तीन-चार घण्टे के अंतर में दो से तीन बार हो सकता है । त्राटक बिन्दु या ज्योति की ऊँचाई आँख की सीध में ही सामने आये वैसा रखें । अंदर की पुतली हिलती न लगती हो पर उसकी Pitch एकाग्र दृष्टिपात की जगह कुछ बदलती होगी, पर नजर यदि मध्यबिन्दु पर से खिसकती न हो तो अड़चन नहीं । दिखना धूंधला धूंधला हो जाता है यह तो अनिमेष देखते रहने से ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ७३, ८५, १०८, ११६)

सूर्य का त्राटक छः सात मिनट ही रखें और वह भी एकदम सूर्योदय का । किरणें बिलकुल कोमल होनी चाहिए । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३६६)

● ● ●

त्राटक के समय सूक्ष्म आँख और मन हृदय में केन्द्रित होने चाहिए ।

चन्द्रमा के सामने भी त्राटक कर सकते हैं, पर तब क्या भाव धारण करते हैं, यह महत्त्व का होगा । ('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ११६)

त्राटक के समय जप तो हमें करते ही रहना है । त्राटक से आँख नहीं बिगड़ती बल्कि आँखों का तेज बढ़ता है और दृष्टि दीर्घ होती है ।

('जीवनपगरण', आ. २, पृ. ११७)

त्राटक के समय जो-जो विचार आयें वे चाहे कितने भी ललचानेवाले हों तब भी उनमें रुचि न लें । उसे आनुषंगिक विचार की शृंखला से न जोड़े । तब नाड़ी की धड़कनें गिनें । त्राटक के समय हृदय में जितना

गहरे उतर सकें उतना उत्तम । उसीको अधिक महत्त्व दें । धुन, जाप, भजन के अलावा भी उसमें भावमय हो सकें तो उत्तम । अंतर्मुखता भी आनी चाहिए । (जीवनमंथन, आ. २, पृ. २०२)

● ● ●

भाव में जब अत्यधिक एकाग्रता आती है, तब आँख अपने आप स्थिर रहती है । आँख को उस समय स्थिर नहीं करनी पड़ती । इसी तरह जब हमें जीवनसाधना में सचमुच का रस जमता और उससे उसमें एकाग्रता जमती है, तब साधना करनी नहीं पड़ती, तब वह तो अपनेआप होने लगती है । अनिमेष देखते रहने से एकाग्रता आती है ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ४८)

प्रकृति की डाँवाडोल वृत्ति को निश्चयात्मकता में बदलने के लिए त्राटक अच्छा साधन है । हृदय में पैदा हुआ भाव व्यवहार में भी ज्ञानपूर्वक आचरण में लाना है ।

● ● ●

श्रीसद्‌गुरु के हृदय पर त्राटक करने से उनके भाव की असर जीवन में उद्‌भव होती है सही, परंतु वैसा होने का सही आधार हमारे अपने हृदय में उनके प्रति कितना उत्कट भाव प्रकट हुआ है, उस पर है अथवा कोई पवित्र जीवंत जागे हुए पुरुष की मूर्ति या छबी पर या तो मंदिर की मूर्ति पर भी इसतरह हृदय की भावना प्रकट करके त्राटक हो सकता है । त्राटक के पीछे का हेतु, उद्देश भूलना नहीं चाहिए । बाकी खाली-खाली आँखे फाँड़कर देखने का नाम त्राटक नहीं है । त्राटक में भाव आते ही एकाग्रता बढ़ेगी ही । ऐसी भावात्मक एकाग्रता आते ही आँख में से आँसू आते हैं कि नहीं, इसकी भी समझ नहीं होती । देहचेतना का भान भी नहीं रहता और अंतर में अंतर की भावना में, एकाग्ररूप से तब लीन हो गये होते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३४९-३५०)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१८. वैराग्य

हम में वैराग्य के बारे में अलग-अलग ख्याल हैं । साधारण रूप से लोग कुटुंबीजनों से बिछुड़ा और कोई कामकाज न किया करे उसे 'वैराग्य' ऐसा समझते हैं । पर यह समझ सत्य नहीं है । 'वैराग्य' शब्द के मूल अर्थ में जाये तो 'राग' अर्थात् आसक्ति । उस पर से विराग या वैराग्य अर्थात् अनासक्ति । हमारा यह मानवदेह हुआ तब से ही अमुक कर्तव्य तो हमारे हिस्से आये ही हैं और जीयेंगे तब तक आनेवाले ही हैं । वे आये कर्तव्य किये बिना हमारा छुटकारा नहीं है, वह तो हमें प्रेमपूर्वक ज्ञानभक्तिभाव से चेतना से करने हैं और वे भगवान को समर्पण करने हैं । पर यदि हमें अपने ध्येय का पता न हुआ होता तो हम कितने ही नये बंधनों में पड़ते जाते होते । उस ध्येय का जाग्रतिपूर्वक का ज्ञानभान हमारे कर्म में उतने अंश में रहता होगा, इतने अंश में ही हम साधना के काम में भी नये बंधनों से उबर सकेंगे । इसलिए अब जब हमारा ध्येय—आदर्श निश्चित हुआ ही है और वही जीवन का सच्चा उद्देश्य है, ऐसा हमें समझ का भरोसा हुआ है, तब हमें समझपूर्वक ख्याल रखना चाहिए कि जितने कर्म हमारे हिस्से आये हैं या आते हैं और वह भी योग्य हो, उतने में ही हमें रहना है और वह भी अनासक्तिपूर्वक करने हैं । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि कार्य दिल बिना, जड़ की तरह करना है । पर वह करते समय फल विषयक आसक्ति हम में नहीं होनी चाहिए । फिर, उस-उस कार्य में हमारी मर्यादा का और उत्तरदायित्व का उतना कार्य सिमित ही ख्याल रखकर वे जैसे आते जाय वैसे किया करें और उसके विषय में मन में कार्य करने से पहले या हो जाने के बाद विचार न किया करें, कोई अस्थिरता न आने दें और मन को डाँवाडोल न होने दें । हमें जब जो-जो करने का आये, तब वह सब कर डालें और मन में उस विषयक बाद में कुछ न रखें और ऐसा जब उस-उस कार्य में हम समझपूर्वक अनासक्त रहा करेंगे तो वैसे हम पर रंग चढ़ने लगेगा । और लोग ऐसी बात करते हो कि 'ऐसा करते-करते दूसरे विषयों में भी सिर मारने, उनको ऐसा भले करने दें, उनके विषयक मन में कोई अन्यथा भाव न आने दें । पर हम तो एक में यदि रस

लिया करेंगे तो ही हम अंतर्मुख हो सकेंगे, क्योंकि हमारा मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, चित्त जिस तरह ग्रहण करें उस तरह प्राप्त करता है ।' इसलिए एक में रुचि रखें तो ही इन्द्रियाँ, बुद्धि, चित्त उसमें रुचि लेने लगेगा और उसके द्वारा मन और मन की अंतर्मुखता संभव होगी । ऐसी दृष्टि, वृत्ति और भाव से जो जीवन बीते वह वैराग्यमय जीवन ।

तो अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी समझ कब और कैसे आयेंगी ? 'कब' का प्रश्न हमें कभी नहीं उठाना है । इसका अर्थ ऐसा नहीं कि हम उत्सुकता, तमन्ना बढ़े इसके लिए कोई इच्छा न रखें या उस दिशा की ओर लक्ष न ही दें । पर इसका अर्थ यह होता है कि इसके साथ हमें अपार धीरज चाहिए । गीता में जिसे 'सात्त्विक' साधक कहा है अर्थात् धीरज के साथ-साथ उत्साहवाला—ऐसा हमें रहना है ।

जीवन की तमन्ना कैसे आये यह सोचने का काम हमारा रहा ही है । **जीव** से जो जो कार्य आसक्ति से होते जाते हैं, उसकी घुटन, घबराहट और व्याकुलता उसमें बढ़ती ही जाती है । उसकी चिंता का पार ही नहीं रहता । उद्विग्नता, क्लेश, संताप और कठिनाइयाँ यह तो मानो उसे मिले ही होते हैं । उसमें से कभी ऊँचा नहीं आ सकता । ऐसे **जीव** के सुख के अनुभव में कुछ सुख भी क्या ? उसके सुख में भी उसे शांति नहीं, चैन नहीं, परंतु जब **जीव** को ऐसा जीवन खूब सालने लगता है, तब ही वह स्वयं कुछ ऊपर उठने की संभावना में प्रवेश करता है । तब ही वह उच्चतम जीवन विषयक तमन्ना कैसे प्रगट हो उसकी आशा प्रगट हो सकती है । अनासक्ति से जैसे-जैसे कर्म होते जाते हैं, वैसे-वैसे उसमें एक प्रकार का फैलाव आता है, उसे आराम मिलता है । उसे किसी भी प्रकार की चिंता नहीं रहती । स्वयं अनासक्त होते जाने से उसके रागद्वेष मंद पड़ते जाते हैं । उसे किसी विषयक किसी का भार नहीं लगता । वह अधिक से अधिक निश्चिंत होता जाता है । एक प्रकार का ऐसा हलकापन उसमें आता है कि जिससे वह उड़ा करता है । सकल कर्म वह समर्पणयज्ञार्थ ही किया करता है । उच्चतम जीवन की जीवन में हाँक देने के लिए अनासक्तियुक्त जीवन जीने का जिसे अभ्यास है—ऐसे के

जीवन में तमन्ना की ज्वाला भड़कनेवाली है । हमारा मन उस समय वही दिशा में रहा करेंगा । जिस दिशा में जबरदस्त हमारी गति हो, उसकी विपरीत दिशा में जाना कभी नहीं हो पाता । यह जैसे सत्य है वैसे जीव की खिंचातानी के ऐसे मंथन में से अर्थात् आसक्ति-अनासक्ति के ऐसे मंथन में से और कठिनाई में से **जीव** जब निकलने लगता है, तब जो पर्वतों की कंदरा में, जिस पर्वतों की कंदरा और खोह में समा गयी नदी, उन सभी को पार कर जब मैदान में बहने लगती है, तब उसके बहाव में जो एक प्रकार की कुशादगी और उत्तमता आती है, वैसा जीवन में प्रत्येक साधक अनुभव करता है । अनासक्ति आने पर **जीव** किसी में बंधता नहीं है । उसकी तमन्ना का ज्वालामुखी फिर तो बढ़ता ही जाता है । वह किसी में उलझता नहीं है । उसकी अंतर्मुखता पूरी तरह सँभली रहती है । ऐसी आदत से ही उसकी अंतरशक्ति उत्पन्न होती है । तमन्ना और अनासक्ति यह दो परस्पर जुड़े हैं । एकदूसरे के साथ का संबंध एकदूसरे से अलग नहीं । एक आये तो दूसरा आये, दूसरा हो तो पहला होगा ही ।

अनासक्त होती जाती **जीवात्मा** को जैसे-जैसे प्रवृत्ति आयेगी वैसे -वैसे वह अंदर से अधिक पूरी निवृत्ति से व्यवहार करेगा । इसी तरह उस समय कर्म का आचरण होगा । प्रवृत्ति में उसके हृदय की निवृत्ति को नुकसान नहीं होता । निवृत्ति की भूमिका पर से उसकी प्रवृत्ति बनती जाती है, इसीलिए ही हमेशा वह निश्चिंत और प्रसन्नचित्त रहा करता है, परंतु हमारी चेतना की भूमिका तो इन दोनों में से एक में भी नहीं रहती । और दोनों भले ही व्यवहार करती हो, तब भी वह प्रवृत्ति वह प्रवृत्ति भी नहीं है । और निवृत्ति वह निवृत्ति भी नहीं है, इसलिए हमें यदि जीवन की श्रेष्ठतम कक्षा की धधकती तमन्ना लानी हो तो सर्वप्रथम कर्तव्य और धर्म, जीवन में जो भी प्राप्त संबंध, व्यवहार, वर्तन तथा प्राप्त होते कर्मों में हमारा ज्ञानभक्तिपूर्वक रहा करने का जीवित अभ्यास विकसित करना है । ऐसी जीवन में आती जाती वैराग्य की भावना हमारे मन को दूसरे सभी विषयों में संलग्न होने से रोकने का जीवित साधनरूप होगी । वैराग्य बिना जीवन का उद्धार नहीं है । वैराग्य बिना की सकल प्रवृत्ति **जीव**

को बंधनरूप ही है। वैराग्य की भावना भी जीवन में अलग-अलग क्षेत्रों के प्रति एक-सी, एकसमान रह भी नहीं सकती है। **जीव अर्थात् द्वन्द्व में जकड़ी हुई मूढ़ता की चेतना।** उस चेतना को मुक्त करने का प्रथम चरण अनासक्ति का है। ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. १३७ से १४२)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

१९. वातावरण

साधारण रूप से हम वातावरण का अर्थ आबोहवा करते हैं और अनेक बार हमारे आसपास उस समय बहते मनःप्रवाह - mood - को भी वातावरण कहते हैं। जैसे कि, भाषण के प्रारंभ में तो शांति थी, पर बाद में वातावरण गरम हुआ, ऐसा हम कहते हैं, तब उस समय उस समूह के भाव या मन के प्रवाह को 'वातावरण' कहकर नाम देते हैं। पर प्रतिदिन हमारे आसपास ऐसे एक दो नहीं पर अनेक प्रकार के वातावरण छाये रहते हैं, अथवा कहें कि अनेक प्रकार के भेद से भरे वातावरण छाये रहते हैं। इसकी जानकारी सभी को नहीं हो सकती। जिसने संपूर्ण एकता पा ली है, उसे यह भेद की कुछ झाँकी हो सकती है।

वातावरण मानवी को हिलाकर रख देता है। वह वातावरण द्वारा बढ़ता है। **बलवान आत्मा अपने में से ही वातावरण का सर्जन करती हैं।** इससे ऐसी प्रबल आत्मा को वातावरण असर नहीं कर सकता। यह सूक्ष्म वातावरण कोई हमेशा मानवी को ऊँची गति पर ले जानेवाला नहीं होता है। अनेक बार उसकी असर में से उबर जाना चाहिए ऐसा वह होता है। इस सूक्ष्म वातावरण में से उबर जाने का एक मार्ग, कुछ भी **पारमार्थिक विचार या कार्य में सख़्त सतत लगे रहना है। किसी भी तरह मन को सतत सात्त्विक रूप से प्रवृत्तिशील रखने से हम पर दूसरे वातावरण की असर नहीं होती।** 'सात्त्विक रूप से प्रवृत्तिशील' अर्थात् ऐसी प्रवृत्ति में कि जिसमें मन को आसक्त होने जैसा नहीं रहता। यह प्रवृत्ति स्थूल कर्म की हो तो उसमें भी सतत भगवद्भाव रहना चाहिए और उसका हेतु भी समझपूर्वक भागवती-कार्य का होना चाहिए।

हमारी सर्व शक्तिओं में मन अतिशय सूक्ष्म वस्तु है। उसे वातावरण सरलता से हिला सकता है। इन्द्रिय-स्पर्श से खड़े होते स्थूल वातावरण में तो वह अधिक टकराता है। पर इससे अधिक सूक्ष्म वातावरण में तो वह अधिक टकराता है। सज्जन या दुर्जन का संग इन दोनों के कारण होते मन पर के आघात और तनाव मन को अधिक लाभहानि पहुँचाते हैं, क्योंकि ऐसे आघात और तनाव की असर मन पर अधिक होती है। उदाहरण के रूप में कितने भी अधिक उग्र संयम से सभी इन्द्रियों को अपने अपने विषयों में से खिंच ली हो, तब भी मन से उन-उन इन्द्रियों के विषय के सेवन का विचार होते संयम से खड़ा किया वातावरण निरर्थक और मिथ्या हो जाता है।

साधुपुरुषों के निकट रहने से भी वातावरण की अच्छी असर होती है, पर यदि उस साधुपुरुष के प्रति हमें श्रद्धा, विश्वास और अत्यंत आदर तथा प्रेमभक्ति हमारे हृदय में प्रकट हुए हो तब ही। और ऐसे परस्पर सद्भाव होने से हमारे हृदय का संबंध अपने आप उसके साथ बंधता है और यदि हम अज्ञान से उससे अलग पड़े तो (यानी कि हम सतत प्रयत्न करते न रहे और उनके प्रति सद्भाव-आदरभाव-हमारे में से किसी कारण के लिए अदृश्य न हो) तो यह संबंध स्थायी रहता हैं। और उत्तरोत्तर हम उस असर में हमारी उस-उस समय की मनःप्रवाह की इच्छा अनिच्छा फिर भी खिंचते रहते हैं।

जीवनविकास के मार्ग में (गुणों से) विशुद्धि जितनी आवश्यक है, उससे अनेकगुनी अधिक इसकी शुद्धि की है। इससे साधक के तौलने के माप इतर मानवी से थोड़े बहुत अलग हैं। अपने मार्गप्रदर्शक के प्रति अश्रद्धा या असद्भाव का मन का या ऐसे किसी का एक भी तरंग - लहर न हो यह देखना उसके लिए अधिक आवश्यक है। ऐसी नजर और ऐसी शुद्धि अच्छे वातावरण से ही आती है। अच्छा वातावरण खड़ा करने के लिए खराब का सामना करने से अच्छा श्रेष्ठ बल बढ़ाने का प्रयत्न करें, यह अधिक सरल मार्ग है। जो बलवान है, वही अच्छे वातावरण को पैदा कर सकता है, इस विषय में तो शंका को कोई स्थान नहीं है,

क्योंकि खराब वातावरण को खड़ा करके फैलानेवाली शैतानी वृत्तियाँ उसके मन को हरा या थका नहीं सकती । अच्छा वातावरण सँभालने के प्रयत्न में भी अच्छा और बुरा के संग्राम में अच्छा ही जीतता है और टिकता है ।

कैसे भी खराब वातावरण की असर में हम हों पर यदि प्रभुकृपा के कारण किसी क्षण में अच्छे संस्कारों की तरंगे हमें टकराकर-स्पर्श कर जाते हुए लगे और उसे पकड़ ले तथा इसतरह ऐसे अच्छे मौके अर्थात् ऐसी तरंगों को पकड़ लेने की कला यदि हमें आ जाय तो हम अपने में नया जीवन सर्जन कर सकते हैं । फिर, विपरीत वातावरण में पड़े होने पर भी किसी संस्कारबल से हम सत्संग में आये हों तब भी हमें लाभ होता ही है । कुछ समय के लिए पुराना वातावरण हमारे सामने रहा करेगा और उसकी गुंजन और असर हम पर रहा करेंगी, परंतु यदि सामने का खिंचाव होगा और यदि हमने पुराने में से दिल हटाया होगा (हृदय से भावभरा स्मरण हुआ करते) तो यह सुंदर वातावरण जमने में देर नहीं लगेगी । एक बार उसके आनंद की मजा दिल में आने लगी तो फिर कोई बल ऐसा नहीं कि जो उस वातावरण को बदल सके । जैसे खराब के प्रलोभन हैं, उससे कई अधिक खिंचाववाले उसके आकर्षण होते हैं । यदि हम में वैसी तीव्र उत्कट इच्छा पैदा हुई हो तो । सचमुच मानवमात्र की अंतर्गत वृत्तियाँ भगवान की ओर मुड़ी ही होती है । इसप्रकार, वातावरण हमारे सर्जन में बहुत भाग निभाता है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २१६ से २१९)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२०. सलामत स्थिति

बाह्य संयोगों में सलामत स्थिति अर्थात् स्थितिचुस्तता और यह स्थितिचुस्तता अर्थात् जहाँ जैसे हो, उसमें ही संतोष तथा फलस्वरूप विकास की रुकावट और अंत में पतन । इससे साधक को कहीं सलामत स्थिति कर देना रास नहीं आयेगा । वहाँ किसी भी सीढ़ी में संतोष लिया

कि पतन के मूल उसमें रहा ही समझो । यह नियम व्यक्ति एवं समष्टि उभय को एकसमान रूप से लागू होता है ।

साधना के लम्बे और अविरत परिश्रम की अवधि दौरान कहीं संतोष मानकर स्थिर बैठे रहना साधक के लिए हो सकता ही नहीं । प्रत्येक स्थिति हमारी अपूर्णतासूचक होने से उसका जीवंत स्पष्ट भान हमें रहे तथा एक प्रकार की दैवी असंतोष की प्रचंड ज्वाला अंतर में धधकती रहने के साथ खूब धीरज भी होनी चाहिए । इसप्रकार, विकास की अदम्य, तीव्र सक्रिय इच्छा और अपार धीरज का सुंदर सुमेल साधक को रखना होता है ।

जीवन के प्रत्येक पहलू (phase) में हमें अपनी सलामती की स्थिति अनुभव नहीं करनी है, यह सभी चल है अचल तो एक सनातन प्रभु ही है, ऐसा हमेशा लक्ष में रखना चाहिए । जीवन में पसार होते या स्थिर होते परिणाम के प्रत्येक पहलू में सलामती की भावना (sense) हमें अनुभव नहीं करनी है, पर वह एक क्षणजीवी पहलू है, ऐसा समझना है । मन जहाँ सलामती की भावना कहीं भी, किसी में भी रखने का करे या अनुभव करे, वहाँ तुरन्त उसका सामना करके वैसे मनःप्रवाह को रोकना चाहिए । सलामती की स्थिति में ही रहने की आदत पड़ जाने से प्रकृति का त्रिगुणात्मक जोर हम पर चढ़ बैठता है । प्रकृति के ऐसे जड़ जोर को घटाने या निर्मूल करने में भी किसी में भी अपनी स्थिति सलामत रखने न दें, तो ही पुराने स्वभाव को बदलने के लिए, दिव्य रूपान्तर होने के लिए, हमें सरलता और वेग मिल सकते हैं । सलामत स्थिति में तो स्वभाव को बदलने का कहीं अवकाश नहीं रहा है । इतना ही नहीं, पर उल्टा उस स्थिति में पड़े रहने से यह पुराना स्वभाव अधिक दृढ़ होता जाता है ।

मन की वृत्तिओं के स्वरूप जैसे असंख्य हैं, वैसे उसकी चाल भी अनंत और अनेकमुखी है, ऐसा ही सत्य के विषय में भी कह सकते हैं। सत्य के शरीर या स्वरूप भी अनंत है । एक स्थिति में जो सत्य लगे, उसे पकड़कर रखें तो इससे भी पर का सत्य बाकी रह जाता है और अधूरा या एक ही तरफ के सत्य को पकड़े रहने का न हो पाये, इसलिए भी

किसी में भी सलामत स्थिति हमें रखने नहीं देनी है । तब ही हम से एक में से दूसरे में और दूसरे में से तीसरे में जाया जायेगा । एक में से दूसरे में जाने के लिए भी कहीं भी हम सलामत स्थिति रखे नहीं । सलामतीभरी स्थिति भोगते-भोगते एक प्रकार का जड़ संतोष हमें रहा ही करेगा और इसके कारण वैसी स्थिति में से कोई अज्ञात (unknown) स्थिति में कूदने का साहस, हिंमत, बल, जोश, उत्साह, उन्माद का नशा—कुछ ऐसा भी हमारे में नहीं आ सकता । साहसिकता को वह उत्तेजित भी नहीं कर सकता और अंत में सलामती की मनोदशा के कारण जहाँ जैसे पड़े हैं, वहीं पर वैसे ठीक हैं, ऐसा मान लेने या मनवा लेने को वह हमें प्रयत्न करेगा । नयी स्थिति में जाने के लिए वह हमें झिझकायेगा, अनेक तकरार खड़े करेगा और मानसिक दुःखों की परम्परा ढालेगा । ऐसा न हो— न होता रहे—इसके लिए साधक को सलामत स्थिति कहीं नहीं होने देनी है । इससे ही शायद **'साधु तो चलता भला'** ऐसा कहलाता होगा । **'चलता'** का अर्थ स्थूल चलना न करके, सतत विकास करते रहना ऐसा करना है । साधक की स्थिति भी ऐसी ही होनी चाहिए । मथन बिना अमृत कभी प्राप्त नहीं होगा । मथन साधक को जीवनविकास के लिए आवश्यक है, मथन मात्र अपने अंदर ही नहीं पर बाहर के संयोगों के साथ भी जरूरी है । कुछ न कुछ नया सीखने के लिए वह हमें मिला मौका होता है । यदि वैसी स्थिति रख सके, श्रीभगवान का हेतु समझ सके और उसके साथ-साथ साधना को योग्य वेग तथा जीवन में जोश ला सके तो हमारा कल्याण हुए बिना रह ही नहीं सकता । ऐसे आंतरबाह्य मथन का इतिहास, वृत्तांत, आध्यात्मिक दृष्टि से किसी साधक ने लिखा हो पता नहीं, पर यदि वे समदृष्टि से लिखें हो तो जगत को अमूल्य लाभ हुए बिना नहीं रहेगा । जगत के युद्धों से ऐसे युद्धों की कीमत अनेकगुनी बड़ी है । हमारा दिव्य रूपान्तर होने की दृष्टि से तो ऐसे आंतरिक युद्धों के इतिहास का अभ्यास अनिवार्य और आवश्यक है । ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. ६४ से ६६)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२१. साक्षीभाव

साक्षीभाव तीन प्रकार से रख सकते हैं और बिलकुल अकेला भी वह रह सकता है और फिर निरपेक्षभाव से । हमारे विचार, मनोभाव, भावना, रस, रस की प्रवृत्ति, संबंध, व्यवहार के क्षेत्र–ऐसे अनेक प्रसंगों में हमें साक्षीभाव अर्थात् उसमें अलगपन तो रखना है ही । पर वह अलगपन बिलकुल अलिप्तता का नहीं होना चाहिए, क्योंकि हमें अपने में रूपान्तर करना है अथवा तो वे आवरण हैं, इसलिए उन आवरणों से पर होकर जो स्थिति में हम सतत—प्रेमभाव से—रस से स्थिर रहा करें और तथापि जो कुछ किया करें ऐसी स्थिति हमें उत्पन्न करनी है, यानी कि साक्षीभाव रखना है । उसके साथ और उसमें हमें उतने प्रमाण में रस लेना पड़ेगा या जिस रस की स्निग्धता के कारण हम उस-उसको अपने वेग में शामिल करने को मथ सकें । हम उस सभी के साथ यदि Indifferent रहा करें, उन्हें कुछ गिनें नहीं या पर्याप्त लक्ष न दें या पूरा ध्यान न रखें तो जो सभी हुआ करेगा, परिणाम आयेगा, उसमें से जो गति उत्पन्न होगी, वह हमें मदद करनेवाली नहीं होगी । यह बात निश्चित है ।

यह बात भी छोड़ दें । हम जिसे 'साक्षीभाव रखा करते हैं' ऐसा गिनते हैं, यह हमारी मान्यता भी योग्य वास्तविक नहीं है । हमारा यह भाव हमें मददरूप नहीं, अवरोधरूप है । हमें जो साक्षीभाव रखना है, वह तो इस प्रकार का है । हम जिस-जिस संबंध में हो या आये उसमें हिलमिलकर या लिप्त हो या खिंच जाना तो नहीं ही है, पर उसके साथ-साथ सामनेवाले में (यानी कि व्यक्ति या प्रसंग या वातावरण या जिस किसी के साथ हमारा संबंध है या हुआ है उसके साथ) इसतरह रस लेना है कि जिससे वह योग्य रूप से व्यवहार करें और हमें फलस्वरूप सरलता प्राप्त हो । हमारे अंदर जो **जीव**स्वभाव है, उसे सूक्ष्मता से जाँचेंगे नहीं और बारबार बदलेंगे नहीं तो वह उसकी पुरानी आदतों के पाट अनुसार व्यवहार करेगा और हमारा साक्षीभाव कहीं बह जायेगा । हमें उसका भान भी नहीं रहेगा ऐसी पूरी संभावना है, इसलिए साक्षीभाव के साथ-साथ हमें विवेकवृत्ति रखने की भी उतनी ही आवश्यकता है ।

इसे एक साधारण नियम गिनकर हमें दूसरे सभी के साथ व्यवहार करना है, पर दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार करने पर वापिस आग्रहवृत्ति न आ जाय, ऐसा आसक्तिभरा रस न लिया जाय कि जिससे उसकी आग्रहवृत्ति से हम खिंच न जाय यह भी हमें देखना है। हमारी आग्रहवृत्ति भी हो सकती है, यदि उसके साथ-साथ ही हम तटस्थता रख सकते हो तो। आग्रह या अनाग्रह या तटस्थता उसके संवाद कैसे हो—सुमेल कैसे हो यह फिर दूसरा प्रश्न है। पर ऐसी तटस्थता के साथ की आग्रहवृत्ति में भी सामनेवाले के हित का ही प्रश्न मुख्यरूप से हमारे में भाग निभाता हुआ होना चाहिए।

इन सभी के साथ हमें प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुलनता बनाये रखनी आनी चाहिए। यह सभी एकसाथ कैसे हो ऐसा विचार आये, पर हम में वैसा-वैसा उत्पन्न होने लगेगा और वह देखते रहना है।

मैंने कितने ऐसे भी देखें है और अनुभव किया है कि जिसमें साक्षीभाव पूरा होने पर भी दूसरों के साथ शामिल या मिल गये लगा करे। पर ऐसों का तो ऐसी वृत्ति में कोई ओर प्रकार का ही हेतु होता है, इसलिए हमें तो सभी ओर से सोच समझकर काम लिया करना है।

जिसे एक बार इसमें रस होता है, पर वे यदि योग्य बहाव में गति कर नहीं सके हो तो उसके अंदर की सभी शक्ति व्यर्थ हो जाती है और रस मर जाता है। ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. २०६ से २०८)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२२. प्रेमतत्त्वनिरूपण

जीवनसाधना में हमें खूब आगे तक ले जानेवाला तत्त्व प्रेम है। हम जितने प्रमाण में उदार हृदय, निसंकोचता, निर्मलभाव, श्रद्धा और विश्वास से प्रेमभाव रखा करेंगे उतने प्रमाण में हमें चेतनतत्त्व का अनुभव होता जायेगा।

भगवान के आनंदभाव का जीवन में व्यक्त होना और वह अनुभव में आना यानी कि उस अनुसार सचराचरता में अनुभव करना, वह स्वरूप वह प्रेम। व्यक्ति के बिना इस भाव का अस्तित्व

संभव नहीं, इसलिए हम में भगवान के भाव का अनुभव करनेवाला और करानेवाला वह प्रेम ।

व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और व्यक्ति तथा दुनिया के बीच का द्वैत और अद्वैत—दोनों को पहचान करानेवाला जो तत्त्व है, वह भी प्रेम । प्रेम में भाव है, गति है, स्थिति है और वह हृदय के एक बिन्दु को मिलता है । प्रेम की शांति में (अंदर जो शांति अनुभव होती है उसमें) अतिशय वेगवाली गति और क्रियाशीलता तथा कार्यसाधकता भी है । संपूर्ण शांति और अपार शक्ति, परब्रह्म का निर्गुण तत्त्व और सगुण स्वरूप अथवा सत् और चित् का सुमेल प्रेम में है । प्रेम स्वयं आनंदस्वरूप है, इससे प्रेम सत्-चित्-आनंद की त्रिपुटी को अपने में प्रकट करता है और समाता है । इससे प्रेम में सुसंवादिता होती है । उसमें कहीं भी खोना या हानि नहीं है । केवल लाभ, लाभ और लाभ ही है । पर उसके पहले वह हम से गँवाना-फनागीरी माँगता है । हम **उस**के भाव में जितने खो जायेंगे उतना विशेष **उस**का रस अनुभव होगा, आनंद ले सकेंगे । 'चाह दो और चाह लो' यह प्रेमप्राप्ति की रीत है । पर प्रेम तो स्वयंभू और निरावलंबी है । इसलिए (किसी का - भगवान का भी) चाह लेने के हेतु से या आशा से यदि चाह-प्रेम दिया तो वह सच्चा प्रेम नहीं है । प्रेम तो कोई भी सामने की ओर से आशा अपेक्षा रखे बिना मात्र अपनेआप को आनंदपूर्वक, रसपूर्वक आहुति देने में ही अथवा अर्पण कर देने में ही मानता है । इससे प्रेम सबसे मुक्त होने पर भी वापिस सबसे बद्ध भी है । प्रेम अपने आपको प्रेमपात्र के साथ ऐसी रेशमगाँठ से बांधता है कि जिससे स्वयं संपूर्णरूप से उससे बंधा रहने पर भी सामनेवाले को (प्रेमपात्र को) संपूर्ण मुक्त रखता है । यह ताबेदारी भी कोई अनोखी चीज है । प्रेम की ताबेदारी और गुलामी मुक्ति की जितनी ही प्यारी है ।

प्रेम की शक्ति विराट है । हममें वह व्यक्त हो और उसका अनुभव हो, उसमें से हमें उसका उपयोग प्रचंड बल के रूप में किया करना है । उस शक्ति का जितना उपयोग किया करेंगे, उतना लाभ है, उस सर्वोत्कृष्ट प्रेम की भावना से भी हम तो पर हैं; प्रेम की शक्ति गूढ़ है सही, पर वह अचेतन या जड़ नहीं है । उसके आविर्भाव में तो प्रचंड चेतनशक्ति

प्रकट होती है और इसके अलावा उसका प्रवाह सतत बहता रहता है ।

हमारे हेतुओं से भी स्वतंत्ररूप से प्रेमभाव अपना हेतु (श्रीभगवान की प्रेरणा से) सिद्ध करने जगत में कार्य कर रहा है ऐसा उसका स्वतंत्र क्षेत्र है । और स्वतंत्र उसकी मर्यादा भी है, इसलिए यदि हम सूक्ष्म रूप से अंतर्मुख होकर उस प्रेमभाव का उपयोग अपनी साधना में नहीं करेंगे तो वह प्रेमभाव, वह दिव्य शक्ति अपने पुराने साधनों का, उस बेकार तथा अर्थहीन लगने से त्याग करता है और् जहाँ सचोट उपयोग होता है, वहाँ विकास होता है और अपनी भूमिका खोज लेता है । यह प्रेम की विराट शक्ति अकेले मानविओं में व्यक्त होती है ऐसा नहीं है । यह तो साक्षात् विश्वनियंता श्रीभगवान का भाव है । इससे वह सचराचर में व्याप्त है, परंतु हमारी अपनी अशुद्धिओं के कारण उसमें विकारपन, क्षुद्रता और पाशवीरूप हमें दीखता है । पर हम जैसे-जैसे उन सभी से पर होते जायेंगे और अंतर्मुख रहकर हमारी विकारता, क्षुद्रता और पाशवीता को दूर करते जायेंगे, वैसे-वैसे प्रेम के स्वरूप की शक्ति हमें स्पष्ट समझ आयेंगी और वैसे वैसे हम उसका उपयोग अधिक से अधिक करते जायेंगे, ऐसा होते-होते जीवन में प्रेम का उपयोग करने की सहज कला भी प्राप्त होगी । हमें प्राप्त शक्तिओं का उपयोग यदि हम अपने मार्ग में सतत नहीं करते रहें तो वे शक्तियाँ अपने आप अदृश्य हो जायेंगी और उसका हमें पता भी नहीं चलेगा ।

भगवान के भाववाला प्रेम जैसे-जैसे विकसित होता जाएगा वैसे-वैसे अधिक से अधिक आत्मसमर्पण वह करवायेगा । हम जैसे-जैसे समर्पण करते जायेंगे वैसे-वैसे प्रेमभाव भी हमारे में प्रकटेगा या उतरा करेगा । समर्पण पर हमें खूब जोश देना है । प्रेम में कोई आशा नहीं, क्योंकि वह तो अपनेआप, सरलता से, सहजरूप से बहा करता है । हृदय के कुंड में से फूट निकलते फव्वारे की उपमा उसे दे सकते हैं, क्योंकि वह सर्वतोमुखी है और स्वयं-स्फुर्त भी है ।

इसप्रकार के प्रेम को समझना और अनुभव करने के लिए दुनिया

के भावों से हमें पर होना पड़ेगा और वह कोई वैसी बातें किया करने से, बोलने से या लिखने से नहीं होगा। परस्पर प्रेम की भावना द्वारा जीवन को संलग्न करने का साधना का जो परम मार्ग है, ऐसे प्रीतियोग के मार्ग की साधना में (यदि वह कर सके तो) बहुत शक्ति आती है, परंतु वह तुम्हारे मेरे जैसे के लिए एकदम संभव नहीं है। जहाँ तक जीवदशा के अनेक प्रकार के आवरण में हम किलकिलाते हैं, वहाँ तक सचमुच तो हम इस प्रेम के नाम को उलटा अस्पृश्य करेंगे। ऐसे दिव्य प्रकार के प्रेम को समझने और अनुभव के लिए जीवदशा की अनेक प्रकार की वृत्तिओं को हमें झाड़ना होगा। यदि उस प्रेमभाव के प्रवाह के प्रति हम सचेतन पूरीतरह न रह सके, तो वह हमें छोड़ देगा और स्वयं योग्य पात्र में काम पर लग जायेगा, इसलिए उसकी ज्ञानभक्तिपूर्वक की जाग्रति की गरज जीवन में प्रकटी हुई होनी चाहिए।

वैष्णव संप्रदाय में भगवान को भक्त के लिए बेसब्री का वर्णन किया गया है। उस भाव से भी अधिक दिव्य और अधिक गहरा प्रेम का तत्त्व है। इसलिए हमारे प्रेम का आदर्श एकदूसरे के साथ प्रेम की भावना द्वारा संलग्न होना और जुड़ने का नहीं है पर भगवान के भाव का आविर्भाव करवाने के लिए है।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. ३६२ से ३६५)

● ● ●

प्रेम का साम्राज्य संपूर्ण विश्व पर रहा है। वह सचराचर सभी जगह है। प्रेम से ही एकदूसरे के साथ जुड़े हुए हैं। जड़ पदार्थों में वह आकर्षण के नाम से पहचाना जाता है, जीवंत प्राणिओं में विषयवासना और उच्चतर स्वरूप में प्रेम के रूप में व्याप्त है। मानवी में पशुत्व के अवशेष और प्रभुत्व के बीज रहे हैं।

अपने सर्वपन और स्वार्पण की बाबत में प्रेम जितना मौन रहता है, उतना ही निरभिमानी रहता है। अहंकार-मद और प्रेम इन दो के बीच कभी मेल नहीं खा सकता। प्रेम और मोह को भी तेज-तिमिर जैसा

संबंध है । जितने अंश में मोह उतने अंश में प्रेम का अभाव । मोह अंधा है। प्रेम असंख्य आँखोंवाला है। उसमें विस्तार भी है और गहराई भी है । उसे समुद्र से अधिक व्योम की उपमा अधिक उपयुक्त है ।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६० से १६६)

● ● ●

प्रेम अर्थात् ज्ञान। पूर्ण प्रेम और पूर्ण ज्ञान यह तो पर्यायवाची शब्द है।

('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १६९)

● ● ●

प्रेम की गरमी धधकती अग्नि से भी अधिक है और उसकी शीतलता मलयानिल से भी अधिक शीतप्रद है। प्रेम का स्वरूप सौम्य भी है और रौद्र भी है। दोनों स्थिति में वे कल्याणकारी हैं। प्रेम की पोषनकला सूक्ष्म, अति सूक्ष्म है। सर्जन कला इतनी सूक्ष्म नहीं, इसलिए वह परख सके ऐसी है, पर उसे परखने के लिए एकाग्र और केन्द्रित हुई ज्ञानभक्ति का उपयोग करना रहता है। प्रेम से होता नाश यह जीवन का उत्तम प्रकार का रचनात्मक पहलू है। इसप्रकार प्रेम सर्जक है, पोषक है और विनाशक भी है। प्रेम की वर्षा, उष्मा, गरमी, शीतलता, सौम्यता, हृद्रता, आश्रय, आशा, सहानुभूति, प्रेरणा ये सभी सूक्ष्म प्रकार के आंदोलन हैं, यह सभी को पहचानने के लिए हृदय में प्रेम चाहिए।

('जीवनसोपान', आ. ३, पृ. ७९-८०)

● ● ●

प्रेम को जूठा प्रेम खपता नहीं। उसे तो कुछ भी जूठा खपता नहीं। उसे तो खपता है हृदय का शुद्ध प्रेमभक्तिपूर्ण समर्पण, इससे जरा भी कम नहीं। प्रेम कोई रास्ते में भटकता नहीं पड़ा है।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. ११)

● ● ●

प्रेम के व्यवहार में संपूर्ण करुणादृष्टि ही बरसती होती है। उस करुणा के हार्द को भले हम न परख सके या न समझ सके, पर इससे उसका अस्तित्व कोई मिट नहीं जाता।

● ● ●

सच्चा प्रेम हक़ नहीं माँगता, प्रेम तो फना होने में अपनी जीत समझता है । प्रेम का राज्य तो हृदय पर है । प्रेम को बनावटी भाव या भावना के साथ कोई मतलब नहीं । प्रेम में अपने को भूलकर जिस पर प्रेम है, उसकेमय हो जाना होता है । प्रेम में माँग, आशा, अपेक्षा, बदला, किसी का स्थान नहीं है । प्रेम तो अपने को न्योछावर करना ही समझता होता है । प्रेम का प्रत्यक्ष लक्षण आकर्षण है । प्रेम अर्थात् स्वजन की गुलामी । प्रेम में त्याग, बलिदान और सर्वस्व का समर्पण आ जाता है । अपने अस्तित्व को मिटा देना उसमें रहा है । प्रेम में गेसरमझ नहीं है, दिल में दुःखी होना नहीं है, अभिमान नहीं है । प्रेम—भावात्मक प्रेम—जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ वह नंदनवन प्रकटाता है, अंगारे नहीं प्रकटाता । प्रेम में तप है, कष्ट है, कठिनाई है, परन्तु वह सब सहन करने में क्लेश, कंकास या संताप नहीं होता, प्रेम में कुछ भी कम होने जैसा नहीं है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ६३)

● ● ●

प्रेम के सर्जन को अंत नहीं है । वह तो सदा उन्नतगामी रहता है । उसकी दृष्टि नीची नहीं है । वह दृष्टि नीची करता है, वह ऊपर ले जाने के लिए । प्रेम नीचे उतरता है सही पर ऊपर उठाने के लिए । प्रेम मथन करवाता है, पर उसके मथन में वह जीव को सत्य समझाने के लिए मथता होता है । प्रेम को समझने के लिए प्रेम में मिल जाना चाहिए, वह सदा जागृत है, सहज प्रयत्नशील है । प्रेम सबसे मुक्त होने पर भी वापिस सबसे अधिक बद्ध भी है ।* ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १०३)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२३. अनुभव

हमें जो कुछ भी अनुभव हों, उन्हें गहराई में उतारते जाँय, तो वह

---

* श्रीमोटा लिखित 'प्रेम' विषयक पुस्तक में प्रेम का विस्तृत विवरण है ।

अनुभव और उसकी असर अधिक समय तक टिकी रहेंगी । पश्चात् जीवन्त स्वरूप लेगी और उसका सही लाभ उठा पाएँगे ।

हमारे जीवन का यदि सूक्ष्म की भावना में विकास करना होगा तो हमें सूक्ष्म अनुभवों में सूक्ष्मभाव समझने का प्रयत्न करना होगा । इसप्रकार की समझ पहले तो हमें अपने में बुद्धि से उतारनी चाहिए । बुद्धि से वह समझ में उतर सकेगी सही, परन्तु उसे मनोभाव और भावना के प्रदेश में ले जाकर अपने विकास के लिए अर्थपूर्ण सूचन मिला करें और अनुभव इसतरह हमारे हृदय में अंकित हों तो ऐसा करते-करते हमें स्थूल से सूक्ष्मभाव समझ में आता जाएगा और उसका रहस्य हृदय में उतरने लगेगा ।

अनुभव ऐसा होना चाहिए कि उस अनुभव में से प्राप्त ज्ञान हृदय से खिसक न जाय ।

भगवान भले ही शायद भारी से भारी बड़े अनुभव कर बताये, परन्तु इससे हम में जहाँ तक अनुभव का योग्यरूप से लाभ लेने की शक्ति, दृष्टि और वैसी अभिलाषा उत्पन्न नहीं हुई होती, वहाँ तक वैसे अनुभव ऊपर-ऊपर से चले जाते हैं ।

अनुभव कोई आधार बिना का होना चाहिए अर्थात् स्वयंभू प्रकट हुआ होना चाहिए । ऐसे अनुभव के आगे पीछे कोई समझ, मान ली कल्पना का जोश, संस्कार आदि ऐसा कुछ नहीं होना चाहिए । जो अनुभव हुआ हो और उसकी योग्यता तथा उसके महत्त्व की दृष्टि के साथ जो साधक हृदय से उसकी निष्ठा रखा करता है और उसकी शक्ति पर अपने जीवन का सर्वस्व न्योछावर किया करता है तो उसे जीवन में प्रकटे वैसे अनुभव आगे का मार्ग खोलकर बताया करते हैं और उसमें प्रवेश कराया करते हैं । इसमें भ्रमणा में पड़ जाने का कभी संभव नहीं होता ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४२)

(परम) अनुभव प्राप्ति हेतु सतत चिंतवन और ध्यान आवश्यक है। इससे भूमिका का निर्माण होता है। अमुक भूमिका के निर्माण होने के बाद अनुभव होने लगते हैं । जीवन का निचोड़ अनुभव है । पर वह तब ही होता है, जब हम भगवान में सतत तन्मय रहने का जाग्रत प्रयत्न करते रहेंगे और

ऐसा यज्ञ अविरत दीर्घकाल पर्यंत चालू रहे तो हमारे में ऐसा आंतरिक भाव खील उठेगा कि उसके प्रताप से सब कुछ होना संभव है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. ७४-७५)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२४. आत्मनिवेदन

आत्मनिवेदन अर्थात् हमें चेतन के भाव से जोड़नेवाली दिव्य कड़ी । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. ६०)

जो कोई अपनी कमजोरियों को छिपाता नहीं है और निवेदन करता रहता है, यह तो अच्छी बात है, परन्तु यदि वैसे निवेदनों में से प्राण प्रकट न होता हो और वैसा का वैसा ही **जीव**प्रकार के भावों में पुनः-पुनः पिरोना का हुआ करता हो तो ऐसे जीव को चेतना चाहिए, सोचना चाहिए, क्योंकि हृदय से रिसते भावभरे, सच्चाईभरे, प्रामाणिक निवेदन से तो अनम्यता आनी चाहिए, कितने जीवों के विषय में ऐसे भी अनुभव हैं कि वे आत्मनिवेदन तो करते हैं, तथापि अपनी निर्बलता को छिपाते रहते हैं । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. २३)

आत्मनिवेदन में हृदय का भाव महत्त्वपूर्ण हो तो उसमें अभिमान नहीं हो सकता । आत्मनिवेदन से हमारे हृदय का संबंध अधिक से अधिक चेतनभाव से निकटवर्ती होता जाता है और अधिक से अधिक स्पष्ट होते जाते हैं । हम में सरलता, प्रसन्नता, संतोष आते जाते हैं । जिस प्रकार मलशुद्धि विधि की प्रक्रिया है वैसे श्रीप्रभु के चरणकमल में किया गया निवेदन का है । आत्मनिवेदन से प्रत्यक्ष नम्रता आनी चाहिए । करणों की शुद्धि होती हुई अनुभव होनी चाहिए । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. ६०)

हृदय के आत्मनिवेदन कोई बीती की कहानी नहीं है । बीती की कहानी रोने से क्या होगा ? सचमुच हृदय से हृदय का होता आत्मनिवेदन तो एक प्रकार की शक्ति जगाता है । वह हमें विशेष जाग्रत करता है । हमारी निर्बलता को इंगित करता है । उसमें से सबल बनने की प्रेरणा देता है । जिस बात का आत्मनिवेदन हम करते हैं, उस विषय की सतत जाग्रति यदि

हम में प्रकटती अनुभव हो तो वह आत्मनिवेदन सच्चा जाने । **जिस बात का निवेदन हो सका हो वैसे इकरार में से तो दुबारा वैसा कर्म न हो सके ऐसी ज्ञानयुक्त जाग्रति रखनी चाहिए तब ही वह सच्चे हृदय का इकरार होगा ।** ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १५०-१५१)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२५. विवेकशक्ति

प्रभु हमारे पास से जिस प्रकार के दिव्य जीवन की अपेक्षा रखते हैं, वैसा जीवन प्राप्त करने के लिए विवेकशक्ति अनिवार्य है । अलग-अलग चीज या अलग-अलग विचार, भावनाएँ आदि के लक्षण परखकर उनके बीच का भेद और उसकी विशिष्टता देख सकने की शक्ति—यह एक ही कोई विवेकशक्ति का लक्षण नहीं है । अलबत्ता, इस शक्ति का वह एक मुख्य कार्य है । पर उसका विकास होते उस शक्ति द्वारा अधिक उच्च, अधिक जटिल और अधिक सूक्ष्म स्वरूपों के दर्शन हो सकते हैं । उनके प्रति सच्चा भाव रख सकते हैं और उसके द्वारा उसका योग्य वर्गीकरण करके उसका सच्चा मूल्यांकन कर सकते हैं । बुद्धि की इस शक्ति का योग्य ढंग से विकास हुआ हो और उसका सदुपयोग करने की ज्ञानपूर्वक की आदत पड़ी हो तो इससे सत्य की सूझ भी पड़ती जाती है और किस बात को कितना महत्त्व देना है वह भी मालूम पड़ता है । ऐसी समझ बिना सच्चा जीवन असंभव है ।

मनुष्य चतुर हो, होशियार हो, पर उसमें सयानापन–ज्ञान न भी हो । सच्चे ज्ञान का एक मुख्य लक्षण विवेक है । विवेक न हो वहाँ ज्ञान असंभव है । कितने ही मनुष्य बहुत भावप्रधान होते हैं और उनमें विवेकशक्ति बहुत कम होती है । इसका परिणाम बहुत हानिकारक होता है । केवल बुद्धि से या केवल भाव से या दोनों में से एक के अधिक झुकाव से जो जीवन जीते हैं, वैसा जीवन विवेकशक्ति वहाँ न होने से अपूर्ण ही है ।

विवेकशक्ति तो एक न्यायाधीश की और फिर श्रीकृष्ण जैसे सारथि की गरज पूरी करती हैं। अमुक विचार या वृत्ति, मनोभाव या भाव, अमुक व्यवहार योग्य है कि नहीं ऐसा प्रश्न जब उठता है और उसका मंथन जब मनुष्य के अंतर में होता है, तब विवेकशक्ति उसकी मदद में आती है। उस प्रश्न से लगती सभी बाजुओं का विचार करती है, उस प्रश्न के पक्ष और विपक्ष के लक्षण या तत्त्व खोजकर उसकी तुलना करती है और अंत में स्वयं कोई तीसरा ही व्यक्ति हो और मंथन पैदा करनेवाले प्रश्न के साथ मानो अपना कोई संबंध न हो ऐसी तटस्थता धारण करके फिर अपना निर्णय जाहिर करती है। ऐसी तटस्थता के कारण जो निर्णय होता है, इससे ही मनुष्य भगवान ने निषिद्ध किये मार्ग में भटकने से बच जाता है अथवा भटका हुआ वापिस लौट आता है। विवेकशक्ति न हो तो जीवन का कोई हेतु, कोई कारण या ध्येय नहीं रहता। जीवन में जो कुछ भव्यता है, प्रशंसापात्र लक्षण है, आनंद है, वह इस शक्ति के आभारी हैं। यह शक्ति जितनी कम उतनी हमारे जीवनपथ में गिर जाने या ठोकर खाने की संभावना अधिक।

विवेकयुक्त मनोदशा और आचरण के लिए जो तटस्थता की आवश्यकता है, वह तटस्थता अनासक्ति के बिना असंभव है। **तटस्थता और अनासक्ति लगभग पर्यायावाची शब्द हैं, तथापि उसमें भेद है। तटस्थता एक तरह से अनासक्ति का परिणाम भी गिन सकते हैं। यह अनासक्ति पाने के लिए हमें अपने मन के हिसाब से चलना छोड़ना पड़ेगा और प्रत्येक प्रश्न, प्रसंग या व्यक्ति के प्रति उस विषयक जो सच्ची मूलभूत हकीकत हो वही, केवल वही, देखना सीखना होगा और केवल उस आधार पर ही हमारा व्यवहार रखने का साहस, हिंमत और शक्ति पानी होगी।**

जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आते हैं—खास करके आज के सामाजिक, राजकीय, धार्मिक, आर्थिक आदि प्रकार की उथलपुथल के जमाने में—कि जब हम भावना की बाढ़ में एक लकड़ी की तरह बहते जाते हैं। ऐसे प्रलय की बाढ़ ऐसी तो प्रचंड होती है कि उसमें से बचने के लिए

विवेकरूपी नोआ की नौका (Noah's Ark) की आवश्यकता होती है अथवा हिन्दू धर्म का दृष्टांत लें तो हमारे में प्रभु के कूर्मावतार की आवश्यकता रहती है। इसके बिना हमारी भावनाएँ, हमारी चेतना के बढ़ते जाते बल से चिपकती जाती हैं और घेर लेती हैं । परिणामस्वरूप विवेकशक्ति रुँध जाती है और भावनाओं ने सजाये, प्रत्यक्षरूप से स्वर्ग जैसे, पर सचमुच विषमय ऐसे सुख में ठाटबाट से खुशी में इधर-उधर टहलते है । इसप्रकार, धीरे-धीरे, हमें कल्पना भी न हो इसतरह, ऐसी भावनाएँ हमें अपनी मायाजाल में फँसाती है और हमारा सर्वनाश करती है । तथापि यदि कोई हमें अपनी इस मोहनिद्रा में से जगाने का प्रयत्न करता है अथवा कोई ऐसा प्रसंग होता है कि इससे हमारा यह मनोराज्य तास के पत्तों के महल की तरह एकदम टूट जाएगा, ऐसा संभव खड़ा होता है तो हम ऐसे अपने सच्चे हितेच्छु स्वजन या प्रसंग के सामने गरज उठते हैं और बाघ की तरह उन पर लपकने के लिए तत्पर हो जाते हैं, और एक प्रत्याघात के रूप में सविशेष जोर से हम उस विनाशक किन्तु मोहक भावना के आवेश को लिपटते हैं। अंत में हम अपना पौरुष, अपना सच्चा नूर, व्यक्तित्व खो बैठते हैं, इतना ही नहीं, पर यह जो खोते हैं उसका भान भी नहीं रहता । हम तो प्रामाणिक निष्ठा से, सच्चे दिल से उस आवेग को ही अपना स्वत्व, अपना जीवन मान बैठते हैं । हम ही सच्चे हैं, हमने लिया मार्ग ही सही है और वही एक सच्चा है, दूसरे नहीं हमें समझते, नहीं हमारे संयोगों को देखते, नहीं हमारी भावनाएँ या भाव या विचारों को मान देते और वेकार हस्तक्षेप किया करते हैं तथा कड़वाश लाते हैं, ऐसा हमें लगा करता है । ऐसी हमारी दृष्टि और वृत्ति हो जाने से हमारे सच्चे स्वजन हमें आँख की कणिका की तरह चुभते हैं । हमें ऐसा ही दिखता है कि सारी दुनिया ने हमारे सामने प्रपंच किया है और हमारी मुरादे पूरी न हो इसके लिए कटिबद्ध हुई है। ऐसी दशा में पड़ने के बाद हमारा जीवन निःसत्त्व या द्वेषमय और खारा हो जाता है । सचमुच देखे तो ऐसी भावना से विवश होना यह मनुष्य के विकृत स्वरूप

की निशानी है । जब-जब किसी मनुष्य के या वातावरण के या इससे निम्न कक्षा के बल के पंजे में हम फँसे हैं, ऐसा हमें सूझे तब-तब उस दशा में से हमारा उद्धार करने के लिए, हमारा समग्र बल केन्द्रित करने के लिए, हमें अंतर की गहराई से प्रभु की प्रार्थना करनी चाहिए कि उसमें से हमें मुक्त करे । विवेक-सूर्य की किरणें भाव का अंधा कर देते कोहरा को बिखेर दे, इसके लिए सूर्य का आवाहन करने प्रचंड पुरुषार्थ हमें करना चाहिए ।

मनुष्य में अंतर्गत रहे हुए परमात्मा तत्त्व का पूर्ण आविष्कार होने में भाव का आवरण अवरोधकर्ता है, पर शायद विशेष अवरोध तो बुद्धि का आवरण करता है । बुद्धि भाव से भी अधिक आग्रही और अधिक लंबे समय तक अपना जीवन टिकाने के लिए शक्तिशाली है । बुद्धि की पकड़ भाव की पकड़ से अधिक मजबूत है । बुद्धि से चलते मनुष्य अनेक बार अपनी गलत मान्यता पर ऐसे सख़्त चिपके रहते हैं कि इससे उनका विकास होते रुकता है । विज्ञान, तत्त्वज्ञान या धर्मज्ञान में विशेषज्ञ ऐसे कितने ही पंडितों के विषय में हम जानते हैं कि वे अपने वाद में ही इतने अधिक उलझे होते हैं कि उस वाद के विरुद्ध की कोई भी विचारसरणी का तथ्य वे देख नहीं सकते ।

हमारे जीवनपथ में अनेक जटिल और नाजुक प्रश्न खड़े होते हैं । हम अनेक बार घबराते हैं कि अमुक प्रश्नों का हल कैसे होगा । उस प्रश्न के विषय में खड़े हुए अनेक प्रकार के मन के, भाव के, प्राणतत्त्व के बल हमें अलग-अलग दिशा में ले जाने को मथते हैं । ऐसे समय में हमारा संतुलन सँभाल सँभालनेवाली विवेकशक्ति है । यह शक्ति तो बलवान है और दृढ़ता यह उसका सच्चा लक्षण है । हेम्लेट की तरह 'यह करना या यह न करना' ऐसे शंकाभंवर में ही रचेपचे रहने की वृत्ति कोई विवेकशक्ति नहीं है । केवल तर्कशक्ति शंका ही पैदा करती है या खाली सपने रचे, केवल बुद्धिप्रभाव हमें चकाचौंध कर दे, केवल भावनाएँ हमें कहीं का कहीं खिंच ले जाय । पर विवेकशक्ति हमारी सहायता करके

वह तीनों शक्तिओं का योग्य प्रमाण में संमिलन करती है और उसके द्वारा हमारे कूट प्रश्नों का हल सूझाती है तथा कुशल व्यवहार करना सरल बना देती है ।

विवेक अर्थात् सम्यकदर्शन करानेवाली हमारी दृष्टि, योग्य भाव रखानेवाला हमारा हृदय, योग्य कर्म सुझानेवाली सद्‌बुद्धि । श्रीभगवान के पथ पर आगे बढ़ते, टकराते भटकते अनजाने प्रवासी के लिए तो वह अंधे की लकड़ी के समान है । मनुष्य का सच्चा सुहृद तो यह शक्ति है । यह शक्ति ही उसकी श्रद्धा टिकाये रखती है । उसमें नये प्राण डालती है और अनेक मुसीबतों का सफल सामना करने की युक्ति बताती है । हमारे आंतर-मानस का पृथक्करण करते-करते यह शक्ति हमें आत्मचिंतन तक ले जाती है । अरे ! उसे प्रार्थना कहें तो भी चलेगा । एक आदर्श का खूब भावपूर्ण चिंतन यह भी प्रार्थना ही है न ? इसप्रकार वह बलप्रद और ऊर्ध्वगामी है ।

पर इस शक्ति का विकास दंभी, आत्मवंचना करनेवाले व्यक्ति से कभी नहीं हो सकता । स्फटिक जैसे स्वच्छ यानी कि निखालस अंत:करण की नींव पर ही पूर्ण जीवन का भव्य महल बना सकते हैं । मन की स्थिरता विवेकशक्ति के विकास के लिए आवश्यक है, परन्तु अंतर की तीव्र अभिलाषा हो तो यह स्थिरता और विवेकशक्ति दोनों प्राप्त हो सकती हैं ।

विवेकशक्ति कितनी बार हम में विषाद की छाया भी लाती है, हमारी मनीषाओं की अयोग्यता, आज तक के हमारे प्रयत्नों की दिशाभूल तथा हमारी मान ली गई विजय का खोखलापन खोलकर अनेक बार विवेकशक्ति हमें दु:खी-दु:खी कर देती है । पर हमारा आध्यात्मिक प्रगति करने का प्रयत्न जोरदार होगा और हम में सही जिज्ञासा जागी होगी तो वह विषाद क्षणजीवी ही निकलता है और निराशा लानेवाली यह विवेकशक्ति हम में साहस और निर्भयता का संचार करती है । हम में आत्मश्रद्धा और आत्मविश्वास बढ़ाती है और दैवी शक्ति के ओजस से हमारे पूरे व्यक्तित्व को भर देती है ।

प्रत्येक विचार, मनोभाव, भावना, व्यवहार का सत्य के जैसी

ही कठोरता से और न्याय के जैसे निर्दय निष्पक्षपात से निरीक्षण करानेवाला सूक्ष्मदर्शक यंत्र यह विवेकशक्ति है । प्रत्येक वृत्ति, भाव आदि का रहस्य देखे बिना उसका छोर वह रखती नहीं । इससे ही वह प्रत्येक का अच्छाखराब या उसका सहीगलतपन का अंश हमारी नजरों के सामने रखती है । साधारण मनुष्य को तो इसका स्वप्न में भी ख्याल न आये ऐसा, पाताल के गर्भ में प्रवेश किये हेतुओं को वह बाहर खिंच लाती है और उसके द्वारा योग्य मार्गदर्शन करती है ।

विवेकशक्ति बाहर के दिखाव से ठगने से हमें बचाती है । 'पीला यानी सब सुवर्ण नहीं' यह कहावत की यथार्थता वही सिद्ध करती है । सत्य और सत्य का आभास इन दोनों के बीच तो आसमान जमीन का अंतर है । मोहक दिखावा और सच्चा नूर यह दो अलग ही तत्त्व हैं, यह सिखानेवाली विवेकशक्ति है, उसी तरह कुरूप अरुचिकर दिखावा से उत्पन्न होती घृणा में से भी वही बचाती है । यही समझाती है कि **खेत का खाद कितना भी दुर्गंध फैलाये, तब भी उसका सृष्टि में स्थान है ही और वहाँ उसका उपयोग भी है ही,** इसतरह हम में मानसिक उदारता, वैसी समझ-कला लाती है । कठोर दिल के मनुष्य का मनुष्यों या प्रसंगों के पीछे भी अमुक हितकारक, कल्याणकारक उद्देश है, ऐसा समझाकर कितना धैर्य और आश्वासन और बल वह देती है ! उस शक्ति द्वारा ही हमें ख्याल रहता है कि मधुमक्खी डंक देती है, पर मधु जैसा स्वादिष्ट और पौष्टिक खाद्य देनेवाली भी मधुमक्खी ही है । कोयल है तो काली पर उसका कंठ किसे मुग्ध नहीं करता ?

परम हितकारी और आनंददायी यह गुण विकसित करना यह प्रत्येक के अपने हाथ की बात है । विद्या की तरह वह भी उपयोग करने से विकसित होता है । जीवन की महान समस्या के समय ही नहीं पर छोटे छोटे दीखते प्रतिदिन के प्रसंगों में भी उसका उपयोग करने की आदत डालनी चाहिए । ऐसा होते ही उस गुण के कारण हमारा दिव्य रूपान्तर

---

* 'कर्मउपासना' और 'कर्मगाथा' नाम की पूज्य श्रीमोटा की दो स्वतंत्र रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं ।

होता जाता है। हमारा जीवन व्यष्टि से समष्टि तक फैलने लगता है। फिर तो वह शक्ति दैवी प्रेरणा या आंतर्नाद में परिणत होती है, तब सत्य खोज निकालने में एक क्षण की भी देर नहीं लगती। स्थूल चीजों की तरह प्रत्येक का हार्द हमारे अंतर की आँख के आगे तुरन्त ही खड़ा होता है। अंत में निर्भ्रान्त मार्गदर्शक शक्ति वह हो जाती है।

कोई भी विचार या भावना या वृत्ति कितनी भी जोरदार हो, आग्रही हो, छा जानेवाली हो तब भी उसके सामने विवेकबुद्धि ने दिये शस्त्र द्वारा हमें लड़ना ही पड़ेगा। उसे अपने हृदय में हमेशा के लिए स्थान तो नहीं ही दे सकते।

ऐसे अनेकविध दिव्य आयुधोंवाले और बलवान योद्धा को हमें सतत अपनी सहायता में रखने का प्रयत्न किया ही करना है। विवेकशक्ति की अनिवार्यता तथा उत्तमता का सत्य हमें जितना शीघ्र सुझे और उसका ज्ञानपूर्वक का उपयोग जितना अधिक करते हो जायेंगे उतना विशेष लाभ हमें होगा। ('जीवनसंदेश', आ. ४, पृ. १२७ से १३५)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

२६. कर्मसाधना*

जो जो परिस्थिति में हम हो वह साधना के विकासार्थ ही यदि वह किया करने की परवाह हो तो, उसमें से हमें अत्यधिक सूझना चाहिए ही। हमारी अनेक प्रकार की कमियाँ उसमें से हमें दिखेंगी ही। पर यदि साधक उसके प्रति बेपरवा—बेध्यान रहा करे और उसमें उसे थोड़ा भी महत्त्व न दे, या वह सुधार के प्रति सावधान, उद्यमशील न रहा करे, जीवित न रहे, जागृत रूप से युद्ध न करता हो तो वह साधक साधना में गहरा प्रवेश न कर सकेगा। जिस-जिसमें पिरोना होता है वहाँ-वहाँ से साधक को सीखते ही रहना है। यदि वह सीखा न करता हो तो वह कर्म एक सामान्य मनुष्य लीक की तरह किया करता हो और हम वह करते हो तो इसमें फिर कोई अंतर न रहा। हमारी अनेक भूलें, दोष ऐसे हैं कि जो कहने से या बताने से नहीं सुधर सकते। इससे ऐसे संयोगों

में हमें रखना श्रीप्रभु करते हैं कि जिससे सचोटरूप से अपने स्वभाव की पकड़ कहाँ-कहाँ रहा करती है तथा किस भूल से—दोष से कर्म में कुशलता व्याप्त नहीं है, यह सभी बारबार उसकी नजर में आता ही रहता है और तब भी साधक पुनः-पुनः वैसा किया करे तो परिस्थिति का हेतु मर जाता है । **परिस्थिति को सहन कर लेना और उसका स्वीकार करना इन दोनों में आसमान जमीन का अंतर है । साधक परिस्थिति को सहन कर ले, इसमें उसके जीवन का विकास नहीं होता ।** यह तो जब उसे हृदय से स्वीकार करे तब ही वह उसके साथ अपना तादात्म्य साधकर हृदय से लाभ पा सकता है । जब कि सहन कर लेने में तो अंतर ही रहा करता है और वैसी परिस्थिति का हेतु मर ही जाता है । इसप्रकार, साधक को कर्म का कहो या परिस्थिति का जीवंत हेतु क्या है, उसे सतत सामने रखकर ही उसमें प्रवेश करना या उतरना है । इससे नीचे के मुद्दे उसमें से सिद्ध होने चाहिए :

(१) भावना को कर्म में उतारना चाहिए, कि जिससे भावना अधिक से अधिक ज्वलंत, प्राणवान, चेतनप्रद ध्येय की आतुरतावाली बनें ।

(२) कर्म करते समय उसमें दूसरे का ख्याल नहीं रखना चाहिए । दूसरा तो वहाँ मात्र निमित्त होता है । अपने को बदलने के लिए ही जो कुछ हुआ करता है, ऐसा अभ्यास करना चाहिए । कर्ममात्र जीवन के विकास के लिए मिला है । इसके बिना कर्म का कोई उद्देश नहीं है ।

(३) कर्म करते हुए हमें जो भूलें पता चले उसे सुधारने के लिए दृढ़ संकल्प होना चाहिए । और धीरे-धीरे उसमें कमी आनी चाहिए, तब ही उसका कोई अर्थ है ।

(४) सारे कर्म स्वस्थता से—धाँधलरूप नहीं और वह भी हो सके उतनी तटस्थता से—उसमें मिश्रित हुए बिना हुआ करे ।

(५) उस उस कर्म के पीछे हमारे साथ कोई खड़ा ही है, ऐसी अनुभव से निष्ठा साधक की विकसित होती जानी चाहिए ।

(६) कर्म होने के पश्चात् उसके विचार उसे उद्‌भव नहीं होने चाहिए

अथवा साधक को आते हो तो उसे मन को समझाकर वैसा होने के कारणों की जाँच करनी चाहिए । उसके विचार आये करने का मुख्य कारण तो मन उसमें शामिल है ऐसा समझना है । साधक का मन खाली ही रहा करना चाहिए और उसका ऐसा जीवित ख्याल—अभ्यास—उसे करते ही रहना होगा ।

(७) उन कर्म के आदि, मध्य और अंत में समर्पण की भावना जीवित रखनी चाहिए ।

(८) वह वह कर्म करते समय उसमें वह आत्मकल्याण के लिए ही हुआ करता है (प्रभु का काम है, इसलिए हमारा रूपान्तर होने के लिए है) ऐसा भाव रहना चाहिए । यह कठिन लगेगा पर यह भावना साधक को रखनी ही होगी ।

(९) **कर्म को करते हुए यदि हमारा रूपान्तर न हुआ करता हो तो फिर उस कर्म का कोई अधिक अर्थ फलित नहीं होता, यह साधक को लक्ष्य में रखना है ।** स्वभाव का दर्शन होने—उसका रूपान्तर होने—के लिए तो कर्म-प्रसंग साधक को प्राप्त होते हैं । साधक यदि उन सभी से खिसियाना हो जाय तो वह कदापि उससे ऊपर नहीं आ सकता । इसलिए उसे कर्म करते हुए अंतर की शक्ति उत्पन्न करके स्वयं सब कुछ करने को शक्तिमान है ही ऐसा निश्चय का साक्षात्कार किया करना होगा और वैसा होते ही साधक की शक्ति बढ़ती जायेगी ।

(१०) उस उस कर्म के फल या परिणाम की आशा साधक कभी भी न रखें, उस विषय में तो उसे सोचना ही नहीं होता, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि उसका परिणाम नहीं है ।

(११) तकली पर से जैसे सरलता से सूत सुलझता रहता है, वैसे साधक अपने कर्म का हल लाने का अभ्यास करे । वह कभी घबराये नहीं । अत्यधिक अनेक प्रकार का काम आ पड़ा हो तो कौन-सा पहले होना चाहिए यह सोचकर उस-उस काम हल करता जाय, तब (उस उस समय) वह मन में दूसरे काम का बोझ सिर पर लेते हुए नहीं घूमना

चाहिए । यह तब ही हो सकता है कि यदि साधक में यथायोग्यरूप से व्यवस्थाशक्ति, व्यवस्थिति आ गई हो या न आये हो तो उसे लाने का उसका सतत जीताजागता प्रयास हो, पर उसमें वह किसी तरह स्वभाव-वश न आ जाय यह तो ध्यान में रखना ही पड़ेगा ।

(१२) जो कर्म करना हो उसके सर्वांगीणता का चित्र साधक के सामने आना चाहिए, उस कर्म के साथ का जो कुछ निरन्तररूप से होना हो, वह कर्म भी उस कर्म के साथ लेने चाहिए । नहीं तो वे कर्म सारे अधूरे ही हुआ करेंगे ।

कृपा करके यह हम सभी को बारबार ध्यान में लेना है । दो-दो, तीन-तीन दिन में उसका मनन-चिंतन भी होना चाहिए कि जिससे उस कार्य में कर्मकुशलता आया करे ।

(१३) जिस-तिस कर्म में साधक को विवेशक्ति-बुद्धि-संतुलितता-आकलन शक्ति—सभी का उपयोग करना होगा । उसमें वह उलझ न जाय इसके लिए सावधानी रखनी होगी । जिस-तिस वस्तु की समझ-पकड़ साधक को आ जानी ही चाहिए ।

(१४) जो-तो कर्म करते हुए अनेक लोगों का अथवा अपनों या परायों के स्वभाव के दर्शन तो उसे होने ही है, पर साधक को वह कुछ भी मन में संग्रह नहीं करना है । किसी मनुष्य की प्रकृति भूलने की हो और वह ऐसा याद न रखे तो वह कर्म स्वभाववश ही किया गिनायेगा । जब साधक स्वयं वह वह ज्ञानपूर्वक किया करे, तब वह स्वभाव से ऊपर तैरा करेगा । जिस मनुष्य की भूलने की प्रकृति या स्वभाव हो और वह सब भूला करता हो, पर उसके पीछे की जो चेतना जाग्रतिमय सावधानी—सावचेती—और उसकी ज्ञानपूर्वक की समझ यह सब यदि न हो तो वह एक प्रकार की जड़ता का ही प्रकार कह सकते हैं । साधक अपनी ऐसे प्रकार की प्रकृति या स्वभाव की विशेषता का लाभ अवश्य उठा सकता है । ऐसे **जीव** को यह अपना कोई सद्‌गुण है ऐसा मानना नहीं है । उसी तरह एक व्यक्ति को सतर्क रहने की आदत हो, पर तब कर्म में उस आदत

के आधार पर कर्मकुशलता आये या व्याप्त हो, वह ठीक है पर ऐसे वह भी कर्म में पर्याप्त जाग्रति, सावधानी, सजगता, विवेकशक्ति, उसकी (कर्म की) सर्वांग अखंडता की पकड़—समज—चेतना—कर्म के हेतु का जीवंत ख्याल उसमें (कर्म में) रहना चाहिए । मतलब कि दोनों प्रकृतिवाले के कर्म करने के लक्षण तो समान ही होने चाहिए । जिसमें चौकसी नहीं है, उसे वह लानी ही होगी । इसके बिना उसका चारा नहीं, क्योंकि इसके बिना अपने स्वभाव का रूपान्तर वह कर सकेगा ही नहीं वैसा ही सभी में समझना है ।

(१५) **कर्म में तादात्म्य होना यह एक अलग बात है और कर्म में डूब जाना यह बात अलग है । डूब जाने में मुख्यरूप से स्वभाववश ही हुआ करता है और तादात्म्य में ज्ञानपूर्वक की जाग्रति चेतना होनी चाहिए ।**

नदी की बाढ़ में बहती लकड़ी जैसे परवश होती है, पर बाढ़ में बहता मनुष्य तो पार निकल सकता है । उसी तरह हम सभी स्वभाव के पाश के प्रवाह से जो-तो करते हैं, पर हमें वहाँ तैरते रहने का जीताजागता पुरुषार्थ किया ही करना है । साधक कर्म के साथ फिर उसमें व्याप्त न होने का दिल में ख्याल-भान-ज्ञान तो अवश्य ही रखा करता है ।

ऐसे ही स्वभाव या प्रकृति के जोश में जो कोई कर्म किया करता है, उससे जो कोई विचार करके कर्म करता है, ऐसे के जीवन में विकास होना अधिक संभव रहता है । यदि सोचकर करने की मात्र आदत हो, पर उसमें यदि साधक अपना ज्ञान, जाग्रति, चेतना, विवेकशक्ति, तटस्थता, संतुलितता आदि उसमें तादृश्य रूप से न रहा करते हो तो वह भी एक प्रकार का स्वभाव हो गया गिना जायेगा । यद्यपि वह स्वभाव अधिक ऊँचे प्रकार का गिना जायेगा, यह बात निःसंदेह है । इसलिए कुछ भी लीक अनुसार नहीं होना चाहिए ।

यह सब यदि हम ख्याल में रखें और उसका चिंतन-मनन करें तो कर्म में कुशलता आया करेंगी । ('जीवनपाथेय', आ. ३, पृ. ६१ से ६८)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

२७. वृत्तियाँ

वृत्ति अर्थात् गति । यदि हमें सच्ची वृत्ति—किसी भी प्रकार की हो—जागी होगी तो वह गति करवाएगी ही । ऐसी गति जागे तो समझना कि वृत्ति जागी है । बाकी तो मात्र सामान्य लहरी—वृत्ति की लहरी—आकर चली गयी ऐसा जानें ।

प्रभु ने हमें अनेक प्रकार की वृत्तियाँ बक्षी हैं । उन सभी का दिव्य हेतु है । वृत्ति के पीछे ज्ञानपूर्वक का हेतु यदि मनुष्य जान सके तो प्रकृति की वह एक बड़ी भेंट है, ऐसा उसे ज्ञान होगा ।

हमारी वृत्तिओं को हमें केन्द्रित करनी होती हैं । यदि वह बिखरी दिशा में व्याप्त होगी तो उसका बल घट जाएगा । वह स्वयं ही हमें मददरूप हो वैसा अंत में उसका नियमित होते जाना रहता है । हमें उसके नचाने से नाचना छोड़ देना होगा ।

हमारी सर्व वृत्तिओं का जीवन में समन्वय करना होगा । भले ही वे सभी वृत्तियाँ यहाँ से वहाँ स्वच्छंदता से व्याप्त हों, तब भी यदि एकाद कोई ऐसी भावना में खूब दृढ़ता से और उसकी उत्कटता में जाग गये होंगे, तो अपनेआप दूसरी वृत्तिओं का जोश नरम पड़ ही जाएगा । जब हम अत्यन्त क्रोधित होते हैं, तब दूसरी वृत्तियाँ शांत हो गई होती हैं और क्रोध की वृत्ति ही आगे रहकर हम पर अधिकार कर लेती है अथवा तो कोई भारी उलझन में उसे हल करने के लिए खूब एकाग्र हुए होते हैं, तब भी एक वृत्ति अग्र रहती है । इसलिए यदि हमें दूसरी वृत्तिओं को मंद करना हो, उनकी स्वच्छंदता मिटानी हो तो साधक को अपने ध्येय की भावना में खूब उत्कट भाव से लगे रहना चाहिए । इसके बिना ध्येय की प्राप्ति होनी असंभव है । ('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १०१)

(अनुष्टुप)

वृत्तियाँ तो कितनी ही उठे भोर में ओस क्या !
उसके बिंदु प्रथम किरण आते लुप्त होते दीखे सब ।

वृत्तियाँ जो मन में होती उसीको निहारा करें,
कहाँ-कहाँ उसकी उल्टासीधा परख लें वहाँ-वहाँ,
जहाँ-जहाँ उसकी टेढ़ी गति न जाँय उसके पीछे,
इसतरह नीरखे, काम लो उसके साथ ।

(शिखरिणी)

मीनारें लाखों जगजन चुने वृत्तियाँ लूली से वे,
समय आये तब चकनाचूर हो वे मीनारें गिरती ।

('पुनित प्रेमगाथा', आ. २, पृ. १४४, १४८)

वृत्ति का सदुपयोग :

विवाहित जीवन यह कोई केवल मात्र कामतृप्ति के कोरे संतोष के लिए नहीं है । जीवन में उस वृत्ति का संयम लाने के लिए और उसमें से जीवन की समझ और भावना ज्ञानभक्तिपूर्वक लाने के लिए विवाहित जीवन का हेतु है । मानवीशरीर में जो अनेक प्रकार की वासनाओं का उदय होता है, उस संस्कार के उदय के परिणाम प्रति यदि मानवी का मन देखना रखे और उसके साथ जीवन के आदर्श का योग्य सुमेल कहाँ- कहाँ नहीं हो पाता, उस विषयक तटस्थता से विवेकपूर्वक सोचे, तो वैसा मानवी वासना को उस-उस तरह भोगने में अवश्य हिचकिचायेगा । जीवन का रहस्य और महत्त्व समझे बिना, जीवन का आदर्श भी निश्चितरूप से हृदय में आकार लिये बिना, कोई भी **जीव** कामवासना को संयम की भावना से विकसित नहीं कर सकेगा । यदि विवाहित जीवन में कामतृप्ति अनिवार्य है और प्रजा की उत्पत्ति भी होनी है, यह बात भी यदि निश्चित है—इसप्रकार, यह दोनों हकीकत यदि निश्चित हो, तो मानवी को जैसे प्रत्येक की मर्यादा होती है वैसे उसकी भी मर्यादा बांध लेनी चाहिए । वस्तु का सदुपयोग करने का अधिकार है, बिगाड़ने का नहीं । जैसे वस्तु का अधिकतर यद्वातद्वा उपयोग होने से वह घिसकर बेकार हो जाती है, वैसा कामवासना का भी है । **काम की वृत्ति मानवी के हृदय का एकराग लाने, कराने और एकभाव से जुड़ने के लिए है, उसके**

साधनरूप है । प्रजा की उत्पत्ति यदि होनी ही है, तो वह उत्तमोत्तम हो ऐसा सोचने का काम भी मातापिता का है । कैसे भी बच्चे पैदा करने यह तो अशिक्षित बात है । जिसमें थोड़ी भी अक्ल है, वह तो बच्चे जितने अच्छे हो उतना अधिक अच्छा ऐसा ही चाहेंगे । बालक अच्छे होने उसका माँबाप की मानसिक दृष्टि, वृत्ति और भाव पर सकल आधार है । इसलिए मातापिता जितने उत्तम, सात्त्विक विचार, व्यवहार करनेवाले हो और कर्म करते समय जितना अधिक हृदय की भावना से चिंतनशाली रहते हो उस पर बालक के संस्कार गढ़ने का पूरा आधार रहता है । **संसार तो चलता ही रहेगा–जो चलता है, उसका नाम ही संसार है ।** प्रत्येक कोई एक से अनेक होने को ही सर्जित हुए हैं । **जीव** में भी वैसी सहज वृत्ति है ही । काम की वृत्ति के पीछे का वैसा ज्ञानपूर्वक का हेतु मानवी यदि समझ सके तो प्रकृति की यह बड़े से बड़ी और उत्तम से उत्तम बक्षिस मानवी को मिली है, इसका उसे ज्ञान हो । इससे काम की वृत्ति ही अयोग्य है ऐसा कहना यह ठीक नहीं, पर उसका जीवनविकास के लिए ज्ञानपूर्वक का उपयोग होना चाहिए, बेकार का नहीं । **बालक को उत्पन्न करना हो तो वह उत्तम में उत्तम हो ऐसा मानस, विचार, भावयुक्त ज्ञानपूर्वक का व्यवहार करने के बाद काम की वृत्ति का उपयोग लेना यह यथार्थ गिन सकते हैं । और उस कामवृत्ति के रस में उस समय अंधे होकर लीन नहीं हो जाना है, पर बालक के जीवन की भावना उस समय मनहृदय में जागती रहे, वैसी consciousness चेतनाभरी जागृति हम में रहे, ऐसे हम रह सकें तो ही उस कामवृत्ति का सदुपयोग, नहीं तो दुरुपयोग है ।**

जिसे मानवी अपनी मेहनत का पाया धन या ऐसा जो कुछ वह अपना मानता है, उसका उपयोग वह जैसेतैसे नहीं करता, उसके पास होता है, उतना वह खर्च नहीं करता, यह तो प्रत्यक्ष समझ में आये ऐसी बात है । स्वयं प्राप्त संपत्ति कितनी भी वह तितरबितर करे, तथापि उसमें उस तरह खर्च जाने के खराब परिणाम का उसे विचार आये बिना नहीं रहता और सब खर्च हो जायेगा तो बुरा हाल होगा, इसका भी उसे पता होता

है। लाखों में कोई ही ऐसा होगा कि स्वयं प्राप्त संपत्ति का ऐसा तहसनहस हो जाय ऐसा दुरुपयोग करे। ऐसे के भाग्य में अंत में तो कमनसीबी ही लिखी होती है। यह भी हमने जगत में देखा है। इसप्रकार, मानवी प्राप्त जगत की शक्ति को सामान्यतः फालतू नहीं जाने देता, उल्टा सँभाल सँभालकर उपयोग करता है। कितने तो फिर कंजूसाई से उपयोग करते हैं और कितने किफायत से भी उपयोग करते हैं और कितने उसे दिल की उदारता से भी दान में देते होते हैं, किन्तु ऐसी संख्या बहुत ही कम होती है। मात्र प्रकृति की ओर से मानवी को जो संपत्ति मिली होती है, उसे मानवी यद्वातद्वा से उपयोग करता है। उसमें वह स्वच्छंदता से व्यवहार करता है। उसका वह बेफामरूप से दुरुपयोग भी किया करता है और स्वयं उस तरह जीवन से तबाह होता जाता है, उसका उसे भान भी नहीं रहता है। प्रकृति की ओर से मानवी को मिली कामवृत्ति उसके अपने उपभोग के लिए है, ऐसा मानने में वह भूल करता होता है। **वह शक्ति तो मिली है, परस्पर हृदय से एक होने, एकदूसरे के हृदय के प्रति आकर्षण होने, एकदूसरे में एकभाव से, एकराग से, एकरस से व्याप्त होने, एकदूसरे के हृदय में एकनिष्ठा से रहने के लिए प्रेरणात्मक बलरूप मिली है।** स्त्री के स्वभाव में और पुरुष के स्वभाव में स्थूलरूप से ईर्ष्यावृत्ति है (स्त्री अपने पुरुष को अन्य स्त्री के साथ खेलते, बातें करते या विनोद करते नहीं सह पाती, उसी तरह पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे पुरुष के साथ बातें करते, हँसते, खेलते, कूदते या आनंद करते नहीं सह पाता।) वह भी एकदूसरे में बलपूर्वक भी एक रखने के कारण से रही होती है। यदि ऐसा स्त्रीपुरुष के स्वभाव में ही न होता तो समाज का निर्माण मूल आधारहीन व्याप्त होता और कोई भी अपनेअपने स्थान में व्यवहार न कर पाता। यह तो पुरुष या स्त्री की बहिर्मुख वृत्ति को वापिस ठिकाने लाने के लिए एकदूसरे की वैसी वृत्ति कुदरतीरूप से मानवी को मददरूप बनती होती है। बाकी, स्त्री या पुरुष अपनेआप स्वयं पर स्वेच्छा से अंकुश स्वीकार कर भानपूर्वक, ज्ञानपूर्वक, रामसीता जैसी भावना या वृत्ति जीवित रख सके ऐसा भाग्य से ही होता है। इसप्रकार, कुदरत की

ओर से प्राप्त शक्ति जो कामवृत्ति है, वह तो मानवजीवन का उद्धार करने और मानवजीवन को सचेतन करने, उसे नवपल्लवित, प्रेरणान्वित करने, उसे **एकोऽहम् बहुस्याम्** के भाव की लीला में व्यक्त कराने श्रीभगवान की शक्ति प्रसादरूप मिली है। किन्तु उसे उस स्वरूप में कौन पहचानता है ? और कौन जानता है ? उसे भोगनी है, पर त्याग करके। मानवी की प्रकृति में भोग और त्याग की वृत्ति कुदरत ने रखी ही है। मानवी भोगता भी होता है और त्याग भी करता होता है। किन्तु वह दोनों कर्म मूर्ख रूप से करता है, इसका उसे भान भी नहीं होता। भोग और त्याग यह तो प्रकृति के सहज लक्षण हैं। हम यदि ठीक गहराई से सोचे तो जीवन के सभी क्षेत्रों में उस उस क्षेत्र के व्यवहार में भोगते भी होते हैं और त्याग भी करते होते हैं। मात्र उसका उस समय समझपूर्वक का जाग्रतिभरा ज्ञानभान हमें होता या होता नहीं है। जो मानवी कम से कम भोग भोगता है और अधिक से अधिक त्याग करता है वह दैवी हो सकता है। वैसा ही **जीव** श्रीभगवान की लीला समझने की दिव्य दृष्टि विकसित कर सकता है। **इस कारण से कुदरत की ओर से प्राप्त शक्तिस्वरूप जो कामवृत्ति है, उसे भोगने का कोई मना नहीं करता, पर उसका उपयोग अमर्यादित रीति से करो तो वह स्वयं असल शक्ति स्वरूप है, पर उसका जो दुरुपयोग करता है, उसे वह कभी 'जाने' भी नहीं दे सकती, उसका जो ज्ञानपूर्वक सदुपयोग करता है, उसका उत्तम फल भी वह मानवी को चखाती है।**

कुदरत ने जो भी शक्ति कृपा करके मानवी को बक्षी है, वह कोई ऐसे ही नहीं है। उसके पीछे भी कारण हैं। उसका हेतु भी है। श्रीभगवान के दिव्य हेतु को फलित करने के लिए जो ऐसी शक्ति का ज्ञानपूर्वक उसका योग्य भान के साथ सदुपयोग करता है, उसे वह शक्ति अनंतगुनी शक्तिरूप मिलती है। ऐसी शक्ति का उपयोग जीवन की शक्ति बढ़ाने, जीवन का नवसर्जन करने में रहा है सही, पर वह सर्जन कलात्मक, कुदरती सौन्दर्य में मिल सके ऐसा होना चाहिए। ऐसे कला सौन्दर्य को जन्म देने के लिए प्रत्येक पतिपत्नी को कला सौन्दर्य का भक्त होना या

बनना पड़ेगा । किसी को भी उसके सच्चे स्वरूप को समझना हो तो नम्र से नम्र हो, हृदय के संपूर्ण भाव से, उसके हृदय से परिपूर्ण हम भक्त होंगे, तभी वह वस्तु का हार्द या मर्म हमारे ख्याल में जाग सकेंगा । इसलिए ऐसी कुदरती प्राप्त शक्ति का उपयोग हम मन में आए वैसे—मनस्वीरूप से—कभी भी हो नहीं सकता ।

यह यदि पूरीतरह ख्याल में उतर सकता हो तो प्रत्येक को परस्पर समझ लेने की अतिआवश्यकता है । उसका अतिरेक कभी न हो यह देखने, सँभालने का काम हमारा है । उसमें पति, पत्नी के ऊपर या पत्नी, पति पर बलात्कार करे तो ऐसा बलात्कार का सामना करने की हृदय से हृदय की ताकत लानी चाहिए । पुरुष की वैसी यद्वातद्वारूप की सनकवृत्ति का स्त्री को सामना करना ही रहा । इससे अनेक तरह से हैरान होने की बारी आये, तो वह सहर्ष उसे स्वीकार कर लें और त्याग, बलिदान या समर्पण स्वयं गिने । जीवन में उसके जैसी दूसरी कोई तपश्चर्या नहीं है और स्त्री की ऐसी वृत्ति को पुरुष ज्ञानपूर्वक सामना करे । जिस हेतु के लिए जो कुदरती शक्ति मिली है, उस हेतु को फलित करने के अर्थ बिना वह दूसरे किसी में खर्च कर ही नहीं सकते । पुरुष और स्त्री **जीव** ने तो ऐसी शाहुकारी भी खो दी लगती है । हमें कुदरत ने जिस हेतु के लिए दी है, उस हेतु को तो वह पूरा भूल ही गया है, उसका भान ठीक से उसे रहा नहीं है । मानवी **जीव** ने तो उस विषय में तो पूरीतरह दिवाला ही निकाला है । हम किसी को अमुक काम करने के लिए कोई रकम उधार दें और वह मनुष्य यदि वह काम न करके दारू पीने में या ऐसे खराब तरीके से वह रकम खर्च दे तो हम उसे कैसा गिने ? ऐसा हम मानवी का हुआ है । सब कुछ प्राप्त मानवी को भोगना तो है ही, पर उस भोग को महत्त्वपूर्ण जीवन में स्थान नहीं है । त्याग को महत्त्वपूर्ण स्थान देना है । यद्यपि सहजरूप से तो मानवी प्रकृति में भोग और त्याग एकसमान हैं, किन्तु आज मानवी के स्वभाव में भोग की प्रवृत्ति को प्रधानरूप मिला है । इसलिए जहाँ-तहाँ त्याग का सन्तुलन नहीं है । इसके लिए समता में प्रकटाने मिली कुदरती कामवृत्ति की शक्ति को पहले तो

त्याग में ही परिणत करनी ही पड़ेगी । ऐसा त्याग सहज होने के पश्चात् जो भोग होगा वह उत्तम, सात्त्विक भोग होगा । ऐसा भोग उस कुदरती प्रकृति का ही भाव होगा ऐसा गिन सकते हैं, परन्तु ऐसी सूक्ष्म हकीकत खाली कोरी-कोरी बुद्धि से कल्पना में भी आ सके ऐसी नहीं है, वह निश्चित है । उसे द्वंद्व की भूमिकावाली बुद्धि से सोचना यह मिथ्याडंबर है । यदि हम उसे वर्तमान जीवन में ज्ञानभानपूर्वक अमल में रखते जाँय, तो कहीं पढ़ेलिखे गिना सकेंगे । बाकी, हम से तो हजारों दर्जे गवार कहलाते किसान या निरक्षर लोग अच्छे हैं । क्योंकि उस बिचारे को शरीर की मेहतन इतनी सारी तो करनी पड़ती है कि उन्हें कुदरती प्राप्त कामवृत्ति की शक्ति को जैसे-तैसे बेफामरूप से बर्बाद करना नहीं चल सकता ।

जो लोग खूब-खूब मेहनतु हैं, उनमें कामवृत्ति की लालसा की मात्रा भी कम रहती होती है । जब अकमण्र्य, आलसी लोगों के जीवन में यह तो अग्नि की ज्वाला की तरह धधकती रहा करती है । यह बात यदि सच लगती हो तो, मानवी को शरीर की मेहनत को महत्त्वपूर्ण स्थान अपने-अपने दैनिक व्यवहार में देना ही चाहिए । नहीं तो ऐसे पतिपत्नी कभी भी कामवृत्ति को संयम से उपयोग करने में शक्तिमान नहीं हो पायेंगे, यह भी निश्चित बात है ।

फिर, यदि हमें एक प्राणवान प्रजा के रूप में जीना हो, तब भी हमारा धर्म है कि हमारी प्रजा अच्छे संस्कारवाली, प्राणचेतनवाली होनी चाहिए । **कैसे भी बालक जनने यह तो पाशवीवृत्ति का काम है । उसके जैसी अपनी या समाज की दूसरी कोई कुसेवा नहीं है, स्वयं जीवित रहना हो और समाज को भी ऊपर उठाना हो और घर पर बैठकर समाज की सेवा करनी हो, ऐसों को कुदरती मिली कामवृत्ति की शक्ति को इच्छानुसार खर्च करने का अधिकार नहीं है ।**

फिर, शरीर में जो वीर्य पैदा होता है , उसके कारण मानवी का मन लस्टम-पस्टम सोचा करे तो उसके शरीर में योग्य तरह से रह भी नहीं सकता । वीर्य का अमुक प्रकार का स्थिर होनेरूप मानवी की भूमिका किस प्रकार की रहती है इस पर सारा आधार रहा हुआ है । मानवी का मन लस्टम-पस्टम विचार रखता हो तो उसका परिणाम मानवी के वीर्य

पर हुए बिना रहता ही नहीं है । शुक्राणु की गति मानवी के विचार की जैसी भावना वैसी फलित होती है । **इससे कामवृत्ति को संयम में रखनी हो तो मानवी को अपने मन को योग्य वास्तविक विचार में रखने की जीतीजागती आदत रखनी ही होगी । ऐसा जीवित अभ्यास मन को कराये बिना कोई भी मानवी अपने शुक्राणु को स्थिर नहीं रख सकेंगा यह बात निश्चित है ।** वीर्य को स्थिर रखना या करना यह कोई मामूली बात नहीं है । प्रथम तो यह काम के लिए मानवी का मन ऐसा हुआ होना चाहिए, ऐसी तमन्नापूर्वक की सच्ची समझ और लगन मानवी के हृदय में होनी चाहिए, तब ही वह हो सकता है, बाकी तो संभव नहीं । बाकी, खाली-खाली बड़ी-बड़ी बातें करना बेकार है । यदि हमें यह समझ आता हो और सच लगता हो तो हमें जीवन में हृदय की भावना से जागृत रहकर प्रयत्नपूर्वक ऐसा जीना रखें तो ही योग्य होगा ।

('जीवनसंदेश, आ. ४, पृ. २७८ से २८६)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

२८. श्रीभगवान के दर्शन

श्रीभगवान के दर्शन अर्थात् अमुक काल्पनिक भाव या ऐसी मन की कोई कल्पना नहीं । संस्कार परंपरागत बैठी यह बात की जो एक प्रकार की भावना है वह भी यह नहीं । शास्त्रों में वर्णित दर्शन की एक स्थिति यह भी एक प्रकार की मर्यादा है । **श्रीभगवान के भाव का हम में प्रत्यक्ष होना उसका अर्थ यह कि उसके भाव के अंदर रहे तत्त्वों जैसे कि उसकी सचराचरता, उसकी अनंत अमर्यादित शक्ति, उसकी अविकल्पता, उसकी वैकल्पिकता वगैरह हमारे में प्रत्यक्ष अनुभवरूप प्रकट हो, तब उसके दर्शन हुए गिनायेंगा ।** श्रीभगवान ने जो यह सृष्टि रची है उसके पीछे कोई गूढ़ हेतु होगा ही-है, उस हेतु को पूरा करने में प्रत्येक जीव संलग्न है । हमें आत्मा की स्थिति का भान होते इस हेतु के स्पष्ट दर्शन होते हैं और ऐसे हम उसके यंत्र बनते हैं । पलपल ऐसी भागवत स्थिति में रहा जाय और पलपल ऐसे भागवती

कार्य हुआ करें इसका नाम श्रीभगवान के दर्शन ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३४)

• • •

श्रीभगवान के अनुभव के लिए अमुक शर्त पूरी करनी पड़ती हैं । उसमें से कितनी नीचे अनुसार हो सकती हैं । श्रीभगवान के अस्तित्व का हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक निश्चय, 'सर्वरूप भगवान यह मेरी आत्मा हैं' ऐसी गहरी अंतर की ज्ञानपूर्वक की समझ, सर्वरूप भगवान ही हैं ऐसा हृदय में हृदय से ज्ञानभक्तिपूर्वक का स्वीकार, अपने आपकी संपूर्ण पहचान, उसे स्वकर्म से संतोष करना यही उसकी एक पक्की समझ, ऐसा हम श्रद्धा से रोज का रोज निश्चयात्मक बुद्धि से, हृदय से हृदय में यह सब विकसित करते रहें और वह सब गहराई से समझकर उसका अनुभव किया करें तो हम श्रीभगवान के हैं और वे हमारे हैं ऐसे तत्त्व का अनुभव होगा ही होगा । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ४५)

• • •

मानवी के जीवन में जो अव्यक्त ईश्वर का स्वरूप है, उसे एकाग्र और केन्द्रित साधना के भाव द्वारा प्रकटकर उसे क्रिया के प्रवाह स्वरूप में *उस*की कृपा से बहता रख सके उसका नाम साक्षात्कार । हम में जो अव्यक्त प्रभुमय जीवन है, उसे प्रेमभक्ति ज्ञानपूर्वक की चेतनयुक्त जाग्रतिमय साधना का पलोंपल अभ्यास द्वारा जीवन में प्रत्यक्ष काम करते अनुभव करना यही है साक्षात्कार ।

हम में भी प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही है, परन्तु हमें उसका सच्चा पूरा ज्ञानभान हुआ नहीं है । हम तो प्रकृति की तरह और स्वभाव से जिस-तिस में प्रेरित होते हैं । हम सभी जीवप्रकृति में हैं । जबकि साक्षात्कार प्राप्त आत्मा तो प्रकृति की साक्षी, अनुमत्ता, भर्ता या भोक्ता हुई होती है, ऐसा वह अपनी सकल प्रकार की प्रवृत्ति में सहजभाव से अनुभव करती है । ऐसा करते-करते, होते-होते वह मात्र उतना ही है ऐसा भी नहीं है । फिर वह स्वयं प्रकृति का ईश्वर भी है वैसा भी उसके अनुभव में **उस**की कृपा से उसे ज्ञान होता है । उस समय से वह अनुभव का

सत्य कोई मात्र एक ठिकाने ही नहीं पड़ा रहता है, पर विस्तृत होकर समष्टि को स्पर्श करता है ।

साक्षात्कार पायी उस मुक्तात्मा की प्रकृति कोई उड़ नहीं जाती, वह रहती है और काम भी देती रहती है । **पर सामान्य मानवी में वह (प्रकृति) सेठ होकर व्याप्त होती है । जबकि साक्षात्कार पाये हुए में सेठ रूप नहीं पर चेतन के एक ज्ञानपूर्वक के एक करण रूप में रहती है ।** ('जीवनपोकार', आ. ४, पृ. ३४२ से ३४४)

● ● ●

श्रीभगवान का भाव जब साधक में (साधना की अमुक कक्षा में) थोड़ा भी जागने लगता है, तब मन द्वारा, बुद्धि द्वारा, इन्द्रियों द्वारा, हृदय द्वारा ऐसे अनेक तरह से व्यक्त होने सहजता से तैयार होता है । यह भाव अत्यन्त सूक्ष्म में सूक्ष्म, कोमल में कोमल और भीषण में भीषण भी है । जब वह आँख द्वारा व्यक्त होता होगा, तब जहाँ-तहाँ हमें सौन्दर्य के दर्शन हुआ करेंगे । कैसे-वैसे में भी अति सुंदरता के दर्शन होगे और उसमें अनहद आनंद भी होगा । कोई बार भयंकर कँपा दे ऐसे दृश्य भी देख सकेंगे । श्रवण द्वार ऐसा तो मधुर संगीत और दिव्य नाद के सूर हमारे कान में टकराया करेंगे—कहीं भी वैसा नहीं होगा तब भी जीभ कैसे भी खुराक में से उत्तमोत्तम प्रकार का स्वाद अनुभव करेंगी । चमड़ी इतनी तो कोमल और दिल को गुदगुदी हो ऐसी सूक्ष्मरूप से मधुर-मधुर लगेगी । और उसमें से कोमल-कोमल स्पर्श का ऐसा आनंद आयेगा कि वैसे स्पर्श का ख्याल कोई भी पार्थिव चीज से नहीं आ सकेगा । वैसा ही दूसरी इन्द्रियों के विषय में सूक्ष्म भाव उस द्वारा व्यक्त होता होने से और बाहर चेतनरूप से वह भाव होने से, व्यक्त होता भाव उस भाव को पकड़ता है और जिस इन्द्रियों द्वारा व्यक्त होता है, उस इन्द्रिय के स्वभाव का प्रकृति में जो मूल है, उस मूल अनुसार उसका अनुभव होता है ।

इस अनुभव में इतना तो आनंद रहा हुआ है कि उससे अलगता अनुभव करनी लगभग असंभव है । साधक के सही संयम की कसौटी वहाँ है । अनेक साधक वहाँ रुक जाते हैं । वे ऐसा मान लेते हैं कि अब अपना इतिकर्तव्य आ गया, क्योंकि उसे दिव्य आनंद मिलता होने से उसमें वह

डूब जाता है । श्रीभगवान का जागा हुआ भाव इसप्रकार उस आनंद को भोगा करने से एक दिन अलोप हो जाता है ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५२-१५३)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

२९. मुक्तात्मा

अपने सत्त्व को शीघ्र पहचान सके ऐसा आविर्भाव मुक्तात्माएँ साधारण रूप से होने नहीं देती, इससे प्रारंभिक साधक, जिज्ञासु तथा आध्यात्मिक पथ से अनजान ऐसे जीव को आकुलता और उलझन होती है । जिससे कितनों की श्रद्धा डिग जाती है या उठ जाती है । अपने संकुचित, विकृत और क्षुल्लक मानस के माप या तौल से संतों को मापने जाये तब उनके ऐसे कार्यों को मूक किन्तु कल्याणकारी हेतु उनके सामने खोलकर समझाने में आये तो भी वे उन हेतु की कदर नहीं कर पाते । उनके मन में ऐसा होता है कि जानबूझकर संत क्यों ऐसा व्यवहार करते होंगे ? क्यों अपने विषय में गैरसमझ होने देते होंगे ?

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १६२)

सर्वप्रथम तो यह समझ लेना आवश्यक है कि मुक्तात्मा का जो कि सामान्य मनुष्य जैसा हलनचलन लगता है, परन्तु वह है अपनी प्रकृति का स्वामी, आत्मनिष्ठ । जबकि सामान्य मनुष्य तो प्रकृति का दास है, गुणों से प्रेरित उसकी सारी क्रिया होती है । इसलिए दोनों की बहिर् प्रक्रिया प्रत्यक्ष रूप से समान लगने के पीछे मूलरूप, नींव का तात्त्विक अंतर रहता है । साधारणत: समाज में ऐसी समझ व्याप्त होती है कि मुक्त अर्थात् सामान्य मनुष्य से कुछ बिलकुल भिन्न प्रकार का मनुष्य । जिसकी स्थूल क्रियाएँ भी सामान्य मनुष्य से भिन्न ही हों, पर यह समझ योग्य नहीं है । जीवन्मुक्त में प्रकृति, इन्द्रियाँ, गुण, भावना, मनोभाव नष्ट हो जाते हैं ऐसा नहीं होता, शरीर है वहाँ तक यह सब हुआ करेगा, पर वह इन सभी का स्वामी बन बैठा है । वह व्यवहार करता है परिस्थिति के मालिक की तरह, जड़ यंत्रवत् वह नहीं खिंचता । उनके कार्यक्षेत्र

प्रकृति के वश नहीं होते इतना ही । वैसे-वैसे कार्यक्षेत्र में जब वह सभी प्रेरित होते हैं, तब उसे उसके ज्ञानहेतु की जीवंत सज्ञात धारणा रहा करती है ।

मुक्तात्माओं को कर्म आवश्यक नहीं होते । वह कर्म करता है सही, पर वह प्रभुप्रेरित होता है इसलिए । प्रभु के आदेश की समझ कहो या आत्मा के सहज ज्ञान को कोई अकल ऐसे सहज हेतु से कहो, इसतरह उसका वैसे कार्यों में प्रेरित होते हुए जाना होता है । वह अमुक ही कार्य करेगा ऐसा नहीं है । वह पूर्ण गृहस्थाश्रमी हो सकता है, और सहजरूप से संपूर्ण संन्यासी भी हो, देशसेवक भी हो और आंतरराष्ट्रीय सेवक भी हो और जैसे अपनी प्रजा का होता है वैसे समष्टि का भी हो, उसमें हृदय से समदृष्टि सहज होती है । उसे कुछ वैसा या ऐसे होनापन नहीं है । वहाँ विचार भी नहीं और संकल्प भी नहीं है । जैसी-जैसी जिसे जीवन में परिस्थिति मिला करती हो, वैसे-वैसे वह वहन किया करता है । वह राज्यों का संचालन, शासन करनेवाला राजा भी हो और अदना में अदना दास, सेवक भी हो । उसे कोई दृष्टि, वृत्ति या भाव नहीं होता । वह क्रियाशील भी हो और स्थिर भी । वह दोनों में से एक भी न हो और दोनों साथ में भी हो । वह एक कार्य करते-करते अनेक कर्म में व्याप्त रहा करता है और कुछ भी नहीं करता होता, तब भी वह सही भाव में सहजरूप से प्रवृत्त रहा होता है । उसे किसी में भी प्रवेश नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह प्रत्येक के सहज स्वभावरूप है । वह जैसे एक है वैसे अनंत भी हो सकता है और तब भी संपूर्ण शून्य भी हो सकता है । वह कर्म है । कर्म के अंतर में है, कर्म के आदि में है और कर्म ही उसमें है और इससे वह पर भी है ।

● ● ●

जीवन्मुक्त द्वन्द्व से परे होने पर भी हर्ष, शोक, भावना आदि नहीं होते ऐसा नहीं है, ऐसी सभी वृत्तियाँ उद्‌भवित होने पर वह उनका भोग नहीं होता, पर वहाँ वह किस तरह कितनी मात्रा में पिरोना इन सब का

ज्ञान रहा करता है । जहाँ तक शरीर है, समाज में है, वहाँ तक प्रारब्ध कर्मानुसार कर्म भोगना हो उनमें या आदेश कार्य हो उनमें या समष्टिरूप कार्य हो उनमें, स्वयं ही उनका स्वामी है, जन्मदाता है और भोक्ता है, तब भी फिर वह कहीं भिन्न है । वह भावयुक्त रहकर वहाँ पर व्याप्त रहता है । उसे ऐहिक दृष्टि से कुछ विकास पाना बाकी नहीं रहता, परन्तु परब्रह्मभाव में तो विकास सहजरूप से वह प्राप्त करता रहता है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. २०५-२०६)

साधारणतः समाज की अलग-अलग समझ जीवनमुक्त विषयक कुछ इसप्रकार होती है कि उसने अपने जीवन की आवश्यकताएँ कम से कम कर डाली हों, दलितों और गरीबों के प्रति अत्यन्त 'दया' हो और उनके लिए सेवाकार्य भी करता हो, समस्त मानवसमुदाय के लिए दया का सागर ही हो और मानवजाति के उद्धार के लिए ही वह प्रयत्नशील हो, और मौन रखता हो या कम से कम बोलता हो, उसका चेहरा शान्त, गंभीर हो और उसके समीप पहुँचते ही उसकी भव्यता अथवा साधुता की छाप पड़े ऐसा हो, आदि-आदि । यदि वह खिलखिलाकर हँसता मालूम पड़े या कोई साधारण प्रवृत्ति में डूब गया दिखे, सांसारिक विषयों में रुचि धारण करता हो और इससे 'क्षुल्लक' विषय में खुलकर बातें करता लगे तो, बस खलास । वह कितना भी महान हो, तब भी लोगों की नजर में तो वह बहुत हुआ तो अपनी भारी शक्ति और बुद्धि से उन पर प्रभाव और सत्ता बैठानेवाला और अपनी ओर सभी को आकर्षित करने पर भी अंत में तो वह भी 'सांसारिक' अर्थात् पार्थिव भूमिका में विहरनेवाला ही लगे ।

लोगों में ऐसी समझ व्याप्त हो उसमें उनका भी क्या दोष ? जीवनमुक्त की विशिष्टता कोई स्थूल आँखों से दिखे ऐसे स्थूल क्षेत्र में नहीं पर मन और हृदय के सूक्ष्म प्रदेश में रही हुई है और उसे देखने के लिए तो सूक्ष्म दृष्टि चाहिए । उसके ललाट पर कोई 'लेबल'-चिट्ठी चिपकाई नहीं होती या ऐसी कोई बाह्य निशानी या चिह्न नहीं होते कि

उसे उसके सही स्वरूप में जान सके। किसी को भी ठीक से जानने और उसका हार्द पहचानने आवश्यकता होती है, आदरभक्तिपूर्ण भावुक सप्रेम अभ्यासपूर्ण अनुशीलन परिशीलन की ।

मुक्तात्मा में मानवी के प्रति दया नहीं पर दिव्य अनुकंपाभरी पड़ी है, वह निष्ठुर नहीं है, दयाहीन नहीं है । जगत के दुःख, संघर्ष और उल्कापातों के बीच भी वह निश्चल रहते हुए लगता है । उसका कारण यह है कि उसे अनुभव है कि वस्तुमात्र की उत्क्रांति बाहर के हस्तक्षेप बिना अपनेआप होना वह योग्य गिनता है । इससे वह निश्चेष्ट भी रहता है या दिखता है । फिर उसकी मात्र सूक्ष्म या मूक अनुकंपा दूसरों की भागदौड़ या उत्पाती प्रवृत्ति से कहीं अधिक असरकारक है, क्योंकि वह सक्रिय है। उसका उसे अकेले को ही अनुभव है। काल से होते परिवर्तन उसे अस्वस्थ नहीं कर सकते, क्योंकि वह कालचक्र की गति को पहचानता है । इसप्रकार वह जब काल को परखता है, तब वह उसके कारण खोजने नहीं बैठता। विसंवादी घटनाओं में वह संवाद देख सकता है और अनुभव कर सकता है। उसे 'मैं' जैसा कुछ नहीं, इससे उसे किसी में राग नहीं। विधि की वक्रता उसे हिला नहीं सकती। वह किसी प्रकार की योजना नहीं करता। उसके विचार वर्तन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं, इससे नैतिक सिद्धांतों या आलंबन की आवश्यकता नहीं रहती । उसे कुछ भूलने जैसा भी नहीं और याद रखने जैसा भी नहीं है। प्रकृति और् पुरुष का वह एकीकरण है । वह किसी का मालिक नहीं और सभी का मालिक है । वह किसी का अनुकरण नहीं करता, क्योंकि अनुकरण से समयोचित व्यवहार नहीं होता है । उसकी दूसरे किसी के साथ तुलना नहीं हो सकती है । ऐसा वह अनुपमेय और अनोखा है । वह अत्यन्त गतिमान होने पर भी, उस कारण से ही बहुत स्थिर है, उस लट्टू की तरह ।

संक्षेप में वह मानवी व्यक्ति होने पर भी मानवी व्यक्ति नहीं है, परन्तु जिस विरोधाभासी गुणों का व्यवहार हम प्रभु के विषय में करते

हैं, यह परम तत्त्व का यह शरीरधारी आविर्भाव है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३२३ से ३३२)

● ● ●

मुक्तात्मा का कानून सारा अंतर का होता है । उसके नियम होते हैं सही और नहीं भी होते । इससे वहाँ मात्र मानवी के अज्ञान जैसा स्वच्छंद व्याप्त है, ऐसा मानने की भूल में न पड़े । उसे तो वह सभी दीये जैसा स्पष्ट दिखता है । इससे उसे स्थान, काल, मर्यादा की समझ रहती है और प्रत्येक के उदय, स्थिति और भाव की भी समझ सहजरूप से—निमित्त होते—प्रकट होती है। जैसे दर्पण में कुछ सामने आता दिखता है वैसे, ऐसे ही यह मानो चलताफिरता न हो ऐसा व्यवहार करता है। उसके पेट का पानी भी न हिलता हो तो इतने वेगवाला हो कि उसकी भावना—मनोभाव—उस समय किसी भी मानवी की भावना मनोभाव के साथ तुलना कर सके ऐसी नहीं होती। वह किसी में से भी चलित नहीं होता, जो चलित होता है, वह उसकी सहजगति में स्वयंभू गति में चलित होता है। वह कभी दुविधा में नहीं होता। उस तरह का दिखाई दे या हमें लगे भी पर उसकी भूमिका तो बिलकुल शांत प्रकार की होती है। तटस्थ रहने की जीवित कला उसे प्राप्त हुई होती है, इसलिए उसमें आनंद ही व्याप्त होता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १९-२०)

● ● ●

मुक्तावस्था प्राप्त होने के पश्चात् ऐसी आत्मा में आमने सामने लगते ऐसे गुणों का प्रागट्य होते हुए वह अनुभव कर सकता है, जैसे कि कृपा और अवकृपा। दयालुता और कठोरता, परवाह और बेपरवाही, गुण और अवगुण। इसप्रकार वह स्वयं किसी भी संसारी **जीव** से प्रेमभाव के गुण में श्रेष्ठ होता जायेगा और उसके साथ ही प्रेम के प्रदेश में रहता हुआ स्वयं को अनुभव कर सकेगा। ऐसे की फिर कोई निश्चित कक्षा या माप नहीं रह पाता है। इसके बाद किसी ढाँचे में भी नहीं रह पाता है ।

('जीवनप्रेरणा', आ. ३, पृ. १२५-१२६)

● ● ●

मुक्तावस्था अर्थात् स्वच्छंदता नहीं, मानुषी whims–मन के तुक्के

या तरंगोंनुसार उसमें चलना नहीं होता है । बेशुमार खर्च करने पर भी वैभवविलास भोगने पर भी या घर-घर घूमते और भीख माँगता होने पर भी, पत्नी बच्चे होने पर भी, और व्यापार करता होने पर भी, संक्षेप में किसी भी क्षेत्र में रहते हुए वह किसी भी प्रकार का होने पर भी वह मुक्त हो सकता है—मुक्तावस्था में जैसे स्वैराचार या विहार नहीं है वैसे उसमें कोई बंधन भी नहीं है । उसमें ऐसे ही व्यवहार हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि मुक्त को ऐसे कोई विधिनिषेध नहीं होते । सामान्यतः वह जो करता होगा, वह हमारी समझ में नहीं आएगा अथवा न भी आए, क्योंकि उसकी समझ और हमारी समझ में अंतर होता है ।

• • •

जीव जब चेतन में निष्ठा प्राप्त करता है, तब उसमें रहा पुरुष जाग्रत हो जाता है । पुरुष के आधार द्वारा ही उसकी अनुमति के बाद प्रकृति सभी काम करती होती है । पुरुष निष्क्रिय है सही और बिलकुल पीछे रहता है, परन्तु चेतन की दशा में वह सभान और संपूर्ण जाग्रत हो जाता हैं । उसमें उस समय साक्षीपन, भर्तापन तथा समता, ताटस्थ्य आदि गुण जीवित हो जाते हैं । इतना ही नहीं, परन्तु जो कुछ काम करते हो जाते हैं । इसलिए प्रकृति और उसके तीन गुण और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में जैसे क्रियाशील होती हैं, उसके साथ वे ओतप्रोत नहीं होती, परन्तु साक्षीभाव से रहती हैं । अपनी संमति की मुहर कहाँ लगानी है और कहाँ नहीं लगानी उसका ज्ञान प्राप्त है ।

• • •

मुक्तदशा को प्राप्त आत्मा हमारे विषय में कोई गैरसमझ नहीं करतीं । हम स्वयं ही उनके विषय में गैरसमझ रखते हैं । यदि कोई गैरसमझ करे ऐसा हो तो उसे जीवनमुक्त का लेबल नहीं लगा सकते हैं । हम खड़े रहे हुए हैं द्वन्द्व की भूमिका पर और वे यदि सच्चे संत हो तो उनमें द्वन्द्व होने पर भी द्वन्द्व की भूमिका में वे खड़े नहीं है । **हमारी समझ, माप और कक्षा यह सभी बहुत हुआ तो नैतिक आधार पर**

अवलंबित होते हैं । भेद में अभेद अभी हम अनुभव नहीं कर सके हैं । जगत तो अभेद में भेद देखता है । जबकि उन लोगों को ऐसा कोई भान नहीं होता, परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं कि वे लोग अनैतिक हैं । वे जीवन की परम आदर्श स्थिति में पहुँचने के लिए जीवन की वैसी वैसी स्थितिओं में से गुजर चुके होते हैं, जैसे नौका में बेठकर नदी पार करने के बाद नौका को साथ रखने की थोड़ी भी आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह वैसे लोग साधन के भार को गले लगाकर घूमा नहीं करते । ऐसे लोगों को हमारे माप, समझ, गिनती और कल्पना से मापना यही हमारा अज्ञान है, संत हमें कभी गैरसमझ नहीं करते । वे तो भूले हुओं के जितने हैं उतने किसी के भी नहीं—यदि वह उनका होने हृदय से सचमुच आतुर हों तो । ('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १२०-१२१)

● ● ●

जीवनमुक्त होने पर उसे कर्म नहीं होते ऐसा नहीं है । जैसे ब्रह्म निष्क्रिय होने पर भी फिर क्रियावान भी है वैसे जीवनमुक्त कर्म करता होने पर भी उसमें निष्क्रियरूप से रह सके उस प्रकार की शक्ति, ज्ञान, भाववाला वह प्रकट हुआ होता है, इसलिए उसे कर्म नहीं ऐसा भले कहें ।

आत्यंतिक अनुभव कहाँ जाकर विराम लेगा ऐसा निश्चयात्मकता से नहीं कह सकते । उस कारण से भी ज्ञानयुक्त चेतनाप्रेरक तटस्थता की अत्यंत जरूरत रहती है । उसे (मुक्त को) भाव, वृत्ति, विचार, भावना आदि नहीं होते ऐसा तो नहीं पर वह उसे आने देता है । यह तो जिस तिस के निमित्त संपर्क से वैसा-वैसा उद्‌भव होता है और उसका ज्ञानपूर्वक उपयोग करने की कला वैसों को प्राप्त हुई होती है ।

('जीवनप्रवेश', आ. १, पृ. १७०-१७१)

● ● ●

मुक्तावस्था प्राप्त होते ही एक ऐसी अवस्था बनी रहती है कि जिसमें प्राकृतिक इच्छा, आशा, कामना, अहम् आदि उत्पन्न हुए बिना स्वयं एकाग्र और केन्द्रितरूप से प्रभुभाव में सतत एक-सा डूबा रहता है । उन्हें श्रीभगवान जो कुछ अनुभव करायें उसे स्वीकार कर उसका

रस भोगने की आंतरिक कला उसके हृदय में जागी हुई होती है । उसमें स्थूल प्राण का कोई सक्रिय हिस्सा नहीं होता । स्थूल प्राण, सूक्ष्म प्राण और कारण प्राण से भी साधना होते-होते वह तीन प्रकार से एक ऐसे प्रकार के प्राण का जन्म होता है कि जिसे उस समय सर्व जो कोई भोग के सामर्थ्य की संपूर्ण शक्ति और सर्व प्रकार के मूल का रस ग्रहण कर, स्वीकार कर, उसके भोग करने की शक्ति उसमें प्रकट होती वह अनुभव कर सकता है । ('जीवनप्रवेश', आ. ४, पृ. ३१)

● ● ●

कोई ज्ञानी या अनुभवी श्रीभगवान का प्रेमीभक्त जगत के साथ व्यवहार में तो जगत के सामान्य मानव जैसा ही लगा करेगा । उसकी द्वन्द्वादिक वृत्ति जैसे कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि उसके मूल रूप में उसमें नहीं होगी, परन्तु उस प्रकार की रूपान्तरित भावना उसके जीवन में आती रहेंगी सही । पहले जैसे **जीव**दशा की प्रकृति की वृत्तियाँ उस समय दूसरे **जीवों** के साथ उपभोग में, उपयोग में आती थी, वैसे अब उस-उस वृत्ति की वह रूपान्तरित हुई भावना भागवत हेतु के लिए दूसरे **जीव** के जीवन के प्रति उपयोग में व्याप्त है । विष, जहर ऐसे तो प्राणनाशक हैं, परन्तु योग्य रूपान्तरित जहर दवा के रूप में बहुत ही प्राणवान और जीवन बचानेवाला होता है । उसी तरह **जीव**प्रकार की वृत्तिओं का रूपान्तरित हुआ स्वरूप उपयोग में आ सकता है, परन्तु दूसरे लोगों को इसकी कोई समझ नहीं होती है । सभी मनुष्य उसे योग्य रूप से समझ सके यह भी संभव नहीं है । उसे समझनेवाले मात्र गिनेचुने ही होंगे ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २६९-२७०)

● ● ●

ऐसे तो किसी परम अंतिम सत्य द्वारा अपने जीवन को नियत करते हैं । ऐसे उच्च जीवन की सच्ची असर पाने के लिए स्थूल प्रमाण नहीं मिल सकते । यह तो ऐसे के जीवन में जिज्ञासाभाव से, प्रेमभक्ति से जो डूबना चाहता हो और स्वयं की प्रकृति के स्तरों को समझ

समझकर, मथमथकर, समर्पित होकर पलटाना चाहता हो, ऐसे किसी **जीव** को उसमें कुछ समझ पड़ेगी । बाकी को तो उसकी कोई समझ न होगी, यह जान लें । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २७३)

● ● ●

ऐसा होता है सही कि जिसकी आशा, इच्छा निर्मूल हो गई है और अहम् से मुक्त हो गया है, वैसी मुक्तात्मा और जिसकी अभी आशा, इच्छा, वासना, अहम् आदि प्रवर्तमान हैं, वह दोनों एक ही परिस्थिति में से, प्रसंग में से गुजरते हो, तब किसी अन्य को तो उनकी परिस्थिति में कोई अंतर न लगे, परन्तु इन दोनों प्रसंग का जो Reaction अंतर में से प्रतिकृति उनके सत्त्व में जागती है उसमें जमीन-आसमान का अंतर है ।

('जीवनसंशोधन', आ. २, पृ. १९५)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

३०. पूर्णपुरुष

गुरु यह तो चेतन में संपूर्णता की कक्षा में संपूर्णतः सतत विकसित होती जाती एक भूमिका है । गुरु यह एक व्यक्ति होने पर भी व्यक्ति नहीं है । ऐसे अनुभवी कैसे हो सकते हैं, उनका वर्णन मेरी टूटीफूटी बोली में करता हूँ कि जिससे ऐसी अवस्था की थोड़ी भी समझ वाचक को हो सकती है । मेरे-ऐसे नादान प्रयत्न को सुज्ञ पुरुष प्रेमभाव से निभा लेंगे ऐसी प्रार्थना है ।

सच्चा अनुभवी कैसा होना चाहिए उसके विषय में जहाँ तक हमारे मन में अमुक मंतव्य जड़ होकर बैठे हो, वहाँ तक हिरण्यमय पात्र में छिपा सत्य का मुख—इस स्थान पर अनुभवी का सच्चा दर्शन—देखना असंभव है । इसके लिए तो पूरीतरह निराग्रही अर्थात् परिणाम का डर रखे बिना सत्यदर्शन की उत्सुकता जहाँ हमें खिंच जाती है, वहाँ जाने की तैयारीवाला, साहसवाला और श्रद्धावान मानस की आवश्यकता है । इसके बिना सत्यदर्शन असंभव है ।

पूर्णपुरुष की पूर्णता यह कोई स्थूल आँखों से दीखे ऐसे स्थूल क्षेत्र

में नहीं पर मन या हृदय के आधार के सूक्ष्म प्रदेश में ही रही है और इससे वह देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि ही काम लगती है, यह महत्त्व की हकीकत हमें इस बात में भूलनी नहीं चाहिए, इससे ही अनुभवी को पहचानने के लिए उपरोक्त विवरण लिखना पड़ा है ।

फिर, दूसरा कारण यह है कि उच्च कोटि की आत्मा लगभग अपारदर्शक है, कोई चालबाज, प्रपंची मनुष्य की चाणक्यनीति अब भी परख सकते हैं, उसे पकड़ सकते हैं, पर पूर्णपुरुष किस उद्देश्य से काम करते हैं, उसे खोज निकालना बहुत कठिन है । उनके हेतुओं को हमारी कल्पना साधारणतः पहुँच नहीं सकती ।

हम तो हमारे क्षुद्र मानस के गज से उनके मानस का माप निकालने जाते हैं, पर जोकि पूर्णपुरुष भी हमारे जैसा ही हड्डी-चमड़ी से बना मनुष्य है । तथापि उनकी देह तो उस विभूति का बहुत ही अल्पांश है, पर उनके असामान्य, अद्‌भुत, कितनी बार चमत्कारी लगे ऐसे अनुभव के कारण मनुष्यरूप धारण करनेवाले वे पुरुष सचमुच तो गगनस्पर्शी हैं । उनका मानस या दिल आकाश जितना विशाल है और इससे उनमें उद्‌भवित कृतियाँ बाहर से बिलकुल साधारण या कितनी बार उल्टी विकृत दिखती है, तथापि सही रूप में तो वह लोकोत्तर ही होती है ।

उदाहरण रूप में जो-जो प्रसंग संसार के रसिकों को बहुत क्लेश करानेवाले और दिल को दहलानेवाले होते हैं, उन प्रसंगों में वे तो पूर्ववत् शांत ही रहते दिखते हैं । दयाहीन शत्रु का भयंकर आक्रमण, दुष्काल के राक्षस का सर्वभक्षण या दूसरी कोई आसमानी सुलतानी या प्राणघातक व्याधि की चपेट आदि उल्कापात समेत उसे स्पर्श भी नहीं कर पाते हैं । उपरी तौर पर वे निपट हृदयहीन भी लगे, परन्तु सचमुच वे निष्ठुर नहीं हैं । जो दूसरे नहीं देख सकते, वे उन्हें दीया जैसा दिखता है, इससे ही वे ऐसे प्रसंगों में निश्चल रहते हैं । वे जानते हैं कि वस्तुमात्र स्वयं अपनी नियति का अनुसरण करता है और इसलिए ही वस्तुमात्र की उत्क्रांति बाहर के हस्तक्षेप के बिना अपनेआप ही होने देना वे योग्य गिनते हैं । इससे

ऐसे प्रसंग में वे निश्चेष्ट रहते हैं या दिखते हैं । फिर, उनकी मात्र सूक्ष्म, मूक अनुकंपा दूसरों की दौड़भाग और धांधली प्रवृत्तियों से कहीं अधिक असरकारक है । उनका उन्हें अकेले को ही अनुभव है ।

सरलता से अपने मार्ग में बहती जाती नदी जैसी उनकी वृत्ति होती है । अपनेआप को निर्बंध रखते हैं और इसी तरह दूसरों को भी मुक्तरूप से विहार करने देते हैं कि जिससे वे अपनी-अपनी प्रकृति अनुसार गढ़े । इसप्रकार यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वे बिलकुल निवृत्त लगते हैं, पर सचमुच तो दूसरों की वे अच्छी से अच्छी सेवा करते हैं ।

उनकी दृष्टि में कुछ भी तत्त्वतः दूसरे से बेहतर नहीं । वे अपना स्वत्व भूलते हैं और इससे वे सभी भेदभावों से पर जा सकते हैं । उन्हें कोई भी लालसा या आकांक्षा न होने से कोई भी जहमत नहीं उठानी पड़ती । इसलिए उनके लिए विजय, फलप्राप्ति या पूर्णाहुति जैसा कुछ भी नहीं रहता । उनकी आत्मा सर्व का समावेश करती है, इससे वे संपूर्ण समता से वस्तुमात्र के साथ एकाकार होते हैं । इसप्रकार, अपना व्यक्तित्व लुप्त करते हैं । इससे संतात्मा का कोई नाम नहीं है ।

वस्तुमात्र, संयोगमात्र और स्थानमात्र से उन्हें पूर्ण संतोष है । इससे वे सदा के लिए सुखी जीव हैं । बदलाव उन्हें तो शाश्वत समुद्र की तरंगे ही लगती हैं और ऐसी तरंगों पर वे सरलता से तैरते हैं । किसी की भी कमी, इच्छा या आवश्यकता उन्हें न होने से राज्यकार्य सँभालने के लिए भी वहीं सबसे अधिक लायक है ।

प्रत्येक वस्तु अपनेआप, स्वयं ही उनमें सर्जीत होती है, ऐसा वे जानते हैं । मतमतांतरों के लिए किसी भी प्रकार का पक्षपात या नापसंद, भोग या त्याग उन्हें नहीं होते । इतना ही नहीं, पर उनका अपना मत ही नहीं होता । अलग-अलग मंतव्यों में से किसी का भी वे विरोध नहीं करते । मात्र वे उनके पार जाते हैं और पर होते हैं । स्वाभाविक रूप से और सरलभाव से हो रही सभी की उत्क्रांति को वे स्वस्थता से देखा करते हैं, इससे वे कुदरती रूप से फलित होती वस्तुस्थिति में

अवरोधरूप नहीं होते ।

वे परम तत्त्व में सदा डूबे होते हैं और इससे वे स्वयं ही अंतिम ज्ञान हैं । वे किसी भी प्रकार की रचना नहीं करते । वे किसी का विनाश नहीं करते । वे प्रत्यक्ष अनुभव में ही रहा करते हैं । उन पर संस्कार पड़ते हैं पर वे उनका संग्रह नहीं करते । अनुभव के पहले या बाद में उन विषय में वे कुछ विचार नहीं करते । भावि के लिए उन्हें कोई भी उत्सुकता नहीं होती और उस विषय में वे बिलकुल निःस्पृह रहते हैं । जिस अदृश्य रूप से समय पसार होता है, उसी तरह भूतकाल उनमें से पसार हो जाता है । उनके लिए वर्तमान जैसा भी कुछ नहीं है । बाहर की दुनिया का सभान अवलोकन या आंतरिक दुनिया का सभान संवेदन उन्हें नहीं होता । प्रत्येक चीज में वे उस-उस रूप में आनंद लेते हैं और प्रत्येक स्थान और प्रत्येक बदलाव में वे अनुकूल होते हैं । जीवन और मृत्यु के लिए उन्हें कोई परवाह नहीं होती, उनका मन खाली है, जो कुछ छाप उनमें पड़ती है, वह छाप उनकी चेतना में पड़ती है, उनकी आत्मा तो अलिप्त रहती है, परन्तु सामान्यरूप से उन्हें ऐसी कोई छाप पड़ती हो, उसका भान नहीं होता । किसी समय जब उनकी चेतना में छाप उठती है, तब वे भगवत्कार्य में फलित हो अपनेआप फिर विलीन हो जाती हैं । अनुभविओं की ऐसी वृत्तिओं को कोई भी बंधनकारक पाल नहीं होती, इसलिए अनुभविओं की वृत्ति को हम पा नहीं सकते । सचमुच में उनकी वृत्ति होती ही नहीं ।

वे तो मात्र स्वयंसंचालित बल हैं । कोई बार वे शांत उपायों से काम लेते हैं, तो कोई बार दूसरी तरह से—जैसी प्रसंग की आवश्यकता और परिस्थिति, परन्तु उनकी भूमिकाएँ तो गुणों से पर ही रहती हैं । अनेक बार फिर गुणों में भी होती हैं और कितनी बार तो गुणों में भी नहीं ऐसी कोई अगम्य मध्यम स्थिति में भी उनकी भूमिका रहती है । जो कुछ अनिवार्य है, उन्हें वे विधि का निर्माण जानते हैं और इससे वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं । प्रत्यक्षरूप से दूसरों को अनुपयोगी हैं, पर उनके अस्तित्व मात्र

से ही अपनेआप समस्त विश्व की उत्क्रांतिमात्र में वे भाग लेते हैं । इसप्रकार, पूर्णपुरुष प्रत्येक को अपनेआप की परिपूर्णता की प्राप्ति उन-उनकी तरह करने देते हैं । तत्त्व से विरोधात्मक ऐसा उन्हें कुछ नहीं दीखता ।

वे स्तुतिनिंदा से पर हैं । उनकी प्रकृति के स्वरूप और लक्षण अलग-अलग तरह के होते हैं । काल के प्रवाह पर वे तैरते हुए बहते हैं और किसी को भी आग्रह रख पकड़ नहीं रखते । वे कभी ऊँचाई में और कभी नीचे होते हैं । घटनाओं के प्रति वे सदा प्रशांत होते हैं । वे स्वयं प्रसंगों को प्रसंग मात्र ही गिनते हैं और वैसा व्यवहार करते हैं । प्रसंग उन्हें अपने प्रवाह में खिंच नहीं पाते । प्रसंगों की गति, बल और मोड़ वे अपने में दिशा देते हैं ।

वे स्वयं ही परकाष्ठा हैं, क्योंकि वे कालचक्र की गति को परखते हैं । इससे काल से होते परिवर्तन उन्हें अस्वस्थ नहीं कर पाते । इसप्रकार, जब वे काल को परखते हैं, तब वे उनके कारण खोजने नहीं बैठते ।

विसंवादी घटना में भी वे संवाद देखते हैं । उन्हें 'मैं' जैसा कुछ नहीं है, इससे उन्हें किसी में राग नहीं और फलस्वरूप किसी प्रकार का युद्ध या हार उन्हें नहीं उठानी पड़ती । विधि की कृतियाँ उन्हें हिला नहीं सकती । उनमें सद्‌गुण हैं, पर मानो नहीं ऐसे ही दिखते हैं, वे शरीर से मानव हैं सही, पर वे मनुष्य जैसे स्पष्ट लगते नहीं हैं । वे किसी प्रकार की योजना का निर्माण नहीं करते, इससे उन्हें उस ज्ञान की जरूरत नहीं होती, उनके विचार-व्यवहार में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं, इससे उन्हें नैतिक सिद्धांतो की आवश्यकता रहती नहीं है । उनमें किसी के प्रति पार्थिव प्रेम नहीं है । पराक्रम से मिले ऐसी कोई सिद्धि उन्हें नहीं चाहिए । इससे निष्फलता के लिए दुःख या विजय के लिए हर्ष का उन्हें कारण नहीं रहता । उन्हें कुछ भूलने जैसा भी नहीं और याद रखने जैसा भी नहीं है । वे स्वयं ही शुद्ध अनुभव हैं, इससे वे शुद्ध विज्ञान हैं । प्रकृति और पुरुष का वे एकीकरण हैं और वे वस्तुमात्र को तत्त्व में समान रूप से

देखते हैं। इसके लिए वस्तुओं के बीच कहीं परस्पर विरोध नहीं है। और वे उन वस्तुओं को उन-उनके अनुभव की दृष्टि से देखते हैं। वे सभी के ऊपर, सभी के अंदर और सभी के बीच वे तत्त्वरूप से हैं, इससे वे खाली हैं और भरपूर भी हैं। उन्हें अपनी अलग अस्मिता का भान नहीं होता, क्योंकि वे सहजता से तत्त्व से सरलरूप से सर्वत्र होते हैं। इसप्रकार, वे अद्‌भुत तरीके से स्वयं अपना एकीकरण और समीकरण अपनी दूसरी जात के साथ करते हैं। वे गुणों की समग्रता हैं। अस्तित्वमात्र की, सर्जन की, प्रेरणा की जड़ और चेतन की, मन और पदार्थ की, काल और अवकाश की इन सभी की समग्रता भी वे ही हैं। संक्षेप में, प्रकृति के स्वयंभूपन की समग्रता भी वे स्वयं ही हैं।

एक तरह से वे कुछ भी नहीं करते, क्योंकि प्रत्येक जो कुछ स्वयंभू है, परन्तु वे स्वयंभूत्व की समग्रता होने से, दूसरी तरह देखने पर वे सभी कुछ करते हैं। इसप्रकार, सर्जन न करने पर भी वे सर्जन करते हैं। उन्हें तो सभी ही सर्जन और विनाश की मर्यादा में फँसा लगता है। फिर, उन्हें विनाश की प्रक्रिया में भी सर्जन की ही प्रक्रिया दिखती है। सर्वव्यापी, पूर्ण शांत कल्याणकारी सत् से अलग ऐसी उन्हें एक भी इच्छा नहीं है। वे इसप्रकार निवृत्ति में प्रवृत्त रहते हैं। वे कुछ अयोग्य नहीं करते। वे रोते हैं, हँसते हैं, विनोद करते हैं, बोलते हैं, बात करते हैं, गुनगुनाते हैं या बड़बड़ाते हैं और ऐसी सभी क्रियाएँ करते हैं, पर वे अपनेआप अनुकंपा से, निर्मल, सरलता से विहार करते हैं और सभी के साथ अभेद अनुभव करते हैं। व्यक्तिगत भाव जैसा उन्हें कुछ नहीं होता। अपनेआप उसकी असर सर्वव्यापी होती है और इसप्रकार जो कुछ अपने स्वरूप को प्राप्त करते हैं। कई बार वे निश्चेष्ट दिखेंगे, तो कई बार खूब स्फूर्तिवाले और प्रवृत्तिमान लगेंगे, कभी स्थिर, स्वस्थ और शांत, तो कभी उदासीन। इसप्रकार, वे सर्व आवेश और वृत्तिओं की भी समग्रता हैं और उसके पार वे जाते हैं। इसतरह प्रवृत्ति में भी वे निवृत्त रहते हैं।

उन्हें और कीर्ति का कोई संबंध नहीं। वे किसी के मालिक नहीं

और सभी के मालिक हैं । वे अनंत के साथ तन्मय होते हैं । उनका मन आईना जैसा है, इससे वे परिस्थिति के प्रति कुशल व्यवहार रख सकते हैं, परन्तु परिस्थिति उन्हें कभी भी घेर नहीं सकती । काल की समझ और उसके हेतु की तथा संयोगों की यथार्थता की उन्हें सूझ पड़ जाती है और इसतरह दुनिया को वे अपना सँभाल लेने देते हैं । वे किसी का भी अनुकरण नहीं करते हैं, क्योंकि अनुकरण से समय का योग्य व्यवहार नहीं होगा । उसे अकेले उसके अपने साथ ही तुलना कर सकते हैं, दूसरे किसी के साथ नहीं, ऐसे वे अनोखे हैं । वे दूसरे किसी पर आधार नहीं रखते और वे स्वयं स्वतंत्ररूप से संपूर्ण होते हैं ।

बहुत चीजों की ओर एकसाथ लक्ष देते हैं, पर उसमें वे बह नहीं जाते और बहुत बोझ उठाते हैं, तब भी उनका हृदय हलका ही रहता है ऐसी उनकी कला उनमें अपनेआप ही प्रकट हुई होती है । वस्तुमात्र की तात्त्विक समता का ज्ञान उन्हें होता है । प्रत्यक्ष भेद में वे सत्य दृष्टि से एकता ही देखते हैं । इसप्रकार वे अगम्य हैं । उनके लिए **'नेति नेति'** शब्द का ही उपयोग होता है । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ३२५ से ३३२)

● ● ●

॥ हरि:ॐ ॥

३१. भ्रमणा : 'माना मालिक का हो'

सब कुछ ईश्वर करवाते हैं । यह बात तत्त्वज्ञान की दृष्टि से सौ प्रतिशत सत्य है, पर यह हम तब कह सकते हैं, कि जब हम पलपल भगवान के उस भाव में रह सकते रहा करते हों । अहम् पूरा पिघल गया हो, त्रिगुणातीत हो गये हों । हम उनके पूर्णरूप से सचेतन यंत्र बन गये हों ।

हमारे मन में पसार होते अनेक विचार, हम में उद्‌भव होती वृत्तियाँ, हमारे चित्त के संस्कार, हमारे आग्रह आदि जहाँ तक मन में झाँका करते हो, वहाँ तक हम यह नहीं कह सकते कि, **'यब सब भगवान करवाते हैं !' 'जैसा वे करवायेंगे ऐसा करेंगे !'** 'सभी कुछ प्रभु करवाते हैं और करवायेंगे ।' ऐसा सब बोलने का कोई अर्थ नहीं है ।

('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. ८४, ८५)

हमारे मन, प्राण, चित्त, बुद्धि, अहम् के अनेक प्रकार के मोडों को—आदि को हम यदि पूरीतरह समझ न सके हों तो पूरा समझ लेना चाहिए । हम तो प्रकृति से प्रेरित व्यवहार करते हैं तो हमारा अहम् हमें धकेला करता है ।

श्रीभगवान के पंथ जिसे जाना हो, उसके सभी भ्रम टूट जाने चाहिए । **'माना मालिक का होता है'** यह सूत्र की भावना उत्तम है, पर जीवमात्र में जो चेतन रहा है, वह कोई निर्बल नहीं है । सब कुछ करने शक्तिमान है । मरणान्त निर्धार यदि होता है तो प्रभुकृपा से सब हो सकता है । लोग जिस-तिस में ऊपर का कथन और ऐसे दूसरे कथन अंकित करते हैं । ऐसा जो बोलते हैं, उनमें अहंकार नहीं होता ऐसा नहीं है । जिसमें संपूर्ण ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता रही है और जिसका अहम् पूरीतरह पिघल गया है वैसा **जीवात्मा** ऐसा बोले तो यह योग्य है । अथवा अधिकतर तो वह साधक संपूर्ण ज्ञानपूर्वक की नम्रता विकसित करने का जीताजागता सच्चाई भरा अभ्यास करता है । वैसा जीव नम्रता लाने के उद्देश्य से वैसा बोले तो कुछ योग्य हो, परन्तु जिसमें कोरा अहम् भरा पड़ा है और जिसे साधना का कोई परिचय नहीं, वह यदि ऐसा बोले तो **'वदतोव्याघात'** है । ('जीवनमंथन', आ. २, पृ. १६०)

● ● ●

'कर्ताहर्ता तो भाई ! भगवान हैं, उनकी मरजी अनुसार सब चला करता है' ऐसा बोलनेवाले जगत में अनेक लोग नजर पड़ते हैं । ऐसा बोलना मात्र दिखावटी और खाली-खाली है । जहाँ तक भागवत जीवन जीने का मरजिया निर्धार न हो, जहाँ तक उसमें आहुत होकर संपूर्णरूप से कूदने की संभावना प्रकट हुई न हो, जहाँ तक आधार के निम्न करणों के मोड़ को पकड़ पकड़कर टालने का न करे, वहाँ तक ऊपर अनुसार बोलना उस अनुसार की मान्यता में रहकर प्रकृतिवश हमेशा व्यवहार करना उसे एक प्रकार का दंभ कह सकते हैं । कितने उसका ऐसा भी बचाव करते देखें है कि उस समय उसका वैसा—mood—मानसिक

वृत्ति–तरंग हो इसलिए उसके प्रवाह में खिंचकर बोला जाता है । वह जो कुछ भी हो, ऐसा बोलकर मानव स्वयं को कुछ करना न पड़े, इसप्रकार भागने के बहाने खोजता है । **जीव** की इसप्रकार की संपूर्ण श्रद्धा, विश्वास, भक्ति आदि तो प्रभु पर पैदा नहीं होते और बोलने अनुसार की निष्ठा तो है ही नहीं, इसलिए कोरा मिथ्याचार गिनायेंगा ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. २४३, २५०)

अमुक जीवों को परमात्मा की ओर मुड़ने की वृत्ति होती है, तब और उस वृत्ति तमन्ना का कुछ जोश पकड़ती है, तब भी – एक विचित्र मंतव्य की पकड़ के कारण उनका विकास रुकता है अथवा बहुत धीरा होता है । स्वयं अब तो श्रीभगवान की शरण में गया है, इसलिए बाकी का सारा सचराचर परम चैतन्यशक्ति ही सँभाल लेंगी अथवा लेती है और अब तो उसे श्रीभगवान में दृढ़ श्रद्धा रखे बिना दूसरा कुछ नहीं करना है ऐसी वह कल्पना कर लेता है ।

इस मान्यता के मार्ग पर आगे चलते हुए, स्वयं जो कुछ करता है वह, और स्वयं से जिस किसी संयोग में आने का होता है, वह सब श्रीभगवान ही करवाते हैं और स्वयं तो उनका एक निमित्तमात्र है ऐसा **जीव** कल्पना करने लगता है । ऐसी मान्यता से ही साधक में जो नम्रता होनी चाहिए वह स्वयं में आती है, ऐसा वह मानने लगता है । **'भगवान की इच्छा बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता'** ऐसे श्रुतिवाक्य तथा अनेक संतों ने ऐसा शरणभाव रखा, तब उनकी कसौटी तो हुई भी उसमें भी उन्होंने श्रद्धा हमेशा रखी तो उनके दुःख परमात्मा ने टाले, ऐसे प्रसंगों का भी जो आधार लेता है, इसलिए उनकी तरह स्वयं भी श्रीभगवान की शरण में गया है । इसलिए **'जो कुछ सुखदुःख आ पड़े वह सब सहन कर लेना और वह श्रीभगवान ने ही भेजा है'** ऐसी मान्यता के आधार पर अपना जीवन निर्माण करने का प्रत्यक्ष प्रयास करता है ।

पर ऐसे संतों की शरणागति में और ऐसी प्राथमिक, प्रारंभिक कक्षा की कल्पना की हुई शरणागति में बहुत अंतर है, इसलिए ही ऐसे साधक

को सूखना पड़ता है और उसकी प्रगति धीमी होती है । हमारे में कर्म के नियम की सतही समझ के कारण एक प्रकार की निःसत्व दैवाधीनता कभी-कभी आ जाती है । उसका ही एक स्वांग प्राथमिक कक्षा के साधक की ऊपर की कल्पना या मान्यता है ।

ऐसी मान्यता से साधक स्वयं साधक है और सिद्ध नहीं है, यह हकीकत भूल जाता है अथवा उसका इनकार करता है । 'ईश्वर सभी कर्म का कर्ताहर्ता है' यह अंतिम सत्य के रूप में भले सच हो और है, पर साधक यदि अपने सारे व्यवहार में और अपने सभी संयोगों में ईश्वर पर जिम्मेदारी डाल देगा तो उसके अनेक पूर्व कर्मों के परिणाम से पड़े संस्कार, उसकी मान्यताएँ, उसकी भावनाएँ, उसकी बुद्धि के भाव, उसके प्राण की वासनाएँ, उसका अहंभाव कुछ-कुछ अशुद्ध—निम्न स्तर की प्रकृति के—तत्त्वों असर डालते होते हैं । अमुक असरें तो ऐसी सूक्ष्म और छिपी होती है कि उसे परखने के लिए भी भारी जाग्रति और साधना की जरूरत रहती है, और उसे मिटाने के लिए तो भारी परिश्रम और तनदिही चाहिए । जैसे पत्थर में भी ईश्वर का—चेतनशक्ति का—आविर्भाव है, वह मानवी में भी है । पर दोनों में बहुत वास्तविक अंतर है । वैसे प्रकृति के सभी बलों में यद्यपि चेतनाशक्ति रही हुई है, तब भी उसमें बहुत अंतर होता है । इसलिए साधक के सभी काम में या सभी संयोगों में परमात्मा का पूरा आविर्भाव साथ-साथ होता है । इससे, प्रकृति के स्वभाव से कौन सा काम वह करता है, जो खोज निकालना साधक के लिए बहुत जरूरी है ।

जो अंतम सत्य है, उस सत्य का अनुभव कर सकने की कक्षा में पहुँचने से पहले वैसे अनुभवी का अनुकरण करना या वैसी कल्पना करना या मानना यह साधक के लिए हानिकारक है । नयेनये संयोगों, व्यक्तिओं, संबंधों, विचारों—उन सभी में से वह नवजात अनेक भारी प्रयत्न और ठोकरें खाकर उसे उबरना ही होगा, उस नवजात हिसाब में और ऐसी मान्यता से फिर कितनी अधिक ठोकरें, खानी पड़ेगी । अपनी भूल जहाँ तक सूझे नहीं, वहाँ तक उसे निवारण करने के लिए कोई भी तैयार नहीं

हो पाता । प्रत्येक संयोग उसे सीखाने के लिए प्रभुकृपा कर के आया है और उसमें से उसे अपनी प्रकृति का किस विषय में रूपान्तर करना है, उसे देखने सदा जाग्रत रहना होगा । इससे वैसी दृष्टि से उसे उस संयोगों को देखना चाहिए, तब ही अपना व्यवहार, वाणी या विचार में कहाँ अकुशलता है, उसे उसका पता लगेंगा । शरणभाव–सच्ची रीत का शरणभाव–भी ऐसे के ऐसे नहीं मिलता । इसके लिए भी भावनापूर्वक, ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ से लाना पड़ता है । जैसे-जैसे उसका स्वभाव, उसकी प्रकृति प्रभुभाव के संचार के लिए लायक होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसका शरणभाव बढ़ता है । उसके पहले का शरणभाव तो एक मान्यता ही है—जीवन की ठोस हकीकत नहीं । उसके पुरुषार्थ का फल दिलानेवाली चैतन्यशक्ति ही है, ऐसा फिर दृढ़कर, पुरुषार्थ के कारण आ जाते अहंभाव को उसे टालना है, यह फिर दूसरा प्रश्न है ।

प्रभु जरूर उसे सहायता करने को उत्सुक होते हैं, पर वह कल्पना करता है, उस तरह सहायता नहीं मिल सकती । प्रभु के उपदेश जीवन में प्राप्त प्रसंगों द्वारा दिये जाते हैं और अनेक प्रकार के अनुभव करवाकर उस उपदेश को पक्का करवाने का उनका हेतु होता है । इसीलिए ही अपनी भूल कहाँ हुई है, वह देखने के लिए आँख तत्पर हो, वही अनुभव पर से सीख सकता है ।

सर्व भाव और सर्व रीति से शरणागति की भावना ज्ञानपूर्वक साधक में आये यानी कि यदि उसके आधार के सर्व करण सर्व प्रकार की शुद्धि को पाया हो तो बालक जैसे प्रकृतिवशात् निश्चिंतता से और आराम से आनंद पाता माँ की गोद में रहे वैसी, पर प्रज्ञापूर्वक की भूमिका साधक की हो उस समय उसका **'ईश्वर सब सँभालते हैं'** वह हकीकत में सच ठहरता है । वैसी दशा होने से पहले साधक को वैसा मानने की भ्रमणा में कभी नहीं पड़ना है, परन्तु उसमें सर्व प्रकार का झुकाव प्रभु की कृपा का एकमात्र सहारा लेकर उसके सर्व करणों की शुद्धि हो उसमें ही एकाग्र और केन्द्रित होना चाहिए । ('जीवनसंदेश', आ. २, पृ. १९० से १९३)

• • •

चमत्कार :

साधना करते-करते अथवा ध्यान के समय या किसी भी समय चमत्कार दिखे, हमारे में कोई नयी शक्ति आयी है ऐसा समझ आये, अमुक सिद्धि मिले, परन्तु इन सभी की ओर कोई लक्ष पिरोये नहीं । वे फँसानेवाली वस्तुएँ हैं । हमें तो बस श्रीभगवान ही खपते हैं ।

('जीवनमंथन', आ. २, पृ. ३३)

• • •

सच्चा और योग्य चमत्कार तो प्रकृति का रूपान्तर हो, वह है । भावना में अखंडता फैलते-फैलते मन में नीरवता, बुद्धि में प्रज्ञावस्था, चित्त में चेतना की भावना, प्राण में एकमात्र भगवद् भावना की चाहना और अहम् में प्रभुप्रेरित शक्ति–ऐसे परिणाम आते-आते शरणागति को प्रभुकृपा से पायेंगे । हमें तो इसप्रकार के भावात्मक परिणामजनक चमत्कार की चाहना होनी चाहिये ।

चमत्कार तो देखने जाये तो पलपल मिले वैसे हैं । चमत्कार विषय की समझ समाज में जो व्याप्त है, वह ज्ञान की द्योतक नहीं है, हमारे अपने ही जीवन में **जीव**दशा की कक्षा में भी कितने अंतर आते रहते हैं ! वह क्या चमत्कार नहीं है ? जड़ प्रकार के अनेक चमत्कार जीवन में चाहे उतने मिले वैसे हैं । **सचमुच तो हमारे करणों की पूर्ण शुद्धि होकर हम पूर्ण निरहंकारी, कामरहित, द्वन्द्वातीत, गुणातीत आदि प्रभुकृपा से हो सकेंगे यही हमारे लिए सही चमत्कार है ।** हम तो इन चमत्कार की चाहना रखें ।('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २६८-२६९)

साधक के दिल को अथवा उसके हृदय को आघात देने के लिए, यानी कि उसके जीवनभाव को पलटाने के लिए, प्रेरणात्सक भावनायुक्त-योग्य चमत्कार का स्थान रहता है सही । साधनामार्ग में योग्य चमत्कार का स्थान है, परन्तु यदि ऐसे चमत्कार पर हमारी श्रद्धा और विश्वास टिके न हो और शंका-कुशंका उस पर हुआ करे तो वह अपने भाव योग्य रूप से नहीं कर सकेंगा । वह चाहा परिणाम लाने में निष्फल होगा ।

चमत्कार यह कोई जादू का खेल नहीं है । हड्डी उतर गयी हो, तब उसे एक सख़्त झटका देकर बिठाया जाता है । उसी तरह साधक को वैसा अनुभव श्रीभगवान कभी करवातें हैं सही ।

('जीवनपगथी', आ. ३, पृ. १५९)

॥ हरिः ॐ ॥

३२. अर्थदर्शन

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । (१८/६२) ऐसा गीताजी में श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है । उसमें **'सर्वभावेन'** और **'तमेव शरणं'** यह दो मूल हकीकत खास लक्ष्य में रखनी है । यहाँ सर्वभाव कहा है । जीवन में जीवन के अनेक प्रकार के भाव हैं । उन सकल भावों को हमें श्रीभगवान के चरणकमल में प्रेमभक्तिभाव से मोड़ना है, तब ही उसकी शरण में हम जा सकते हैं । वर्तमान में श्रीभगवान के भाव में, उसके चरण में, प्रेम में ऐसे तो तल्लीन हो जाये कि हम अपना अस्तित्व भूल जाये और ऐसा होने के लिए हमारे दैनिक व्यवहार में ज्ञानभक्तिपूर्वक की नम्रता कैसे आये और उसके साथ-साथ अथवा वैसा होने के लिए हमें रोज- रोज सकल व्यवहार वर्तन में किस तरह निरहंकारी हो वगैरह वगैरह सभी के लिए उस-उस पल सभानपूर्वक श्रीप्रभु में दिल पिरो-पिरोकर उस हेतु से व्यवहार करना है। दिल से भावनापूर्वक का वैसा आचरण आये बिना भावना में कभी भी शक्ति प्रकट नहीं हो सकती । भावना को उसके योग्य आचरण में रखने से भावना में ओजस आता है । जो तेज उसका वीर्य है । **भावना स्वयं कर्म का स्वरूप लेती है और प्रेमभक्ति-ज्ञानमूलक हेतु के ज्ञानभानवाला कर्म ही सच्चा यज्ञ है । गीतामाता ने कर्म को यज्ञ गिना है ।** ('जीवनदर्शन', आ. ८, पृ. ४८-४९)

● ● ●

गीताजी के पहले अध्याय के प्रथम श्लोक में लिखा है कि–

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पांडवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

यहाँ इस श्लोक में भगवान ने कैसी खूबी की है उसे देखो । पहले

'मामकाः' (यानी मेरे) ऐसा लिखा है। इसका अर्थ ऐसा कि अभी तक के जीवन में हम इन्द्रियों के विषयों, लालसाओं, वासनाओं वगैरह के दिखाये मार्ग पर ही चलते रहे हैं (और उसे 'मेरा' माना है) यानी जीवननदी में एक तरह का उनका ही चलन और वहन का पाट पड़ गया है। परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से ही हमारा उस ओर का भाव रहता है, परन्तु अब ऊर्ध्वगति की दृष्टि जीवन में आने से पांडव भी हम में जागते हैं। ऐसी उच्च प्रकार की वृत्ति होते हम में धर्मक्षेत्र भी है और कुरुक्षेत्र भी है, उसका हमें पता चलता है और उस समय दो परस्पर लड़ने को तत्पर हुए हो ऐसा भी हमें समझ में आता है, परन्तु ऐसी परिस्थिति का दर्शन हमारे लाभ में तब ही होगा कि जब हमारे में संजय की वृत्ति जाग्रत होकर काम देती होगी। **संजय अर्थात् एक प्रकार की अलिप्त तटस्थता।** फिर, भगवान ने ऐसा भी कहा है कि,

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (१८/६६)

यहाँ **'सर्वधर्मान्'** ऐसा भगवान ने बहुवचन में कहा है। एक ही जन वैष्णव, जैन, शैव, ईसाई, पारसी ऐसे अलग-अलग धर्मों का नहीं हो सकता। इससे *'धर्मान्'* का ऐसा अलग-अलग धर्म छोड़ने का अर्थ तो नहीं निकलता। फिर, हमारा संसार के प्रति कर्तव्य जैसे कि मातापिता, पत्नी, बालक, दूसरे संबंधो की ओर का, जगत के प्रति का, ऐसे कर्तव्य भी इस स्थान पर हुए शब्द का उपयोग 'धर्म' के अर्थ में नहीं कर सकते, क्योंकि यदि वह अर्थ होता तो उसके साथ *'परित्यज्य'* (छोड़ कर) यह कृदंत बैठता नहीं है। कर्म न त्यागने का उपदेश देनेवाले भगवान ऐसा नहीं कहेंगे। यहाँ मुझे 'धर्म' का अर्थ इन्द्रियाँ, मन, चित्त के संस्कार, बुद्धि, वृत्ति वगैरह के जो **जीव** प्रकृति के धर्म हैं और हमें आदत पड़ी है, उन्हें पूरीतरह संपूर्ण त्यागना है ऐसा लगता है। इन्द्रियाँ, मन वगैरह जो **जीव** प्रकृति के दासत्व में से छोड़ाने हैं, ऐसा श्रीभगवान सूचित करते हैं। मन वगैरह करणों के जो **जीव** प्रकृति के अलग-अलग धर्म हैं और उसकी दिशा अनुसरण से हमारे जीवन में गतानुगतिक रीति की जो लीक

पड़ी हुई है, उसे छोड़कर यदि हम *'मामेकम्'* (मुझे अकेले को ही) अकेले श्रीभगवान की ही शरण में जायेंगे, यानी कि पुरानी लीक पर चलना छोड़कर, उनकी वृत्तिओं और भावनाओं की असर में बहे बिना तटस्थ रहकर श्रीभगवान में ही चित्त रखेंगे तो हमारा विजय जरूर होना है । यहाँ आगे श्रीभगवान हमें पूरा-पूरा आश्वासन देते हैं कि तुम्हें किसी तरह घबराने की जरूरत नहीं है । मात्र तुम मुझे ही अनुसरण करो, मेरे ही पैरों लगो, मुझे ही नमस्कार कर, मेरा ही भजन कर, तो तेरा उद्धार हुआ ही है ऐसा जानना । फिर, अर्जुन को अर्थात् हमें,

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥ (२/३)

ऐसा दूसरे अध्याय के प्रारंभ में ही कहा है । अर्जुन को *'परंतप'* कहकर श्रीभगवान संबोधन करते हैं यह खास ध्यान में देने लायक बात है । ऐसे परंतप अर्थात् शत्रु को जीतनेवाला होने पर भी हम *क्लैब्यं* अर्थात् शक्तिहीनता हमारे स्वयंभू सत्त्व का सभान हुआ हो वह—यानी कि हम मात्र शरीर के ही, अकेले वृत्ति के ही बने हो ऐसे हम जीवन में कितनी बार बन जाते हैं । इसलिए साधक को श्रीभगवान कहते हैं, 'अरे, भले आदमी, तुम सावधान बनो । जरा सावधान हो ।' ऐसी *'क्लैब्यं'* की—यानी कि शक्तिहीनता की अर्थात् निराशा की दशा में तुम नहीं रहोंगे, तुम्हें यह शोभा नहीं देता । तुम अपना तो विचार करो, तुम्हारी शक्ति से तुम कितना कर सकते हो वह देख । तुम्हारे मानसिक निर्धारों को तेरी शक्ति से, तुम्हारे जीवन में जो प्रत्यक्ष किया है, तो फिर जिस शक्ति से उस-उस निर्धारों को तुम मूर्तिरूप जन्मा सके, जीवन में तुमने जहमत उठायी है और अभी उठाना है उसका विचार कर । वह शक्ति क्या बिलकुल बेकार है वेसा तुम समझते हो ? जिन निर्धारों को तुम जन्मा सके उसके पीछे यदि शक्ति न होती तो तुम कुछ नहीं कर सकते थे । इसलिए ऐसी निराशा के समय तुम्हारी शक्ति का आवाहन तू करके उसका चिंतवन कर । उसके स्वरूप को तुम देखों । उसके महत्त्व को पहचान । उसका विचार करेगा तो ऐसी निराशा को तुम कहीं भगा सकोगे । तुम

ने कितनी ही विजय प्राप्त की है । तुमने बहुत ही कर जाना है । तुमने बड़े-बड़े राज्य प्राप्त किये हैं और नये राज्य स्थापित किये हैं । बहुत दु:ख भी भोगा है । उस समय तुम्हें निराशा नहीं हुई थी, क्योंकि उस कार्य में तुम्हें लालसा का रस था—अब जब तुम्हें अपनी भूमिका बदलनी है, उस समय उस रस के पीछे जब जो शक्ति का बल था, उसका अकेले का ही आधार भी अब लालसा का रस छोड़कर—तुम्हें लेना है । वैसे ही तुम जाग्रत हो सकोंगे और जाग्रत कर सकोंगे । ऐसी ही जाग्रत स्थिति में रहकर उस शक्ति का आधार तुम ले सको तो तुम अपने वर को (ध्येय को) प्राप्त कर सकोंगे । हमें श्रीभगवान ने अर्जुन को जो कहा है वैसा व्यवहार करना है । इससे निराशा आये तो ऊपर अनुसार व्यवहार करें ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मता: ॥ (गीता १२/२)

यहाँ आगे श्रीभगवान कहते हैं, अपने मन को मेरे में पिरोकर, सतत जुड़े रहकर जो मेरा भजन करता है, स्तवन और उपासना करता है और जो 'सही' श्रद्धा से यानी कि श्रद्धा में संपूर्णरूप से इस बात में विश्वास और भक्तिभावना रही है, इतना ही नहीं, पर उससे योग्य कल्याण होगा ही, ऐसा जिसके हृदय में पैठ गया है ऐसी श्रद्धा से, उसके अलावा बुद्धि, मन और चित्त के संस्कारों से जिसकी वृत्ति चलायमान नहीं होती अथवा चलायमान होती है तो शक्ति का आधार लेकर उसे जो तत्काल स्थिर करता है और जिसके उड़ते विचार, भावना और ऐसे दूसरी लीक पर जाते जागृति रखकर भगवान के ही स्मरण में वापिस मोड़ने को जो प्रेम से मथा करता है, ऐसी श्रद्धा से ही मेरी उपासना करता है, वह मुझ में ही उत्तमरूप से जुड़ा हुआ है ऐसा मैं मानता हूँ ।

('जीवनपगथी', आ. २, पृ. १३२ से १३५)

'यो मद्भक्त: स मे प्रिय:' यह चरण बारहवें अध्याय में बार-बार आता है । इसका अर्थ यह कि हम उसके भक्त बन जाये । अभी

तो हम उसके होने पर भी **उस**की ज्ञानात्मक, चेतनात्मक दशा में नहीं हैं और **जीव**दशावाले होने से **उस**से पराये हो गये हैं । इसलिए पहले तो हम **उस**के ही हो जाए । उसमें ही दिल लगाओं ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया । (गीता ४/३४)

प्रणिपातेन अर्थात् प्रणाम द्वारा, यानी भक्ति द्वारा । पहले ऐसा भक्तिवाला हृदय विकसित करने के पश्चात् ही *'परिप्रश्नेन'* होगा ।

परिप्रश्न और सेवा से (तत्)=वह (प्रभु का तत्त्व) तुम जानो ऐसा कहकर जिज्ञासा के कारण प्रेरित प्रश्न वह प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा द्वारा शमाने का बतलाया है । 'सेवा से' पद रखा है वह भी अर्थगंभीर, रहस्यपूर्ण, लाक्षणिक हकीकत सूचित करता शब्द है । सेवा योग्य भाव से तब ही हो सकती है कि जब हमारा उस व्यक्ति में अत्यधिक आदरभाव और प्रेमभाव रहा हो । सच्ची प्रेमार्द्र हृदय की दशा में जो परिप्रश्न उद्भवित होता है, उसमें आलस, कुतूहल नहीं होता, एक प्रकार की उपरीतौर की खुजली भी नहीं होती, कुछ समय जैसे सिनेमा में से मज़ा पाते हैं, उस प्रकार की उसमें बुद्धि की क्षणिक मज़ा और खेल भी नहीं होता । पर वह 'परिप्रश्न' हो अर्थात् कि हृदय के खूब भाव से उत्पन्न हुआ और बारबार दिल में घुटा हुआ होता है । फिर, अपने अंदर उस प्रश्न के विषय में उलझन चला करती है और एक ऐसा जीवनप्रश्न हो रहा हो कि जिससे उस प्रश्न का हल न मिले, वहाँ तक प्रगति रुकती हुई हमें लगती है और फलस्वरूप अंतरव्यथा होती रहती है और हल हुए बिना चैन ही नहीं मिलता, ऐसे समय में ज्ञानप्राप्ति के एकमात्र जीतेजागते हेतु से, उस पहेली का सभी ओर का हल पाने की अंतर्स्पृहा भभक उठती हो ऐसी स्थिति में नम्रभाव से पूछा हुआ प्रश्न वह 'परिप्रश्न' । इसतरह प्रश्न जिसे पूछा जाता है, उसे भी पूछनेवाले के दिल के भाव से आनंद होता है और पूछनेवाले के प्रति भी आत्मीयता का भाव पैदा होता है । इसलिए उस भाव के कारण वह सत्पुरुष पूछनेवाले को उसकी सारी उलझनों में से बाहर निकालकर सरलता लाते हैं । हमें भी हमारी ऐसी

जीवंत संस्कृति के भक्त होकर ज्ञानपूर्वक के परम्परागामी होकर और हमारी उलझनें, परिप्रश्न और सेवा के लिए योग्य भाव के साथ सरलता से निवेदन करें और अधिक से अधिक आत्मीयता का भाव लाकर और अंतर्मुख रह रहकर जो आये उसे उसके बाहर के स्वरूपभाव से नहीं पर उसके हार्द के भाव से स्वीकार करें तो सरलता आती है यह निर्विवाद है ।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मंतव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ (गीता ९।३०।३१)

इसमें श्रीभगवान की वाक्यरचना की खूबी तो देखों ! ये श्लोक बहुत रहस्यपूर्ण हैं । जबकि सामान्य रूप से दुराचारी प्रभु को भजता नहीं, पर यदि कभी दुराचारी भजे ऐसा अर्थ *'अपि चेत्'* का होना चाहिए । कोई भी सुभाषित का अर्थ व्याकरण की दृष्टि से बराबर ठीक बैठता न लगे या संदिग्ध लगे तब भी भावना की दृष्टि से जो अर्थ करने से उस सुभाषित का आंतरिक रहस्य अधिक खूबीवाला होता हो और इससे भावना की दृष्टि से योग्य, सुंदर अर्थ निकलता हो तो वैसा अर्थ करने का **यह जीव** का अभ्यास है । **सुज्ञजन मानवी की कीमत उसके आंतर-सत्त्व पर से आंकते हैं, नहीं कि बाहर की पोषाक या दिखावे पर से, वैसे भाषा के प्रासंगिक और प्रासादिक अलंकारों से उसके समग्र रूपरंग पर से और समग्र रूपरंग से भी उसमें निकलते भावरहस्य पर से किसी भी साहित्यिक रचना की कदर करना ऐसी रीति *यह जीव* ने तो अपने जीवनविकास के लिए हमेशा ग्रहण किया है और भाषा के रूपरंग से जीवनविकास के हार्द को विशेष महत्त्व दिया है तथा वैसे हार्द अनुसार उसका रहस्य समझकर, उसका अर्थ उस दृष्टि से उत्तम हो, उसके संस्कार अंतरपट में ग्रहण करने की सावधानी और दरकार रखी है ।** इसलिए *'सु'* रखने में यहाँ

श्रीभगवान की खास सविशेष कला मुझे दिखती है। *'सुदुराचारी'* अर्थात् वह दुराचारी तो है, पर साथसाथ *'सु'* प्रकार का है, यानी कि उसके ऊपर का आवरण मात्र ऐसा है, अंदर से तो वह *'सु'*–अनुकूल, अच्छा है। अंदर से तो अग्नि दहकती हो, किन्तु ऊपर से तो राख का ढेर बिछा हो ऐसा कभी होताहै। उस प्रकार का दुराचारी वह है कि *'सुदुराचारी'* हो। वह मुझे यदि भजे ऐसा भगवान कहना चाहते हैं, और वह किस तरह भजे ? *'भजते मामनन्यभाक्'*–यह विशेष लक्ष्य में रखना है। इसका अर्थ मनसा, वाचा और कर्मणा, यानी कि पूरी तरह मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् प्रभु की भक्ति के रंग से ओतप्रोत होकर रंगे हुए रस से आकर्षित होकर मुग्ध हुए हृदय से, जो मुझे भजे वह *'अनन्यभाक्'* ऐसा इसका अर्थ है। गीताजी में *'भजते'* का अर्थ ऊपर–ऊपर की वाणी में ही भजन करता है, ऐसा अर्थ या भाव नहीं होता पर उसका अर्थ **हमारी संपूर्ण चेतना पलपल *उस*की भक्तिभाव की सतत, अखंडधारा से उमड़ती रहे वह 'भजते' का अर्थ है। इसप्रकार यदि भगवान को अनन्य भाव से भजे तो उसे साधु गिना जायेंगा।** फिर, इस तरह भजने के अलावा अथवा उसका अधिक स्पष्ट अर्थ रूप में *'सम्यग् व्यवसितो हि सः'* कहा है यानी कि उसके जीवन के प्रत्येक आचारविचार योगयोग्य चेतनात्मक प्रकार के पैदा होने चाहिए। उसके अंदर के सभी मनादिकरणों में सुमेल, सुसंवाद होना चाहिए। अर्थात् वे सुव्यवस्थित होने चाहिए, एवं उसके जीवन में और जीवन के सर्वक्षेत्र और सर्व पहलुओं में भावपूर्ण योगयोग्य व्यवस्थिति पैदा हो और इससे उसके जीवनव्यवसाय भी उस प्रकार का होगा। ऐसा भक्त *क्षिप्रम्*–जल्दी धर्मात्मा होता है, चिरशांति को पाता है, अखंड धारावत् हृदय के आह्लाद को प्राप्त करता है। ऐसे भक्त के लिए श्रीभगवान वचन देते हैं कि उसकी भक्ति मिथ्या नहीं है, वह नाश नहीं होता।

इसमें दूसरे श्लोक में जो परिणाम का वर्णन है, उस परिणाम पर नहीं पर पहले श्लोक में भक्ति की भावना पैदा करने की और विकसित करने की जो शर्त रखी है, उस पर सर्व लक्ष विशेषरूप से हमें रखना

है, क्योंकि ऐसा होते बाकी का तो है ही, परिणाम तो है ही । दूसरे श्लोक में *'क्षिप्रम्'* कहकर साधक को श्रीभगवान वचन देते हैं, वह उसके दिल में ऐसा विश्वास पैदा करने के लिए । बाकी वह तो स्वयं भरपूर पड़ा है । उसे जल्दी या देर कुछ भी पैदा होने जैसा नहीं है । इसलिए *'भजते मामनन्यभाक्'* यह साधना का हार्द पाने की चाबी है । ऐसा यदि प्रभुकृपा से हम से हो सका तो वे स्वयं हृदय में सर्व भाव से बिराजमान ही हैं । बाकी जो हमें करना है वह सही तो पहले श्लोक में है । *'अनन्यभाक्'* यदि हो सके तो दूसरा सभी तो प्रत्यक्ष और आनुषंगिक है । अपनेआप फलित परिणाम है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ (गीता ९।२९)

'सभी प्राणी की ओर मेरी समदृष्टि है । कोई मेरा प्रिय हुआ नहीं, कोई अप्रिय नहीं, किसी का द्वेष नहीं करता, एवं किसी के प्रति राग नहीं है । 'तब भी' अथवा तो 'तथापि' *(तु)* जो मुझे भक्तिभावपूर्वक *(भक्त्या)* भजते हैं, वे मुझ में हैं और उनमें मैं हूँ ।'

इसमें भी श्रीभगवान ने भक्ति की साधना को कितना अधिक महत्त्व दिया है ! प्रसिद्ध या अनजाने भाष्यकार इन तीन श्लोकों का क्या अर्थ निकालते हैं यह जानता नहीं और वैसी इच्छा भी नहीं है, पर कैसे भी सुविख्यात भाष्यकार की मध्यस्थी बिना, सीधे ही मूल लेख को उनके प्रति हृदय की भक्तिवाली दृष्टि से देखें तो उस लेख का हार्द और रहस्य साधना की दृष्टि से विशेषरूप से योग्य प्रकार का समझ आता है, ऐसा मेरा अनुभव है, क्योंकि भाष्यकार अधिकतर अमुक सांप्रदायिक मत को पोषण देनेवाले या अपनी रुचि और कक्षा अनुसार या स्वयं ने माने हुए कालधर्म अनुसार या अपने 'mission' अनुसार (प्रभुप्रेरित वह स्थान-काल के लिए उनके कर्तव्य अनुसार) मूल श्लोक का अर्थ करनेवाले होते हैं और वह योग्य भी है पर हम तो मूल श्लोक का ही हमारे अपने जीवनयोग के अनुकूल जिस तरह अर्थ सूझे वैसा उसमें से उसका हार्द

पकड़े । *'तु'* शब्द का अर्थ 'पर' होता है और अकारण expletive (मात्र श्लोक की रचना ठीक और पूरी हो, इसके लिए एकाद अक्षर कम होता हो तो उस तरह रखा हुआ अर्थ बिना का शब्द) भी उसे गिना है, ऐसा हम विद्यार्थी अवस्था में सीख गये हैं । **यह जीव** की नजर से इसमें **'तु'** शब्द का महत्त्व और रहस्य बहुत है और इससे पूरे श्लोक पर उसके रहस्य का प्रकाश पड़ता है, क्योंकि उसमें दूसरी पंक्ति में **'तु'** रखकर श्रीभगवान कहते है कि, 'यद्यपि मेरा कोई अप्रिय और प्रिय नहीं, तथापि, जो मुझे भक्ति से भजते हैं, उनमें तो मैं हूँ और वे मुझ में ही हैं' यानी कि हमारे बीच संपूर्ण एकभाव, एकात्मता है और ऐसे भक्त को मैं सविशेष चाहता हूँ । इसतरह भगवान इस ऊपर के श्लोक में भी नीचे के दो *अपि चेत्* वाले श्लोक में जो शर्त रखते हैं, उसे महत्त्व देकर हमारे जीवनविकास के साधना के कर्तव्य की तरफ अथवा तो **उसे** पाने के गूढ़ मार्ग की तरफ अँगुलीनिर्देश करते हैं ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३२३ से ३२८)

अनिश्चयात्मक दशा से जिसमें और उसमें व्याप्त, प्रकटा करना यह साधनापथ में अत्यधिक गैररास्ते ले जानेवाला है ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (गीता २।४१)

'हे कुरुनंदन ! जो बुद्धि *'व्यवसायात्मिका'* अर्थात् निश्चयी, कार्यसाधक, अपना व्यवसाय पार करे वैसी है, वह तो *'एकेह'* एकाग्र है और जो *'अव्यवसायी'* है, अस्थिरवाला है, अनिर्णयात्मक है यानी कि कार्य में यद्वातद्वापन से काम करनेवाले और इससे अकुशल और निष्फल जीवन जीनेवाले हैं, उनकी बुद्धि छिन्नभिन्न हुई, बहुत शाखावाली और अनंत है ।'

कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य ऐसी अस्थिरतावाली अनिर्णयात्मक बुद्धि से नहीं हो सकता । इसके लिए तो बरमा (छेद करनेवाला साधन) जैसे लकड़ी को छेदकर आरपार छेद कर देता है, उसके जैसी एकाग्र और बेधक विकसित ज्ञानपिपासु बुद्धि होगी, तब ही इस साधना के मार्ग में आगे जा

पायेंगा यह निश्चित जानें । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३५०-३५१)

अनन्य चिंतन का अर्थ

एक बार **उस**का प्रेमभक्ति से अनन्य चिंतन हुआ तो दूसरा हो पायेंगा यह निश्चित जानें । हमारा **उस**में अनन्यत्व आना चाहिए । हमारा **उस**में संपूर्ण अनन्यभाव आता है, तब जीवन के योगक्षेम का भार **वह** अपने सिर ले लेता है ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ (गीता ९।२२)

इस श्लोक का एक-एक शब्द ठीक से समझने जैसा है । मेरा अनन्य चिंतन करते-करते जो *(पर्युपासते = परि + उपासते)* सर्व भाव से तथा सभी विषय में मुझे ही केन्द्र में रखकर ('परि' पूर्वग यह अर्थ बताने हेतुपूर्वक उपयोग हुआ है) उपासना करता है, वैसे (नित्य) सतत हरहमेशा के लिए (अभियुक्त) मेरे साथ प्रेमभक्ति से दिल में दिल से ठीक से जुड़े (यहाँ भी 'अभि' पूर्वग हेतुपूर्वक रखा गया है और उसका ऊपर अनुसार अर्थ करता हूँ) इसलिए हृदय के भाव में एकाग्रता से पूरीतरह रत रहनेवाले और इससे मुझ में एकनिष्ठा से जीवित हुए और हमेशा मेरी ओर देखनेवाले भक्तों का योगक्षेम का वहन करने का मैं अपने सिर ले लेता हूँ । इसका अर्थ यह हुआ कि जो मन-वचन और कर्म से साधना के भाव में सतत एक-सा रत हुआ है और जो सकल प्रकार से निर्बल हुआ है और जिसका सकल आधार केवल श्रीभगवान पर ही ज्ञानभक्तिभाव से संपूर्णरूप से रहा है, उसकी साधना के योगक्षेम का वहन करने का काम श्रीभगवान स्वयं अपने पर ले लेते हैं, यानी कि साधना में उसे सरलता सहजरूप से मिला करती है और साधना में आते अनेक प्रकार के अवरोधात्मक सूक्ष्म बलों को वे अपनी कृपा से निवारण करते रहते हैं । ('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. २००)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

३३. जीवनसंग्राम

गीताजी में युद्धक्षेत्र की भूमिका पर श्रीअर्जुन को श्रीकृष्ण

भगवान तत्त्वज्ञान का उपदेश देते हैं । तत्त्वज्ञान प्रेरित करने के लिए शांति, समता, धीरज, तटस्थता आदि सात्त्विक गुणों की आवश्यकतावाली भूमिका के बिना युद्धभूमिका उसके लिए निमित्तरूप आधारस्तंभ श्रीभगवान ने क्यों लिया होगा, यह प्रश्न गीता के वाचक को हुए बिना नहीं रहेगा । युद्धक्षेत्र पर गीता जैसे प्रेरणात्मक-चेतनात्मक बोध एक तरह से असंबंध या जरा असंगत लगता है, पर उसका रहस्य विचार करें तो बहुत गहरा और भारी है ।

संपूर्ण जीवन—समग्र विश्व युद्ध से ही जीवित रहता है । इतना ही नहीं, युद्ध से ही उसका विकास होता है और युद्ध से ही उसका गढ़न है । युद्ध के कारण उसकी पुरानी विचारसरणी, पुरानी प्रथा, पुराने माप, पुराने मूल्यांकन, पुरानी आदतें और दूसरी ऐसी अनेक प्रकार की धारणाएँ, मान्यताएँ और जीवन-पद्धति, इन सभी को सख़्त आघात लगता है । इसके कारण कोई नया तत्त्व, जो जीवन में प्रवेश करने के लिए जरूरी होता है, उसके प्रवेश करने की भूमिका भी युद्ध से ही पकती है । सामान्य स्थिति के मानवी का मन पड़ी हुई परम्परा से दूसरी तरह व्यवहार करने को कभी तैयार नहीं हो सकता । युद्ध के कारण ऐसी परिस्थिति पैदा होती है कि मानवी को वैसा किये बिना चलेगा ही नहीं । जो नयी परिस्थिति मानवी के जीवन में उद्‌भव होती है, वह प्रत्येक के लिए कोई न कोई ऐसे ही प्रकार का निमित्तकारण होता है । सृष्टि के जीवनविकास के इतिहास में मूल तत्त्व के अंतर्गत रही हुई चेतना, वह अंतर में रहकर किसी न किसी तरह व्यक्त होकर नयेनये रूपान्तर पाती है । सृष्टि के जीवनविकास में युद्ध यह एक अनिवार्य और विश्व को चलानेवाली और जारी रखनेवाली अखंड रचना का और उसके दिव्य, रम्य और गूढ़ हेतु का एक लाक्षणिक अंग है । प्रत्येक तत्त्व में अंतर्गत रही गूढ़ चेतनाशक्ति के आधार पर ही वह अलग-अलग परिणाम में विकसित हुआ करती है । मानवी का भावी इसी कारण से बहुत उज्ज्वल है । मानवी के मन का विकास युद्ध की ऐसी अनेक परम्पराओं में से ही हुआ है । इसके साथ मानवजीवन की रचना में आत्मा का सहेतुक जुड़ना हुआ होने से, उसका भाव किसी न

किसी काल में व्यक्त होना ही है । यह देखते हुए मानवी की ऐसी कोई भूमिका होना संभव रहता है, कि जहाँ किसी भी प्रकार का घर्षण ही न हो और कोई एक ऐसी चेतनाशक्ति का आविर्भाव मानवी के आधार में होने का पूरीतरह संभव लगता है । मानवजीवन के प्रत्येक स्तर में– भूमिका में युद्ध रहा ही है । प्रत्येक कदम भरने में भी मानव को श्रम लेना पड़ता ही है । **'युद्ध अर्थात् मात्र संहार ही' ऐसी कल्पना और समझ बहुत अधूरी है ।** प्रत्येक व्यक्ति युद्ध से ही जीवन को टिकाता है और विकसित करता है । जिस किसी को टिकना है, जिस किसी को जीना है, उसे युद्ध से उत्पन्न ऐसी परिस्थिति के विषय में बदलाव करने से ही छुटकारा है । जो कोई ऐसा नहीं कर सकता, वह या तो पीछे रहता है या नष्ट हो जाता है । ऐसों की जीवनशक्ति सुन्न मार जाती है और वह ऐसे का ऐसा पड़े रहने से विकास के लिए बेकार हो जाता है ।

विश्व की रचना में कोई ऐसा गूढ़ हेतु समाया हुआ है, कि जिसकी आंतरप्रेरणा के कारण ऐसे का ऐसा कोई नहीं पड़ा रह सकता । जानेअनजाने सर्व किसी को जड़-चेतन वस्तुमात्र को धकेलाते ही रहना पड़ता है । जो खड़ा रहता है, उसे पीछे का धक्का लगता है और यदि वह चलता नहीं है तो गिरकर अनेक पीछे आनेवालों के पैरों तले कुचलकर-पीसकर वह नष्ट हो जाता है । हमारे शरीर में भी अणु-अणु के बीच प्रत्येक पल, अरे ! उससे भी छोटे-छोटे समय में निरन्तर सतत युद्ध चलता ही रहता है । इसके कारण शरीर में जोश, चेतन आदि प्रकट हुआ करते हैं । प्रत्येक का एक दूसरे के साथ किसी न किसी तरह मिलाप या मुठमेड़ से कुछ न कुछ नया जन्मता होता है । ऐसे मिलाप में भी एक प्रकार का अनदेखा सूक्ष्म युद्ध ही होता है, इसलिए युद्ध की भूमिका बिना कहीं विकास नहीं है । प्रत्येक जीवात्मा यदि सोचे तो उसके जीवन में एक के बाद एक स्तर की प्रत्येक अवधि में उसे किसी न किसी प्रकार का युद्ध या सामना या प्रतिकार की भूमिका बहुत आवश्यक है । इसके बिना वह कभी भी आगे कदम नहीं भर सकता । मन की भूमिका ऐसे के ऐसे कभी भी बदल सकी हो जाना नहीं । मन को अपनी पड़ी लीक

में से अन्य कूदने के लिए कुछ अवलंबन की आवश्यकता रहती है और जहाँ तक अत्यन्त नाजुक भरी दशा पैदा नहीं होती, वहाँ तक मन अपनेआप कभी भी कुछ भी बदल नहीं सकता । मन को आगे चलाने या उसे योग्य दर्शन प्राप्त करवाने अथवा वह जिस भूमिका पर खड़ा है, इससे दूसरी कोई उच्चतर दशा में उसे ले जाने के लिए संघर्षण, मुठमेड़, संताप, कलेश, दु:ख या इस तरह का युद्ध उसके लिए अनिवार्य है । इस तरह के मथन मानवजीवन के प्रत्येक अलग-अलग स्तर में अलग-अलग प्रकार के भी होते हैं । जहाँ तक मानवी का मन द्वन्द्व की भूमिका पर रचा है और द्वन्द्व में खेला करता होता है, वहाँ तक उसे किसी न किसी प्रकार का मथन या मुठमेड़ की स्थिति प्राप्त हुआ ही करेंगी । इस विश्व की रचना में युद्ध जुड़ा ही है और उसका विकास युद्ध की भूमिका से ही हुआ करना है । प्रत्येक के जीवन में उसका स्थान, वह चाहे या न चाहे तब भी रहनेवाला ही है ।

युद्ध के प्रकार अनेक तरह के हैं । युद्ध स्थूल और सूक्ष्म भी हो सके । युद्ध का स्वरूप भी एकएक से विविध रहा करता है । प्रत्येक भूमिका में युद्ध के स्वरूप भी अलग-अलग ही रहा करेगा । युद्ध की स्थिति में आये बिना मनुष्य के मन में कभी भी मंथन नहीं जाग सकता और मंथन हुए बिना वह गहराई से सोचने की तकलीफ भी नहीं लेता, मन का ऐसा स्वभाव है । इससे, जिसे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की तमन्ना है, जिसे जोर से उसकी भूख लगी है, उसके जीवन में युद्ध की अखंडता अनेक प्रकार से बनी रही हुई अनुभव होगी । एक ही प्रकार का कर्तव्य युद्ध की अलग-अलग भूमिकाओं में अलग-अलग परिणाम आता है और उसका व्यूह भी अलग-अलग बदलता रहता है, इसलिए कर्तव्य के परिणाम का आधार वह किस भूमिका पर से होता है, उस पर रहा है ।

जिसे आध्यात्मिक मार्ग पर जाना है, उसे तो एक की एक सलामत दशा में पड़े रहना उसे रास नहीं आता । ऐसे भी प्रत्येक ज्ञानी या अज्ञानी एक की एक दशा में रह ही नहीं सकता है । प्रत्येक के जीवन में बदलाव

आता ही रहता है, मात्र वह हुआ करता है ऐसा उसे (अज्ञानी को) ज्ञान नहीं होता । बदलाव होते जाना यह तो **इस सृष्टि के जीवन का** एक नित्य का लगातार क्रम है और यह बदलाव किसी न किसी प्रकार के युद्ध के परिणाम विषयक ही फलित होता है । युद्ध आंतरिक भी हो और जैसे-जैसे उसकी भूमिका सूक्ष्म होती जाती है, वैसे-वैसे युद्ध के आकार और प्रकार भी सूक्ष्म होते जाते हैं ।

युद्ध अर्थात् मात्र स्थूल हिंसा ऐसा कुछ भी नहीं है । हाँ, युद्ध से खंडन स्थूल भी हो और सूक्ष्म भी हो । युद्ध से केवल खंडन ही होता है, ऐसा कहना या मानना भूलभरा है । युद्ध से मंडन भी होता है । युद्ध से ही सब कुछ बदल जाने की परिस्थिति में आते हैं । मनुष्य के जीवन में, किसी भी योनि के जीवन में, इसप्रकार की युद्ध की पीठभूमिका या अंतर्भूमिका या उसका आंतरिक बहाव सतत निरन्तर चला ही करता होता है । ऐसे होते रहते युद्ध को जो **जीव** देख सकता है, अनुभव कर सकता है और उसमें से अपने जीवनविकास का हेतु परखकर उस अनुसार व्यवहार कर नदी के बाढ़ की तरह उत्साहपूर्वक उसका स्वीकार करके अपनाने को तैयार होता है, वही युद्ध से विकास पाता है । अंतर्गत साधना होती रहती है, उसका प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रकार के युद्ध की अनेक सूक्ष्मतम परम्पराओं में से **जिस तरह** उसमें से वह **जीव** योग्यरूप से ग्रहण करता रहता है, उस तरह समझ में आता है ।

साधक की बाहर और अंतर्दशा में सतत युद्ध खेला ही करता है और इस संसार विषयक सोचे तो वह भी कुरुक्षेत्र ही दिखता है । गति टकराहट से ही उद्‌भवित होती है । उसमें भले हथियार से लड़ना न होता हो, परन्तु प्रत्येक स्थिति और संबंध के साथ तथा संसार की सर्व प्रकार की प्रवृत्ति में मनुष्य को स्थूल या सूक्ष्म सामना किये बिना नहीं चल सकता—करना ही पड़ता है । किसी न किसी तरह मनुष्य के मन में घर्षण चला ही करता है । इस सचराचर जगत में सब जो कुछ है, उन सभी के जीवन का आधार भी संग्राम से ही टिका रहता है । ऐसा विधान बहुतों को मन से अनुचित लगे, किन्तु उसमें उपयुक्तता या अनुचितता का प्रश्न

ही नहीं रहता । प्रत्येक जीवन के साथ यह तो ओतप्रोत जुड़ा ही रहता है । युद्ध प्रत्येक जीवन की भूमिका में अखंड एक-सा व्याप्त रहा होता है । **मनुष्य के मन में सतत एकसमान सुखाकारी के समग्र प्रमाण के जितना दुःख या रोग न होने पर भी उसका भान मनुष्य को जल्दी होता है ।** जो हमारे साथ सतत एकसमान जुड़ा रहा करता है, इसका स्पष्ट भान मनुष्य को रहता नहीं है, ऐसा ही युद्ध के विषय में है । ऐसा सब ओर से सोचते और देखते युद्ध सर्व प्रकार के विकास का एक योग्य साधन है । इतना ही नहीं, पर यह एक अविचल और अनिवार्य अंग है । इसलिए श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन को युद्धभूमि पर तत्त्वज्ञान का बोध प्रेरित किया, यह तो एक आध्यात्मिक सत्य के सूक्ष्म प्रत्यक्ष प्रतीक रूप है ।

मनुष्य के मन में जाने अनजाने दिन की उसकी सर्व प्रकार की प्रवृत्ति में किसी न किसी तरह मथन चला ही करता है । केवल मनुष्य के क्षेत्र में ही नहीं, पर सकल विश्व में—जड़ चेतन सभी में—परिवर्तन होता जाता हम अनुभव कर सकते हैं, पर यह परिवर्तन तो ऐसे का ऐसे ही नहीं होता, वह तो सब किसी की समझ में आ सके ऐसा है । इसप्रकार, संसारक्षेत्र की - कुरुक्षेत्र की रणभूमि सभी मनुष्य के जीवन में या अंतर में एक प्रचंड हकीकत रूप में सदैव खड़ी ही होती है । काल और देश के लक्षण से मर्यादा बिना का और अनंत प्रकार की जड़ और चेतन सामग्रीवाला यह संसार इतना तो विशाल है, कि मनुष्य का मन समग्ररूप से कल्पना में भी न उतार सके । ऐसे इस संसार में सचमुच देखने पर, अनेक अलग-अलग हेतु से युद्ध खेला ही करता है । मनुष्य-मनुष्य के बीच वैसे ही जड़-जड़ के बीच (एवं जड़ और चेतन के बीच भी !) और इसप्रकार सभी किसी के बीच एकदूसरे के परमाणु स्थूल और सूक्ष्मरूप से टकराया ही करते हैं । ऐसे अणु-परमाणुओं की टकराहट सतत चला ही करती है । इसकी लीला कोई अपरम्पार है । इसमें से बहुत सा नया जन्मता है और बहुत सा पुराना विलीन होता है । उन अणु-परमाणुओं को कहीं आराम नहीं और इस तरह प्राणीमात्र युद्ध करते-करते

ही अपने जीवन को धारण कर सकता है और विकसित करता है। अलग-अलग तत्त्व परस्पर आकर्षण से जुड़े रहते हैं, निभते हैं और ऐसे आकर्षण में से भी कोई अलग ही प्रकार का युद्ध जन्म लेता है। युद्ध की आ पड़ी स्थिति में ही प्राणीमात्र अपना सर्वश्रेष्ठ और सर्व प्रकार का शक्तिबल एकाग्ररूप से अजमाने को तान में रहता है। अपनी सर्व शक्ति केन्द्रित कर उसमें खर्च करता है और ऐसा करते-करते ही जीवनशक्ति का विकास करते रहते हैं। युद्ध की ऐसी अनिवार्यता के कारण ही इन्द्रियाँ, मन और मन की विचित्र शक्तिओं का उदय होता रहता है और वह विकसित होता रहता है।

जीने की और विजय प्राप्त करने की सहजवृत्ति सभी में रही हुई रहती ही है। युद्ध में जय पाना और जीवन को प्रतिष्ठित करने अथवा तो जीवनप्रतिष्ठा के कारण एक-सी इच्छावाले कार्य के लिए सभी कोई उसमें विचार और कर्म करने को स्वभावतः प्रेरित होते जाते हैं। इसप्रकार सहज रूप से प्रेरित होने में विचारशक्ति, प्राणशक्ति, जीवनशक्ति और दूसरे सूक्ष्म आंतरिक करणों की शक्ति आदि खीलती जाती है। ऐसे होते सभी प्रकार के विकास में से दोष और गुण भी जन्मते होते हैं और उनका भी परस्पर संग्राम होता है। व्यष्टि और समष्टि तक यदि अंतर्गत रूप से सोचे तो सर्वत्र एकमात्र संग्राम ही चल रहा है। जीव के जन्म लेने के साथ-साथ ही विविध अनुकूल प्रतिकूल बल लेकर अथवा तो उसके सूक्ष्म बीजरूप से संस्कार धारण करके जगत में जन्मता है और **जीव** को जीवनयुद्ध में धकेलता है। ऐसे संग्राम में जय पाने के लिए व्यष्टि या समष्टि की सर्वश्रेष्ठ शक्ति योग्यरूप में संघबद्ध रहा करती है, वही जीने के लायक रहता है। जिसकी ऐसी शक्ति संघबद्ध नहीं होती, वे सभी अपने आप निर्बल होते जाते हैं और उनकी-उनकी जीवनशक्ति, आत्मरक्षा और आत्मप्रतिष्ठा की शक्ति इस संसार के युद्ध के लिए की योग्य उपयुक्तता खो बैठने पर स्वयं जीने पर भी हारते जाते हैं।

ऐसा हार पानेवाला व्यक्ति, जाति या समाज, जिसका लक्ष्य अपने जीवनध्येय पर जीते, एक-सा रहा करता है, वह ऐसी लगती हार में से

भी जीवन की प्रेरणात्मक और चेतनात्मक शक्ति प्राप्त करता है। जिसकी दृष्टि, वृत्ति और भाव ध्येय में ही एकाकार रूप से जीवित रहते हैं, उसके मन में प्रत्यक्ष हार या निराशा नहीं, उल्टा वह तो जीवनसंग्राम को आगे बढ़ाने कोई एक अलग ही प्रकार का पहलू है। उसके मन में हार यह तो मात्र जगत की दृष्टि से ही है, शब्द का जंजालरूप है। जीवनविकास की दृष्टि से हार या निराशा यह तो ऐसी प्राप्त होती जाती स्थिति का वह जीवात्मा किस तरह स्वीकार करता है और किस तरह हल निकालता है, उस पर आधार रखता है। उस पर से ही उसके जीवन की चेतना लक्षणा का हमें ख्याल आ जाता है। और इस तरह स्थूल और सूक्ष्मरूप समग्र सृष्टि में जहाँ-तहाँ युद्ध चलता रहने से आंतर सजातीय प्राणिओं में उनकी अंतर की आत्मीयता का भान जिसमें सविशेषरूप से जाग्रत रहता है, ऐसे आगे बढ़े हुए अनेक प्रकार के जीवों में या प्राणिओं में, उनके जीवन और व्यवहार में युद्ध की पीठभूमिका निरन्तर रूप से व्याप्त होने के कारण कुल, कुटुंब, समाज, संघ और जाति के दल बंधते-जुड़ते जाते हैं। इसप्रकार 'सब किसी का' जन्मना और नाश पाना, यह तो इस विश्व की रचना का एक सनातन महत्त्व का अंग हो गया है।

जीवन की साधना करनेवाले साधक को अपने अंतर में सतत युद्ध खेला ही करना पड़ेगा, यह तो उसके या सर्व किसी के जीवन में जीवन का एक भाग रूप बुनी हुई निर्माण हुई दशा ही है। इस तरह स्वभावतः खेलाते रहते युद्ध में—जो साधक जीवनविकास का एकाग्र, केन्द्रित, जीवित ख्याल रखकर तथा चेतनाभरी जागृति रखकर—मन, चित्त, बुद्धि, प्राण, अहम् आदि जो अज्ञान की भूमिका में खिंचे रहा करते हैं, उन्हें उस तरह बहते जाने देने में, मतलब कि साधक की उन-उन करणों की अधोगामी प्रवृत्ति में जो कभी साथ नहीं दे सकता और उसे अनुमति भी नहीं देता, ऐसे साधक को प्रत्येक पल युद्धरूप ही होता है। **विचार, वृत्ति या लहरी उठी उसके साथ साधक हमेशा उस पर सतत जीवित पहरेदारी रखता होता है। ऐसी जो पहरेदारी अपने करणों की अधोगामी प्रवृत्ति विषयक (और आगे जाकर किसी भी प्रवृत्ति**

विषयक) सतत रख सकता है, वही साधक जीवनविकास पाता जाता है, ऐसी सहज चेतनाभरी जागृति जिसके जीवन में एक-सी व्याप्त है, वैसा ही साधक जीवन को अपने ध्येय तक पहुँचा सकता है। जिसे यज्ञ की गगनचुंबी ज्वालाओं की तरह उच्च जीवन की तमन्ना भड़की है, वह चैन से कैसे बैठ सकता है ? उसकी प्रकृति उसे किसी न किसी प्रकार किसी में धकेला ही करेगी। दूसरी ओर से उसमें साथ या अनुमति देने की वह मना करेगी। यही उसमें उसकी द्विमुखी गति तूफान मचाती है। ऐसे तूफान में जो जीव अपने अहम् पर मुश्ताक रहकर टट्टार खड़ा रहने को मथता है, उसका तो निपट चूर-चूर हो जाता है। ऐसे जीव को अनेक बार पीछे हटना पड़ता है। तथापि उसकी प्रवृत्ति ऊर्ध्वजीवन की भावना के लिए (भले फिर उसकी वैसी प्रवृत्ति उसके एकमात्र अहम् द्वारा प्रेरित रहा की हो) श्रीभगवान उस पर कृपा करके उसके अहम् को तोड़फोड़कर चूरा करने के लिए ऐसे अनेक प्रसंग लाते हैं। जो जीव श्रीभगवान के ऐसे कृपाप्रसंग को स्वीकार कर सकता है, वह धन्य होता है। फिर, जीवन में मिलते सर्व प्रसंग और परिस्थिति के पीछे जीवनविकास के समग्र हेतु को जो जीव ख्याल में रख सकता है, उसे तो वह सब उसके जीवन की सफलता के लिए ही कृपा से मिले लगते हैं और इससे सभी का वैसी ही भावना से जीवन को कृतकृत्य करने के लिए ही वह उपयोग करता है। जो जाति, संघ या समाज जितने प्रमाण में जय पाने के लिए साधन और सामग्री इकट्ठा करने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, पर जिस काल और स्थल पर युद्ध को सफल करने में जो योग्य और आवश्यक होता है, उसे वहाँ-वहाँ तुरन्त ले जाने में एकदम चेतनायुक्त जागृति रखता है और समग्र रूप से युद्ध का अवलोकन करके जिस तरह विजय प्राप्त कर सके ऐसे मोरचे बनाकर प्रतिपक्ष का सतत सामना किया ही करता है, वही जाति, संघ या समाज उतने प्रमाण में युद्ध को जीतने में शक्तिमान होता है ऐसा हमने देखा, जाना और अनुभव किया है। ऐसी लौकिक, पारलौकिक जय और पराजय की सभी क्रियाओं में विज्ञान-प्रज्ञान का विकास हुआ करता है और ऐसा

करते-करते उस-उस कार्य में वह एकाग्ररूप से उसमें ही व्याप्त रहा होने से उसमें से मनुष्य को कुदरती शक्तियाँ प्राप्त होती है। जो साधक अपने मन-चित्तादि करण की प्रवृत्ति का ज्ञानचेतनायुक्त सामना नहीं करता और वैसी की वैसी स्थिति में यदि वह घिसटता रहता है तो वैसे को ऐसी शक्ति का अनुभव किसी भी काल में होता ही नहीं। अपने जीवन में पड़े रीतरिवाजों की तरह जीने, सोचने, मानने, मापने, कल्पना करने, अनुभव करने का उसे छोड़ना ही पड़ता है। ऐसा आंतरिक युद्ध खेलकर वह अपने जीवन का विकास कर सकता है।

मनुष्य के आधार के प्रत्येक करण की प्रवृत्ति में युद्ध खेला जाता है। अज्ञानी मनुष्य को भी अलग-अलग प्रकार के मथन हुए बिना नहीं रहते। मनुष्य की बुद्धि के क्षेत्र में भी अलग-अलग प्रकार के युद्ध जागते हैं। मनुष्य को अनेक प्रकार के विचार उठते हैं। जो विचार उठते हैं, उन से फिर सामने की ओर के कोई दूसरे प्रकार के विचार भी उसे उठते हैं। सीधे-उल्टे, टेढ़े-मेढ़े, उल्टे-सुल्टे, ऊपर-नीचे, काले-सफेद, अच्छे-बुरे ऐसे प्रत्येक विचार के साथ उसके सामने की ओर के विचार के भी संग्राम होते हैं। इसके साथ-साथ फिर मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के अलग-अलग मताग्रहों का और उन-उन मताग्रहो के भी अंतर में मंथन जागता है। एक प्रकार में आग्रह जागा कि साथ-साथ उसके सामने की ओर दूसरी तरफ का आग्रह भी होता है ही। उसी तरह मनुष्य की आदत विषयक भी है। इसके अलावा फिर प्राण की अलग-अलग कामना, आशा, लालसा और वासनाओं के भी युद्ध जागा करते हैं। एक इच्छा उद्‌भव हुई तो उसके सामने की दूसरी उद्‌भव होकर टकराहट खड़ी कराती है। फिर, मनुष्य के मन में उसके जीवन के बारे में कई-कई प्रकार के आदर्श भी जागते रहते हैं और उनका भी युद्ध हमेशा चला करता है। हमारे जीवन में अनेक प्रकार के विचार, मत, आदत, मान्यताएँ, कल्पनाएँ, समझ, ख्याल, आदर्श आदि की टकराहट और मंथन के जो युद्ध जन्मते हैं, उसकी असर मन पर पड़े बिना नहीं रह सकती है। मनुष्य के आधार में उसकी प्रत्येक भूमिका पर और उसके करणों की प्रवृत्ति

में तब अलग-अलग कक्षा के युद्ध हुआ ही करते हैं । इसके उपरांत इस सृष्टि में भी अनेक प्रकार के युद्ध चलते ही रहते हैं । प्रत्येक जीवन, आदर्श और उसके विचार और उसके प्रवाह की दिशा या पाट गढ़ाने के लिए और उसे चिरंजीवी बनाने के लिए मन में एवं अनेक संघ, समाज और जातिओं में भी अनेक प्रकार की टकराहट जन्मती हैं । इसमें जिस जाति का अधिक संहार होता है और ऐसे जो अधिक दुर्बल बनती है, उसका नाश होता है, परन्तु जो जाति उच्चतम जीवन के ध्येय के लिए भले स्थूल रूप से नाश पाये तब भी जो जीवन की कामना के लिए उसने मृत्यु का भी स्वीकार किया ऐसे दिव्य समर्पण की असर आये बिना नहीं रह सकती, उसकी ऐसी विरासत मानवजीवन के विकास में अमूल्य योगदान देती है और उसका स्थूल अस्तित्व न होने पर भी जीते-जीते जीवनरूप से सभी में पनपती है । इसलिए ऐसा व्यक्ति, संघ या जाति स्थूल मृत्यु प्राप्त होने पर भी जीवित ही रहा करती है । ऐसा जीवन संपूर्णरूप से नष्ट हुआ लगता है, तथापि उस जीवन का अस्तित्व मानवजीवन की किसी न किसी भूमिका में रहा ही करता होता है । उसी तरह मनुष्य के मनादिकरण की प्रवृत्ति पर श्रीभगवान की कृपा से जो विजय पाता है, वह सच्चे अंतर तत्त्व को पाकर संपूर्ण विकास पाता जाता है और ऐसे जीवन संस्कृति के एक के बाद एक विकास के ऐसे कदमों में उसका संस्कारप्राण इतना तो उन्नत होता जाता है कि उसके विचार और कर्म की भूमिका में उसका जीवन अखंडरूप से कभी भी चलित या पृथक् नहीं हो सकता ।

इसके साथ-साथ फिर जीवन के अनेक प्रकार के सूक्ष्म स्तरों में होते जाते युद्ध की नयी परम्पराएँ भी खड़ी होती हैं । जैसे पर्वत की सर्वोच्च चोटी पर पहुँचने से पहले अनेक शिखरों की शृंखलाएँ एक के बाद एक आती ही रहती है, ऐसा ही जीवन की साधना में भी होता है । ऐसे **जीव** को अमुक सीमा तक की मन की आगे की कक्षा पार करते ही एक प्रकार की शान्ति लगती है, तथापि वहाँ पर युद्ध तो रहा ही करता है । ऐसे युद्ध से उसकी शान्ति भंग नहीं होती यह सच है, पर

तब भी कितनी बार वह उससे घिर भी जाता होता है । ऐसे सूक्ष्म युद्ध या सूक्ष्म वातावरण को वह सूक्ष्म जागृत विवेकशक्ति से समझने में गलती भी कर बैठता है । उस समय उस भ्रमणा में पड़ जाने का पक्का भय रहता है। किन्तु जो श्रीभगवान को सतत प्रार्थना किया करने में ही जीवन्त एकाग्र लक्ष रखा ही करता है, उसे श्रीभगवान उठाकर भी उसमें से ऊँचा ले गये बिना नहीं रहते । श्रीभगवान का भाव यह कोई बुद्धिगम्य रम्य कल्पना मात्र नहीं है । ऐसी साधना में सर्व भाव से और सब तरह से जिसने झोंक दिया है, ऐसे अनुभवियों की परम्पराएँ इस देश में अखंड धारावत् चालू रहा करती है। जैसे विज्ञान के प्रयोग से सिद्ध हुई हकीकत मानने में हमें हरकत नहीं होती, वैसे ऐसे संत, भक्त, ज्ञानी, योगी आत्मा के वैसे वैसे के जीवन अनुभव के संस्कार आज भी प्रजामानस में संस्कार के प्राणरूप जीवित रहते हैं। पर उसे इस तरह स्वीकारने का आज मनुष्य का मन तैयार नहीं है ।

इसप्रकार, ज्ञान, प्रेम, भक्ति, योग, भावना की चेतनाभरी उत्कट जागृतिपूर्वक का जहाँ जिनको जो कोई उत्कर्ष सधा होता है, यानी कि मनुष्य के जीवन की आंतरिक सारी भूमिका में जितना प्रासाद भाव विकास हुआ होता है और जीवात्मा जितनी परिपूर्णता की सीमा में पहुँचता जाता है, वह सब यदि सोचे तो वह युद्ध द्वारा ही हुआ होता है । समग्र दृष्टि से सोचते और देखते संग्राम यह सकल संसारप्रवाह की एक गूढ़ सनातन समस्या है, और उसके साथ यह एक अटल विश्वनियम है, इतना ही नहीं, परन्तु वह अनिवार्य भी है, क्योंकि सृष्टि के अंदर उसके विकास के हेतु के लिए श्रीभगवान ने उसे एक विधान के रूप में वहाँ रखा है। इससे समग्र विश्वजीव को जगत के उत्तरोत्तर बढ़ते विकास के लिए इस श्रीभगवान की वह लीला कला रचना, अपार कौशल्यरूप से दिखाई दिये बिना हमें नहीं रहती है ।

इस विश्व की रचना में और उसके जीवनप्रवाह में यदि हमारी गहरी दृष्टि, वृत्ति और भाव रखके, तटस्थतापूर्वक विचार करें तो अनेक प्रकार आमने-सामने के जोड़ दिखा ही करते हैं । उन जोड़ की लीला जड़,

चेतन सचराचर में व्याप्त है । दिन और रात, तेज और अंधकार, आशा और निराशा, विजय और पराजय, जश और अपजश, मान और अपमान, करुणा और घृणा, प्रेम और धिक्कार, दया और हिंसा, सत्य और असत्य, लाभ और गैरलाभ, संपत्ति और विपत्ति, संयोग और वियोग, उत्पत्ति और विनाश, आरोग्य और अनारोग्य, सुख और दुःख, यौवन और बुढ़ापा, जन्म और मृत्यु, राग और द्वेष, संबंध और असंबंध, भाव और अभाव ऐसे काम, क्रोध, लोभ, मोह और उसके आमने-सामने के ऐसे दूसरे जोड़ या द्वन्द्व होते हैं । इसतरह अनेक अलग-अलग प्रकार के द्वन्द्वों की परम्परा सकल विश्व में मूलभूत नींवरूप रही है । इन द्वन्द्वों की रचना, यानी कि संसार और उस द्वन्द्व की रचना की व्यवस्था में ही अनेक प्रकार के युद्ध समाये रहते हैं । इसी से ही जीवन में प्रतिदिन कहाँ-कहाँ टकराहट, मथन, संताप, क्लेश और दुःखरूपी उल्कापात तथा ऐसे अनेक प्रकार के मानसिक उद्वेग और स्थूल तथा सूक्ष्मरूप से होते भूकंप, आग, आंधी, तूफान, विप्लव और ऐसी अनेक प्रकार की क्रियाएँ चलती आयी हैं । मनुष्य यदि ज्ञानपूर्वक सोचे तो ऐसा सब उसके जीवन के एक नित्य का क्रम हो वैसा उसे लगा करता है । उसमें किसी को कोई आश्चर्य नहीं होता । मनुष्य का मन ऐसे प्रकार की एक प्रथावाला हो गया होता है । जीवन में अनेक अलग-अलग प्रकार के द्वन्द्वों के साथ वह चाहे या न चाहे तब भी उसे युद्ध खेला ही करना पड़ता है । कोई भी उससे मुक्त नहीं हो सकता । विश्वजीवन की किसी भी भूमिका में युद्ध चलता न हो ऐसा कहीं भी नहीं, क्योंकि यह तो प्रकृति के स्वभाव का सहज लक्षण है । मनुष्य के जीवन में वह इतना सब तो सहजरूप से ओतप्रोत हुआ है कि उसका उसे ख्याल जल्दी आ ही नहीं सकता । ऐसे अनेक प्रकार के द्वन्द्वों के युद्ध द्वारा ही सृष्टि में श्रीभगवान का दिव्य सूक्ष्म हेतु सधता जाता है ।

मनुष्य में ऐसे अनेक प्रकार के जो द्वन्द्व हैं, उसमें से उसे एक पसंद होता है और दूसरे पसंद नहीं होते । अनेक प्रकार के द्वन्द्वों के जो जोड़ ऊपर बतलाये हैं, उनमें अच्छे-अच्छे मनुष्य के मन को पसंद और उससे

उल्टा या विपरीत प्रकार का उसे पसंद नहीं होता, परन्तु उसके ऐसे पसंद या न पसंद पर वैसे किसी का आधार नहीं रह सकता । एक वस्तु उसे पसंद हो वह उसे मिलनी ही चाहिए, ऐसा साधारण रूप से होता नहीं और मनुष्य के मन के इस तरह के पसंद या नापसंद के भाव के कारण उसे कभी आराम या शान्ति नहीं मिल सकती है । मनुष्य का मन जो जो चाहे और जो-जो न चाहे उस अनुसार कभी भी नहीं होता है । मनुष्य वहाँ तटस्थतापूर्वक-समता से निरपेक्षरूप से और वैसी-वैसी भावना से यदि सोचा करे तो वह सहज रूप से अंतर में समझ सके, कि एक बात के सुख में उसके सामने की बात का दु:ख समाया ही है । एक का जो लाभ वह दूसरे को हानिरूप होता है । एक का जो विजय वह दूसरे का पराजय होता है । और इसतरह इस सकल विश्व के द्वन्द्व की रचना यह एक दूसरे से स्वतंत्ररूप से कभी अलग नहीं हो सकती । द्वन्द्व का एक भाग जहाँ है, वहाँ दूसरा भाग भी साथ होगा ही । इसतरह आंतरिक जीवन के संयोग में होता सुख या आनंद जो उसके वियोग की भूमिका की आंतरिक व्यथा बिना कदापि नहीं जन्म सकता । विश्वजीवन में द्वन्द्व की रचना ही ऐसी है, कि उसमें एक को त्यागकर दूसरे का उपयोग करना कभी भी संभव हो सकता ही नहीं । जहाँ एक है, वहाँ दूसरा है ही, यदि राग है तो द्वेष भी है । जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु है ही, यदि सुख है तो दु:ख भी है ही । जश में अपजश समाया है ही, उस तरह जय में पराजय भी रहा ही करता है, इसतरह अनेक प्रकार से एक के साथ दूसरा उसका विरोधी अनुषंगी स्वभावत: लिपटा रहा करता है ।

यह सब मनुष्य की बुद्धि कबूल करती है सही, तथापि एक की प्राप्ति और दूसरे के त्याग के लिए **जीव**मात्र आकांक्षा रखा ही करता है और ऐसी आकांक्षा को संतोष देने पर अथवा तो उन आकांक्षाओं के मूर्तिमंत करने की प्रत्येक एक के बाद एक होती क्रिया में उसे संग्राम को गले लगाना ही पड़ता है । उन सभी की रचना के अंतर में मनुष्य थोड़ा उतरे, तो द्वन्द्व और उसके कारण खड़ा होता युद्ध यह मानो कि समग्र विश्व की रचना का एक अंतर्गत मूलभूत अनुलंघ्य सनातन नियम

हो ऐसा समझ आयेगा । ऐसे द्वन्द्व और उससे जागते युद्ध सभी किसी के जीवन में, अरे इतना ही नहीं, जड़ और चेतन सभी में, द्वन्द्व द्वारा युद्ध प्रत्येक क्षण में व्याप्त हम देख सकते हैं । इसकी अखंड परम्परा सतत चला ही करती है । उसमें त्रुटि कभी भी आ नहीं सकती, इससे मनुष्यमात्र इस प्रकार के अनेक तरह के द्वन्द्व और उसके युद्ध में जुड़े ही रहा करता हैं, ऐसा होने पर भी उसका ये कभी गंभीरता से विचार भी नहीं करता है । कोई जीव कोई धन्य पल में ऐसा करता है, तो उसके मूल तक जाने की धीरज उसे नहीं होती । फिर, भाग्य से ही कोई जीव ऐसे उसके हेतु का समग्रता से भान या ज्ञान रख सकता होता है, तो फिर उसका ऐसा अनुभव तो वह कहाँ से कर सकता है ? उसके समग्र व्यापक रूप में ऐसा उसका चिंतन–मनन करना तो उसे सूझे ही कहाँ से ? क्योंकि ऐसे अनेक प्रकार के द्वन्द्वों को और उसके द्वारा होते युद्ध का स्थूल और सूक्ष्म खेल जो सभी किसी के जीवन में रचाया और खेलाया करता है, यह तो महामाया प्रकृति का सनातन खेल है । इससे अलग होकर देखने की, सोचने की या अनुभव करने की दृष्टि, वृत्ति और भाव भाग्य से ही किसी में जागे रह सकने का संभव है । इसलिए तो श्रीभगवान समस्त विश्व को अपनी माया से मूढरूप से भ्रमित करते हैं, ऐसा गीताजी में लिखा है यह अक्षरशः सत्य है ।

ऐसे युद्ध का भयंकर मूर्तिमंत स्वरूप मनुष्य के मन समक्ष कोई बार आकर जहाँ खड़ा होता है और फिर जब उसके न चाहने योग्य प्रकार के परिणाम अथवा तो जिसे हमने अपना माना किया है, उनका नाश करने के लिए वह प्रत्यक्षरूप से प्रवृत्त हुआ अनुभव होने में आता है, तब मनुष्य का मन भय, वेदना और दुःख से बहुत ही आकुल–व्याकुल हो जाता है । जब ऐसा युद्ध अपने जीवन में ठोस हकीकत–रूप से उसके सामने आया हुआ उसे लगता है, तब मनुष्य की सारी विचारशक्ति लय होती है और वह उसके मूल में से घिर जाता है और अपनी कर्तव्यबुद्धि का एवं वह आ पड़ी परिस्थिति का योग्य धर्म का उसे पूरा–पूरा ज्ञानयुक्त भान रहता ही नहीं । ऐसे समय में उसमें समता, शांति और प्रसन्नचित्तता

टिक नहीं सकते । मनुष्य अपने आपको तब खो बैठता है और ऐसे जहाँ मनुष्य अपने आपको खोता जाता है, वहाँ उसकी निर्बलता की सीमा आ पहुँचती है । वैसी पलों में उसे खड़ा होना कठिन हो जाता है । ऐसे समय में जिसे कोई आधार नहीं, वैसा तो मुआ ही पड़ा जानो । जीवन की साधना में मनुष्य को ऐसे अनेक प्रकार के द्वन्द्वों के साथ सतत जाग्रत चेतना के साथ युद्ध देना ही होता है । उसके मान लिये मंतव्य, समझ, आदत, आग्रह, अभिप्राय, पसंद और नापसंद, रुचि और अरुचि और प्राण की अनेक प्रकार की कामनाएँ, लालसाएँ, वासनाएँ और पड़े हुए संस्कार—सभी मनुष्य के अंतर में जीवित रहे स्वजन जैसे ही हैं । वे स्वजन जीवदशा के स्वजन हैं । ऊर्ध्वजीवन के स्वजन नहीं हैं । **जीव** को जीवदशा में जकड़े रखने की उनकी अनेक प्रकार की पैरवी एक के बाद एक सूक्ष्म तरह से नये-नये रूप धरकर अनेक लीला खेलती रहती है ।

ऐसे स्वजनों का संहार करने को मनुष्य का मन तैयार नहीं होता, अथवा सच कहें तो तैयार होता नहीं । उनका साथ छोड़ने को मनुष्य का मन जरा भी राजी नहीं होता । ऐसा होने पर भी प्रकृति से स्वभावतः मूढ़पन में मानवजीवन में युद्ध तो चलता ही रहता है, किन्तु उसमें वह बलपूर्वक घिसटता रहता है । उसमें उसका कुछ नहीं चलता है । प्रत्यक्षरूप से जीतेजागते ज्ञानपूर्वक वैसा युद्ध देने में और उसका पराजय करने में मनुष्य के कंठ में प्राण आते हैं और वैसे समय में यह करना या यह नहीं करना, ऐसी एक प्रकार की द्विधा उसके मन में जागती है ।

ठीक इसी तरह कुरुक्षेत्र के मैदान में दो आत्मीय पक्ष के बीच में—युद्ध के लिए तैयार हुए पक्षों के बीच में—अर्जुन की भी कुछ ऐसे ही प्रकार की मानसिक दशा होती है । भला, जरा विचार तो कर देखों ! अर्जुन कोई सामान्य संसारी मनुष्य जैसा नहीं है, और वह जैसा-तैसा योद्धा भी नहीं । पहले उनके जीवन में अनेक प्रकार की समस्याएँ आकर खड़ी हुई थी, तब उसमें द्विधापन खड़ा नहीं हुआ था । उसने तो अनेक युद्ध गांडीव की टंकार के रंग से खेले थे और युद्धविद्या में उस समय का एक महावीर गिनाता था, इतना ही नहीं, पर **'नर'** के

प्रतीक समान गिनाता था । प्रतीक समान किसलिए ? **नर** ही था । **नर** के अवतार रूप महाभारत में अर्जुन को स्वीकार किया गया है । अनेक युद्धों में विजय वरमाला पहन चुका वह पीढ़ महारथी था । अनेक युद्धों में उसने विजेतापद प्राप्त किया है । महावीर रूप में असाधारण यशप्राप्ति भी उसे मिली है । उसके आचरित ऐसे युद्धों में से अकथ्य भयंकर व्यथाएँ, बड़ी अव्यवस्था, असंचालन, नुकसान, अंधाधूंधी क्या तब नहीं जागे होंगे ? अर्जुन से लड़े उस युद्धों से कितने मानवकुलों का सर्वनाश भी हुआ ही होगा । अनेक जीव भयंकर दुःख की वेदना में पड़े होगे । अनेक जाति और समाज छिन्नभिन्न हो गये होगे । अनाज से भरचक भरे हरेभरे खेतों का कितना नाश हुआ होगा और ऐसे अनेक देश विरान हुए होंगे ! हजारों कुटुंबों में जिस पर सुख की आशा है और जो प्रेरणारूप है, ऐसे स्वजन भी मारे गये होंगे ही । अर्जुन की ऐसी विजय-पराक्रम की गाथाओं में वेदनाओं की हृदयभेदक कथाएँ समायी हुई होगी !

कुरुक्षेत्र के युद्धमैदान पर अर्जुन के दिल में युद्ध के परिणाम के विषय में जो-जो विचार सूझते हैं, वे-वे परिणाम उसने आचरे युद्धों में से उपज चूके थे ही, परन्तु युद्ध के—प्रत्येक वस्तु की तरह—अनेक पहलू होते हैं । अर्जन को तब युद्ध में से विजय प्राप्त करने के सिवा दूसरा कोई हेतु अंतर में प्रकटा न था । इसके सिवा दूसरे कोई भी युद्ध के पहलू की दुविधा दिल में टक्कर खड़ी करता ख्याल उसे जागा न था । उसके मन में तो तब युद्ध से विजय पाने और इससे कीर्ति प्राप्त करने का एक प्रकार का उग्र आवेग का उत्साह था । अर्जुन ने ऐसे जय प्राप्त करने की पूरीतरह योग्यता पाने की तैयारी भी बड़े हर्ष के साथ कर रखी थी और इसके अलावा उसने युद्ध को अभी तक तो जय पाने का एकमात्र साधन रूप ही स्वीकार किया था, इतना ही नहीं, पर अपनी यशपरम्परा से कौरवो को डराने की दृष्टि से वह युद्ध स्वीकार करता था । विजय प्राप्त करने के सिवा दूसरी कोई भी दृष्टि उसके दिल में तब जागी न थी । युद्ध के सभी परिणामों के विषय में अर्जुन को उस समय मन में कुछ भी मंथन न जागता था । विजयसृष्टि के स्वप्न में वह मशगूल

था । एकमात्र जय, जय और जय ही उसके मन में खेला करता था । युद्ध का निशान जीतना ही यह एकमात्र उसके दिल में सचोटता से जागता रहता । उस अकेले का ही चिंतन उसे हुआ करता और उसे सफल बनाने के लिए एकमात्र उस ओर का ही जो-जो सोचना पड़े, वह सब ही वह सोचता, इसके लिए उसके दिल में उसके बिना दूसरा कोई भी प्रकार का गंभीर संवेदन हुआ ही न था । इसके लिए उसके मन में थोड़ा भी आराम या फुरसत उसे न थी । एक विजयी वीर रूप की प्रतिष्ठा की ही तब उसके मन में कामना जागी थी । उस उन्मादभरी इच्छा ने उसे घेर लिया था । ऐसी कामनायुक्त इच्छा ने उसे इसके सिवा दूसरा कुछ भी सोचने में अंधा बना दिया था । इसप्रकार, मानव **जीव** को जिस-जिस प्रकार की उन्मादभरी इच्छा होती है, उसे लागू होती दिशा में ही वह सोचता है । जहाँ तक मनुष्य के मन में स्थिरता, समता, शांति आदि गुण नहीं आते, वहाँ तक उसके जीवन में खड़े होते प्रश्नों का समग्ररूप और उसमें से मिलते जीवनविकास के हेतु का ज्ञान उसे कभी नहीं मिल सकता । जीवनप्रश्न को योग्य उत्तम प्रकार से, जीवनविकास की दृष्टि से यदि हल करना हो, तो प्रश्न से अलग हुए बिना उसे कभी भी पूरी तरह योग्य रूप से हल नहीं कर सकते, ऐसा अलग होनापन अभी अर्जुन के मन में उस समय जागा नहीं था । इच्छा का आवेश या आवेग जब जब मनुष्य के दिल में जागता है, तब-तब उसे एक प्रकार का जुनून या धुन लगती है । उस समय आँवल से जैसे गर्भ रुंधता है, प्रकाश बादलों से घिरता है, वैसे मनुष्य की मति भी इसी तरह आवरण से ढंक जाती है । ऐसा होने से उपरोक्त प्रश्न, उलझनें या समस्याएँ अर्जुन के दिल में उद्‌भव हो सके ऐसा नहीं था और शायद उद्‌भव हुए हो, तो वह भी ऊपरी तौर पर ही अर्जुन ने लड़े युद्ध से और उसके विजय से सामने का पक्ष कि जिसका अस्तित्व बिलकुल लुप्त हो जाने के छौर पर पहुँच जाता था । उसका जीवनसत्त्व पूरी तरह हनन होकर छिन्नभिन्न हो जाता था । वह कितना अधिक कुचला जाता था तथा सर्वसामान्य प्रजा की अपरम्पार बरबादी होती थी और पूरा देश कितना अधिक विरान होता था, उसकी

स्थिर बुद्धि ने समालोचना अर्जुन युद्ध से मिलते जाते विजयोन्माद से और उसके लाभ से नहीं कर सका था । इसके साथ-साथ उसके मन को वह दूसरी तरह से प्रेरित कर सके वैसा था भी नहीं और इससे ही ऐसे भयंकर विकराल युद्ध और उनके अनिष्ट परिणाम उसके मनहृदय को हिला सकने को समर्थ नहीं हो सके थे ।

परन्तु अभी तो परिस्थिति बिलकुल निराली थी । कुरुक्षेत्र के युद्धमैदान में खड़े अर्जुन के सामने अभी कोई नया ही प्रश्न खड़ा हुआ था । जो जीवन-समस्या उसके सामने खड़ी हुई थी—आ पड़ी थी, वह युद्ध का प्रकार, उसके जीवन में जो दूसरे अनेक युद्ध लड़े जा चुके थे उसका प्रकार, उन दोनों में आकाश-पाताल का भेद था । स्वयं जिनके सामने लड़ने को तैयार हुआ था, वैसे इस युद्ध में अपने ही आत्मीय स्वजन खड़े थे । वहाँ सामने अपने ही दादाजी थे, जिन्होंने उन्हें हृदय की ममता से पाला था । जिनके पास से जीवन के संस्कार पाये थे और जीवन की शिक्षा प्राप्त की थी और जिनका जीवन-कार्यकाल स्वयं गौरव का विषय था । जिनके विषय में उसके दिल में भक्तिभरा सद्‌भाव, प्रेमभाव और अत्यन्त ममता थी, ऐसे दादाजी के संहार करने की परिस्थिति सर्जित हुई, तब ही वह विचार और मंथन में पड़ जाता है । फिर, अभी उसके पास अपने ही विद्यागुरु थे । जिन गुरु की कृपा से आज वह युद्धकला में माहिर था, उसके प्रेरणामूल वे गुरु ही थे । आज वह जैसा था वैसा उनके ही प्रताप और प्रभाव से हुआ था । उनकी ही प्रतिभा से उसने प्रतिभा संपादन की थी । ऐसे गुरु के प्रति आदर भक्तिभाव वह कैसे भूल सकता है ? श्री भीष्मपितामह और श्री द्रोणाचार्य जैसे गुरु का ऋण **नर**-पुरुष संस्कारी अर्जुन कैसे भूल सकता है ? उसके सामने अपने ही बांधव थे, जिनके साथ-साथ बचपन में स्वयं खेला था । बचपन के जीवन के अनेक प्रसंग जिनके साथ बिताये थे । और इसके अलावा, जिसके साथ पूरा जीवन जुड़ा और बुना था ऐसे बहुत-बहुत अपने सामने युद्ध में खड़े थे । जिन्हें अपना ही माना है, ऐसे भी आज सामने के पक्ष में खड़े थे । उसी निमित्त कारण से अर्जुन के मन

में भारी मंथन जागता है । अपने ही बुजुर्ग, गुरु और स्वजन के सामने लड़ना, यह उसके संस्कार को आघातजनक लगता है और मन में कई विचारों की भारी उथलपुथल होती है । युद्ध का विनाशक पक्ष उसके मन समक्ष तादृश्य खड़ा होता है । दोनों पक्ष में अपने सगेसंबंधी हैं । कोई भी हारे या कोई भी जीते तब भी स्वयं अपने ही मानो संहार करता हो या जीतता हो, ऐसी कठिन परीक्षा और उलझन उसकी आँख और मन के आगे खड़ी होती है । इससे वह विचारमूढ हो जाता है, वह किंकर्तव्यमूढ हो जाता है । क्या अयोग्य और क्या योग्य, इसका विवेक वह नहीं कर सकता और उलटा मन में वह सोचने लगता है कि ऐसे भयंकर युद्ध का परिणाम से जगत को शोभारूप, संस्कृतिरूप, प्रेरणारूप ऐसे कितने सारे और कैसे कैसे महान पुरुषों का नाश होगा ! कितने सारे लोगों का संहार, कितने कुटुंब और कुलों का नाश होगा ! इतना ही नहीं, किन्तु उसमें से जो वर्णसंकर पैदा होगे, उससे कुल और जाति, धर्म और जीवन संस्कृति का समूल नाश होगा, युद्ध से जगत में कितना अधिक नुकसान होगा, ऐसी उसकी एक लंबी विचार की परम्परा उसके मन में जागती है । ऐसे विचार से वह व्याकुल हो जाता है । और जहाँ मनुष्य का मन व्याकुल हो जाय, तब उसे सूझे भी क्या ? और शांति या समता जैसा भी कहाँ से रहे ? और सोच के तो देखो कि अर्जुन कोई जैसा-तैसा यौद्धा न था ! अपने क्षत्रियधर्म का उसे बड़ा अभिमान था—घमंड भी होगा । युद्ध जीतना यह तो क्षत्रिय का परम धर्म वह मानता था । यह धर्म पालने में अभी तक उसने पीठ नहीं फेरी थी, बल्कि ऐसा धर्म पालने में अभी तक स्वयं गौरव और कृतकृत्यता मानता था । किन्तु ऐसे अभी तक आचरित स्वधर्म को वह अधर्म है ऐसा उसे पहली बार सूझता है । मनुष्य के जीवनकाल में एक परिस्थिति उत्पन्न होते जो स्वधर्म लगता है, वही '**स्वधर्म**' दूसरी परिस्थिति उत्पन्न होते वह अधर्म भी लगने लगे ऐसा भी होता है । इसलिए अर्जुन को पहले जो धर्म लगता और वह वैसा मानता वह सत्य या अभी जो सब सूझ रहा है वह सत्य ? इसका निर्णय अर्जुन स्वयं नहीं कर सकता । ऐसी डाँवाडोल दशा अर्जुन की होती

है । इसप्रकार, धर्म और कर्म की बात में क्या करे या क्या न करे, इस बात में स्वयं संशयग्रस्त होता है और इससे वह कोई अकल्पनीय वेदना भोग रहा है । एक तरह से देखे तो मनुष्य के जीवन का प्रवाह जो बहा करता है, उसमें किसी न किसी प्रकार का युद्ध-घमासान चला ही करता है ।

सर्व किसी प्रकार के जीवन में उसके विकासार्थ युद्ध यह एक अनिवार्य सत्य है । तब भी **इस** युद्ध की भयंकरता, निर्दयता और उसकी महान में महान संहारकता तथा युद्ध के ऐसे दूसरे अनेक आनुषंगिक परिणाम और खास करके तो सामने के पक्ष में खड़े बुजुर्ग, गुरु और स्वजनों का संहार—यह सब—उसके मन के आगे भयंकर नृत्य करता दिखता है । अपने ही पितामह, जिनके प्यारे हाथ में वह स्वयं खेला है, पला है, जिनका प्रेम अभी भी उसके रगरग में उछल रहा है, जिनके प्रति भक्तिभरा सद्‌भाव अभी भी उनके चरण में अपना सिर अपने आप कृतकृत्यभाव से नमन करने को उद्यत है । जो गुरु जिनकी भक्ति और जिनके प्रेम-अनुराग से उसका जीवन भरपूर है, ऐसे दूसरे अनेक आत्मीय स्वजनों को लड़ाई में संहार करने का अपने भाग आते वह बेचैन हो जाता है । अभी तक का महाबाहु नरकेसरी अपना प्रभाव और प्रताप, तेज और शक्ति, शौर्य और लड़ाई की विद्याकला मानो छीन जाती स्वयं अनुभव करते हैं । और अनिष्ट युद्धक्षेत्र को छोड़ कर स्वयं वापिस फिरने की तैयारी बतलाता है, ऐसी भावना से इतना सारा तो खिंचता जाता है कि *'कार्पण्यदोष'* से स्वयं लिपट जाता है । स्वयं—अर्जुन किस तरह से भाग सकता है ? श्रीकृष्ण जैसे जिसके सारथि हैं, वे उसे भागने भी कैसे दे ?

श्रीकृष्ण को स्वयं अभी तक मित्र समान गिना है, अपने युद्ध के विजय के यशोगान जिस श्रीकृष्ण ने अभी तक गाये हैं और जो अपने जीवन के एक मूल आधाररूप प्रेरणारूप है । ऐसे श्रीकृष्ण भगवान जिसके मन एकमात्र आशारूप और सहभागी है, जिसने अभी तक उसे सहानुभूति प्रेरित की है । वही श्रीकृष्ण अभी भी उसके साथ ही होने पर

वह बिलकुल पानी में बैठ जाता हैं। राज्य पाने का उसने किया दृढ़ निश्चय भी कहीं अदृश्य हो जाता है। जीवन का निश्चित किया आदर्श भी मानो धुल जाता उसे लगता है। स्वयं की प्रतिज्ञाएँ भी भूल गया हो ऐसी उसकी दशा होती है। इससे तो राज्य ही नहीं चाहिए ऐसा उसे लगता है। राज्य पाना हो तो स्वजनों को मारना ही होगा, ऐसी प्रत्यक्ष दिल में चुभती समस्या उसके सामने खड़ी होती है, उस समय उसका सारा अंतर्ज्ञान कहीं उड़ जाता है। दिल को काँपा दे, हिला डाले, ऐसे कठिन प्रसंगों में से ही मनुष्य के मन की सच्ची स्थिति परख आ जाती है। अपने एकमात्र आदर्श को सिद्ध करने को जो एक-सा लगा रहता है, ऐसों को ऐसी समस्याएँ तो जीवन में मिला ही करेगी उस समय जो मनुष्य अपने जीवनध्येय का अखंड़ और समग्र विचार चूकता है, वह गिरता है। ध्येयप्राप्ति के लिए सर्व भाव से और सर्व तरह से सर्व समर्पण करने की जिसकी जीवितजाग्रत तैयारी नहीं हुई है, वैसा मनुष्य उस समय टूट पड़ता है।

इतनी अकेली सुस्त तैयारी काम नहीं आती, पर ऐसे स्वजनों को अथवा ध्येय को मूर्तिमंत करने के मार्ग में जो सामने पक्ष में खड़ा है, उसे हराने में जिसे एक प्रकार का ज्ञानभक्तिपूर्वक का जुनून आता है और उस निर्णय को अपने नदी के बाढ़ जितने आनंदोत्साह से स्वीकार लेता है, वैसा ही जीव उसमें सफल होता है। जिस निर्णय के पीछे विषाद रहता है, दु:ख रहता है, संताप जगता है, क्लेश होता है, यह निर्णय योग्य रूप से हृदय से स्वीकार नहीं हुआ ऐसा जाने। जिस निर्णय के पीछे शुद्ध, सात्त्विक आत्मसमर्पण नहीं, वैसा बलिदान जीवनविकास के यज्ञ में योग्य परिणाम नहीं ला सकता है। जीवन में युद्ध है और युद्ध है तो समर्पण करना ही पड़ेगा। बलपूर्वक अनिच्छा से हुआ समर्पण जीवन को उल्टा कुचल देता है। तेजस्विता, शक्ति, आनंद, सम्यकदृष्टि, योग्यायोग्य कर्तव्य की दोषरहित विवेकशक्ति, समता, स्थिरता, तटस्थता, शांति, धीरज आदि जीवनविकासशक्ति के रचनात्मक पहलू खीलते जाते अपने आधार में वह स्वयं अनुभव कर सकता हो, तो ही उसका आत्मसमर्पण शुद्ध और

सात्त्विक है ऐसा कहलाता है । ध्येयप्राप्ति के लिए ऐसा आत्मसमर्पण न कर सके, उस ध्येय को कैसे वरण कर सके ? और ध्येय को प्राप्त करने जाते जीव अनेक कदम भर-भर के, जो ठीक-ठीक तैयारी कर चुका हो वैसे को भी उसकी परीक्षा का पल आये बिना नहीं रहता । ऐसे **जीव** को यदि सतत श्रीकृष्ण को ही एकमात्र मित्र रूप स्वीकार कर अपने जीवनरथ के सारथि को नियंता रूप निश्चितरूप से उन्हें लगाम सौंप दी होती है, तो उसे भगवान कभी भी अकेला नहीं छोड़ते । उसकी इच्छा अनिच्छा होने पर भी उसे वे उसके योग्य धर्म में जकड़ लेते हैं । श्रीकृष्ण भगवान कभी भी उसे छटकने नहीं देते, और ऐसे **जीव** को उसके योग्य धर्म में-कर्म में कृपा करके प्रेरित करते हैं ।

अर्जुन के सामने जैसे स्वजनों खड़े है वैसे साधक को भी ऐसे ही स्वजन युद्ध में सामने आकर खड़े रहेंगे ही । वे स्वजन कौन-कौन से वह तो हमने ऊपर देखा । उन्हें मारने की ताकत और विषाद, संताप, क्लेश या दुःख बिना, यानी कि उस परिस्थिति का स्वीकार करते हृदय के निर्मल आनंद की भूमिका के साथ यदि वह कटिबद्ध होगा, तो उसका बेड़ा पार होगा ही । यदि वैसी तैयारी नहीं होगी, तब भी जिसने श्रीकृष्ण भगवान के हाथ में अपने जीवनरथ की लगाम सौंपकर अपने एकमात्र आधार और अपनी सर्व प्रवृत्तिओं के प्रेरक, संचालक और नियामक सूत्रधार के रूप में अपने जीवन में सर्व भाव से स्वीकारा है, उसे श्रीभगवान कभी भी नहीं छोड़ते, क्योंकि जिसकी प्रेरणा से और अनुग्रह से स्वयं अपने ध्येय प्राप्त करने को उद्यत हुए हैं, उसे वे बीच में ही नहीं छोड़ते—वह इच्छा करे या न करे तब भी ।

मनुष्य ने अपने मान लिए आग्रह, मत, आदत, मान्यताएँ, कल्पनाएँ, समझ, संस्कार तथा ऐसे अनेक प्रकार के स्वजनों के प्रति आदर और राग भी होता है । यह सभी जहाँ तक साधक के जीवन में से खिसक न जाय, वहाँ तक उसके आवरण दूर नहीं हो सकते और वह दूर न हो, वहाँ तक उस ध्येय को भी वरण नहीं कर सकता । ऐसे उसके आवरण तोड़ाने का कारण से ऐसे प्रसंग भी साधक के जीवन में श्रीभगवान की

कृपा से खड़े होते हैं । उस समय वह क्या पसंद करता है और किस तरह व्यवहार करता है और किस भाव से वह प्रसंग का स्वागत करता है, उस पर से ही उसका जीवनसत्त्व किस प्रकार का है, वह परख आता है । इसी तरह अर्जुन को अभी ऐसा प्रश्न खड़ा हुआ है । अर्जुन, भीम आदि मानते थे कि स्वयं को राज्य के अधिकार की बात में अन्याय हुआ है, इतना ही नहीं, पर राज्य पर अपना ही हक़ है । इसके अलावा कौरव आदि अधर्म से राज्य करते हैं, इससे प्रजा के कल्याण में भी धर्मभावना से राज्य कर सके वैसा राजा होना चाहिए ऐसा भी उनके मन में था । जिससे सर्व साधारण जनता के जीवन का कल्याण है और अपना भी है ऐसा जिन्हें लगा था, वह ध्येय प्राप्त करने वे अभी तक सतत मचे रहे थे । उनके जीवन के आगे अभी आपातकालीन पल आयी है । उस समय अर्जुन के मन में आत्मीय स्वजनों के प्रति का राग जाग उठता है । अज्ञान की पराकाष्ठा कहाँ तक पहुँचती है, इसका भान उसी समय पर ही मनुष्य को होता है ।

साधक के जीवन में भी ऐसी भ्रमदशा आती होती है । स्वयं कहीं तो पाया है और कहीं वह संपूर्ण तैयारीवाला और ताकतवाला स्वयं है ऐसा अंत:करणपूर्वक सच्ची तरह मानते होने पर भी ऐसे आपातकालीन पल उसके जीवन में आते हैं, तब उसका भ्रम टूटता है । उसी में ही श्रीभगवान की अपरम्पार कृपा रही है । श्रीभगवान की शरण में रहा करता है । उसका भ्रम तोड़ने कृपा करके श्रीभगवान उसे प्रयत्नशील बनायेंगे ही । उसे एक की एक सलामत स्थिति में वह कभी भी पड़े नहीं रहने देगा । उसे तो वह उलिचा ही करेगा । आवश्यक होने पर कठिनाइयों के दावानल भी होगे । **युद्ध यह तो श्रीभगवान का दिया कृपाप्रसंग है अथवा श्रीभगवान की प्रत्यक्ष कृपा का वह मूर्तिमंत स्वरूप है, ऐसा जिसके हृदय में ज्ञान जागा है, वह मनुष्य ऐसे समय श्रीकृष्ण भगवान को छोड़ तो कैसे दे, पर वह अधिक से अधिक लिपटता जाता है और मार्गदर्शन की सहाय सच्चे हृदय से याचता है ।** ऐसी असह्य बेला में—जीवन के नये दर्शन पाने की बेला में—उसे ही जो

सतत पास रखा करता है और आ पड़े युद्ध का संचालन करने का ही जो मनहृदय से सौंपा करता है, उसे श्रीकृष्ण भगवान हाथ पकड़कर खड़ा करते हैं और सच्ची दिव्य दृष्टि प्राप्त करवाते हैं ।

जीव को जब उस युद्ध में पड़ने का आता है, तब उसमें जीवनविकास का हेतु वह ज्ञानपूर्वक ख्याल में—भान में नहीं रख सकता है । ऐसा प्रसंग किस हेतु से उत्पन्न हुआ है, इसका योग्य विवेक जो **जीव** नहीं कर सकता, वह उसमें पड़ने पर भी जीवनउत्कर्ष के मार्ग में उसका योग्य लाभ नहीं ले सकता । उसके कर्म में तो अज्ञानभरे दु:ख, क्लेश, टकराहट, उलझन आदि ही रहेंगे, परन्तु जो **जीव** उसमें अपने अनेक मान लिये ऐसे स्वजनों का संहार होने की संकट की स्थिति समय में ऐसे संहार का अंतर का हार्द जान लेता है और उसमें जो इस तरह और जिस भावना से उस प्रसंग को आनंद से स्वीकार करता है, वैसे **जीव** को तो वह प्रसंग उसके जीवन का एक महापर्व या महाउत्सव लगे बिना नहीं रहेगा, इतना ही नहीं, पर वह श्रीभगवान की अपने पर ऐसी प्रत्यक्ष कृपा होती देख श्रीभगवान पर न्योछावर हो उनके चरणकमल का ही एकमात्र आश्रय स्वीकार करके उनके मय ही होना अपने भक्ति-ज्ञान-योग रखेगा । जिसे श्रीभगवान की ही आसक्ति लगानी है, उसमें से दूसरे सभी की आसक्ति निकल जानी चाहिए । साधक के मन की वह दशा परिपूर्ण हो जाने पर उसके बाद तो दूसरे सभी में भी श्रीभगवान की आसक्ति और भावना वह अनुभव करेगा, किन्तु **जीव** की वैसी दशा होने से पहले तो सब किसी के साथ उसकी आसक्ति टूट जानी ही चाहिए । वह आसक्ति टूटे बिना कोई भी **जीव** श्रीभगवान की आसक्ति में रह या टिक नहीं सकता । अर्जुन के आगे भी वैसा प्रश्न खड़ा हुआ है । अभी तक दृढ़ता से चिपके रह ध्येय को वह भूल जाता है । आत्मीयजनों के प्रति उसके हृदय की आसक्ति उस समय चिल्ला उठती है । जीवन **में प्राप्त प्रत्येक प्रसंग में *जीव* किसे प्रथम पंक्ति का महत्त्व देना पसंद करता है, उस पर से उसकी जीवनभावना की कक्षा किस प्रकार की है, वह परख आ जाती है ।** दूसरा कोई सामान्य **जीव** उस स्थान पर

हो तो वह उसमें डूब ही जाय, किन्तु अर्जुन ने तो श्रीकृष्ण भगवान को – अपने मित्र को सारथि बनाये हैं और उसे ऐसे कैसे रहने दे ? विश्व की अखंड जारी रखनेवाली रचना के हेतु का अंगभूत बुने हुए तत्त्व को कोई हाशिये पर रख सके वैसा नहीं या उसे फेर सके वैसा भी नहीं, इसलिए ही संसार में मिलते जाते ऐसे युद्ध में जो **जीव** तपश्चर्या की भावना भक्ति-ज्ञान-योग की धारणा, भावनापूर्वक, चेतनाभरी जागृति से रख सकता है, वैसा ही **जीव** संसार को श्रीकृष्ण भगवान की कृपा से उनके लीलात्मक स्वरूप में फेरकर उसमें उसके ही हेतु को सिद्ध करने स्वयं यंत्र बन सकता है ।

संसार अनेक प्रकार के युद्धों की परम्परा का क्षेत्र है । **जीव** को उसमें जानेअनजाने पड़ा ही करना होता है । तो **जीव** उसे तपश्चर्या की भावना से क्यों स्वीकार-स्वागत नहीं कर सकता हो ? यह एक प्रश्न उद्‌भव होता है सही, पर जिस-जिस प्रकार की सामग्री-शक्ति जिस **जीव** की हो, उसे उसके जीवनयुद्ध में वैसे वैसे रीत का ही प्रकार लगा करेगा, इससे सभी **जीव** संसार के ऐसे युद्ध में तपश्चर्या का भाव अनुभव करने में समर्थ नहीं होते, किन्तु जिसे जीवन की साधना करनी है, उसके लिए जिसने हृदय की भावना से प्रयत्न शुरू किये हैं । जिसमें ऐसे संस्कार हैं, जिसने अपने जीवन का उसे ही एकमात्र ध्येय किया है, ऐसे साधक को उनकी कृपा से होते ऐसे युद्ध में तपश्चर्या का ही भाव जीवित रखना चाहिए । **जीव** की ऐसी भावना अपने आप हृदय से प्रत्येक परिस्थिति में जीवित रहा करे, तो ही साधक का मन जीवनध्येय में निष्ठावान है ऐसा गिन सकते हैं । परिस्थिति अथवा तो प्रसंग—वह भी सभी—एक प्रकार के युद्ध ही हैं । प्रत्येक युद्ध का हेतु भी होता है । उस हेतु को जीवनसाधना के अनुकूल नीरखकर और उस भावना से स्वीकार कर जो फेर सकता है, वही प्रभु का भक्त बन सकता है । ऐसा करने पर जो कायर बनता है, तथापि ऐसे हृदय की खुल्ले मन की स्वीकृति प्रभु के चरणकमल में आर्द्र और आर्त भक्तिभाव से करता है और स्वयं को योग्य शक्ति और दर्शन देने गद्‌गदभाव से प्रार्थना किया करता है, ऐसे को श्रीकृष्ण भगवान कृपाकर अपना हाथ देकर उठाते ही है । ऐसा धन्य अनुभव साधक को

हुए बिना नहीं रहता । ऐसे साधक को श्रीभगवान या उनका भाव दिल में सुप्रतिष्ठित बन जाता है । युद्ध की ऐसी अनेक परम्पराओं में से **जीव** पसार हुआ करता है । उसमें से स्वतंत्र रूप से अलग होकर व्यवहार करने की किसी की ताकत नहीं । अंतिम मृत्यु के पल में भी **जीव** स्वभावत: मृत्यु के सामने युद्ध करके बचने की कोशिश में ही रहता होता है और अंत में मृत्यु से हारकर अपनी हार कबूलकर उसे मरना पड़ता है । जिस शरीर को वह स्वयं **जीव** रूप ही मानता था, जिसका वह रागी हो गया था, जिसके मय ही जो हो गया था, उसे भी छोड़ना पड़ता है, पर उसमें की उसकी उस वासना उसे छोड़ नहीं सकती । वहाँ भी उसके कर्म में तो युद्ध ही लिखा है । ऐसा देखने पर इस संसार में रहकर कोई भी **जीव** श्रीभगवान के उस अविचल अटल नियम का उल्लंघन करने कभी भी शक्तिमान नहीं होता । **संसार के क्षेत्र में हो या मानसिक क्षेत्र में हो या फिर दिव्य भूमिका के क्षेत्र में हो, अथवा दूसरे किसी भी क्षेत्र में हो, वहाँ युद्ध तो होगा ही और युद्ध अर्थात् ही खंडन और मंडन ।** इसप्रकार, युद्ध यदि जीवन का—सृष्टि का—उसकी सर्व प्रकार की कक्षाओं में एक-सा बहता रहता एक तत्त्व है, तो फिर जीवन को तेजस्वी बनाने, जीवन का रूपान्तर करने, उसे दैवी बनाने, भक्ति-ज्ञान-योगभाव से जो **जीव** युद्ध को स्वीकारता है, वही **जीव** जीवन को उसकी योग्यता में प्रभुकृपा से फलित कर सकेगा । युद्ध में हरेक को घिसटना तो पड़ता हैही । हताश होकर, निश्चेतनभाव से, बलपूर्वक-जो-तो-में घिसटता जाता है, वैसा निर्माल्य **जीव** जीवन का सर्वनाश मोल लेता है ।

यहाँ एक शंका उपस्थित होती है, कि यदि युद्ध यह विकास की भूमिका के लिए ही निर्माण हुई स्वाभाविक हकीकत है, तो उससे विनाश कैसा ? प्रत्येक कर्म के परिणाम का आधार तो वह कर्म कैसी वृत्ति से हुआ है, उस पर रहा है, किन्तु नाश और उससे विरोधी भाववाला द्वन्द्व तो विश्व की रचना में समाया ही है । जो-जो कर्मक्षेत्र जीवन में **जीव** को मिलते हैं, उसमें युद्ध का तत्त्व रहा है ही, इसलिए वह कर्मक्षेत्र प्रभु की प्रसादी गिनकर उसमें से जो **जीव** को विकसित करने भक्ति-ज्ञान-

योगभाव से, कर्मक्षेत्र में तपश्चर्या की भावना से उसे स्वीकार कर प्रभु को ही समस्त समर्पण किया करता है, ऐसे जीव को आदि नहीं रहेगा । ऐसे **जीव** को कहीं आरंभ नहीं है और ऐसा करते-करते उसकी सारी क्रिया सहज आरंभ बिना की होती जायेगी । इसप्रकार, विश्व की रचना में द्वन्द्व के कारण पैदा होता युद्ध जिससे करके जीवन के सर्वोच्च आत्यंतिक आदर्श की सिद्धि में **जीव** को प्रत्यक्ष मदद मिलती हो, उस प्रकार के युद्ध में वैसी दृष्टि, वृत्ति और भाव से अपनी समग्र शक्ति द्वारा श्रीभगवान की उस अटल योजना में जो अपने आपको लगा देने का करना है, वही **जीव** स्वयं को प्राप्त होती जाती परिस्थिति का सच्चा ज्ञानपूर्वक उपयोग करना जानता है ऐसा कह सकते हैं । वही **जीव** जीवनउत्क्रांति पा सकताहै । कोई भी मनुष्य युद्ध को नकार सके वैसा तो नहीं है । उसमें उसे इच्छा से या अनिच्छा से जुड़ना तो पड़ता है, तो फिर यदि मनुष्य अंतर से चाहे तो वैसे प्राकृतिक युद्ध को अपने जीवनध्येय की प्राप्ति के लिए जीवन में ला सकता है और हृदय से उसका स्वीकार कर उसका हेतु जीवन में फलित कर सकता है । जीवन में प्राप्त संयोग और प्रसंग में व्यष्टि और समष्टि के जीवनभाव का समन्वय रहा है । व्यष्टि और समष्टि दोनों का जीवनहेतु और श्रेय एकसाथ रहे हैं । इस दृष्टि से जो उसका आनंद से स्वीकार करता हो, वही प्रभु की इच्छा को पहचानता है और उनकी उत्तम सेवाभक्ति करता है ।

इसप्रकार, जीवन में जहाँ-तहाँ और जब-तब युद्ध तो रहा ही है और उसमें कोई हारकर, कोई आनंद से पड़ता है, इसलिए उस युद्ध की भूमिका में मनुष्य का मन किस प्रकार की भावनावाला रहता है, उस पर उसके जीवनविकास का सही आधार रहा है । युद्धक्षेत्र पर अर्जुन के मन को जीवनकल्याण के हेतु से फेरने के लिए श्रीकृष्ण भगवान ने उसे गीताबोध दिया है । उस कारण से मनुष्य का मन भगवान की कृपा से युद्ध को जीवनकल्याण के लिए स्वीकार कर सके ऐसा जहाँ तक न हो, वहाँ तक मनुष्य का जीवन जैसेतैसे नष्ट होगा, मनुष्य के मनादिकरण जैसे-जैसे शुद्ध होते जाते हैं, वैसे-वैसे उसका चैतन्य अधिक से अधिक

विकासोन्मुख होता जाता है । मनुष्य के आधार में सात्त्विक गुण का विकास हो जाता है, तब प्रेम, मैत्री और करुणा की अलग-अलग दिव्य कक्षा की भावनाएँ जीवन में अपने आप विकसित होते मनुष्य अनुभव करता है ।

मनुष्य के मनादिकरणों का अधोगामी भाव तब शून्यवत् होता जाता है और मन की चंचलता, व्यग्रता, अस्वस्थता आदि कोई चमत्कारिक रूप से अदृश्य होते जाते मनुष्य को लगता है । स्वाभाविक रूप से ही तब **जीव** को सच्चा वैराग्य आता है । **यहाँ वैराग्य का अर्थ यानी संपूर्ण अनासक्तिभाव यानी कि श्रीभगवान के चरणकमल में ही अनन्य आसक्ति ।** मानवजीवन का जो नकारात्मक भाव है, उसमें उसे अब थोड़ी भी वृत्ति नहीं रहती, तो फिर रुचि तो हो ही क्यों ? कर्मक्षेत्र की वासनामूलक भूमिका से और इस संसार के अधोगामी प्रकार के कोलाहल से कहीं दूर परम शान्ति में लय पाने मनुष्य की चेतना विरहाकुल होती है । ऐसे समय में मनुष्य को जो लगनी लगती है और उस लगनी में जो एकात्मभाव आता है और उसमें से उसे जो अनुभव दर्शन होता है, उस अनुभव से उसे अपनी उस समय की जीवनभूमिका से मुक्ति प्राप्त करने में ही परम पुरुषार्थ रहा है, ऐसा उसे स्पष्ट दिपक जैसा ज्ञान हो जाता है । ऐसा जीवात्मा उस समय अपने आसपास द्वन्द्व और उससे उत्पन्न होता संघर्षण और युद्ध देखता है और पूरा संसार उससे लिपटा उसे लगता है । ऐसे संसार से मुक्ति पाये बिना **जीव** को कहीं सुख नहीं, चैन नहीं, शांति नहीं, ऐसा उसे उत्कटतापूर्वक भान जागता है । उस समय उसके जीवन की योग्य रचनात्मक दिशा की ओर मुड़ने का मोड़रूपी नाजुक पल पर खड़ा होता है । उस समय वह एकदम जागता है और अपनेआप उसमें से ऊठने के सतत प्रयत्नों में ही मथता रहा करता है । ऐसा प्रयत्न भी एक युद्ध ही है ।

मानवजीवन की प्रत्येक भूमिका में अलग-अलग प्रकार का युद्ध समाया होता है । आध्यात्मिक उच्च भूमिका में जो युद्ध साधक के सामने खड़े हैं, वह कोई ओर ही होते हैं । संभव है कि साधक ऐसे युद्ध को

युद्ध रूप शायद पहले समझ भी न सके। उसमें उसे भुलावे में पड़ जाने की संभावना रहती है। उच्चतम भूमिका के युद्ध का प्रकार आगे जाने पर सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होते जाते हैं। जीवन की साधना के लिए प्रवृत्त हुए साधक को उस समय अनेक ओर के अलग-अलग युद्ध खेलने को प्राप्त होते हैं। एक ओर मनुष्य का **जीव**प्रकृति के स्वाभाविक भाव अनुसार संसार **जीव** को युद्ध के लिए पुकार रहा होता है और दूसरी ओर उसे संसार के ऐसे राग-विषयात्मक युद्ध के प्रति दिल में वैराग्य की भावना आती है। वैसे समय ऐसे सांसारिक मथनों में से मुक्ति पाने के लिए **जीव** का मन उत्कंठ हुआ होने से, उस क्षेत्र में उस संसारीवृत्ति से पलभर भी रहने उसका मन मानता नहीं है। फिर, कर्ममात्र वासना, कामना की या द्वन्द्व की भूमिका ऊपर हो, तब वह संस्कारजनक और बंधनकारक होता है, इसलिए ऐसी भूमिका पर होते कर्म से निवृत्त होने उसका मन तड़पता है, किन्तु उसके साथसाथ कर्म किये बिना चलता भी नहीं है। इस कारण से कर्म की प्रवृत्ति के सामने कर्मत्याग की प्रवृत्ति से घोर और अवर्णनीय मथन की शृंखला मनुष्य के अंत:करण में जन्मती है। कर्ममात्र का त्याग तो वह कर नहीं सकता और उसके साथ-साथ वैसी परिस्थिति के कारण मन में पैदा होते अनेक प्रकार के मंथनों से अलग-अलग कर्म के कारण होते दोष भी उसकी नजर में स्पष्ट अलग दिखते होने से आगे जाने पर साधक के मन में वैसा मंथन करने की वृत्ति भी शान्त होती जाती है। ऐसी दो, एकदूसरे से विरुद्ध ऐसी आमनेसामने के ओर की वृत्ति मनुष्य के दिल में खड़ी होती है, तब वह फिर घबराता है। वह स्थिति उसे बहुत ही कठिन लगती है। जीवन में ऐसी स्थिति, जीवन के उच्चतर और उच्चतम शिखर लांघकर जो-जो गये हैं, उन सभी महापुरुषों के जीवन में जन्मे बिना रही नहीं, क्योंकि वैसे की वैसी स्थितिस्थापक दशा में—वहीं का वहीं—तो कोई भी पड़ा नहीं रह सकता है। कैसे भी पर्वतों में रुक गयी नदी अपना मार्ग किये बिना नहीं रहती। उसी तरह वैसे लोगों की, जीवन को पार करने की ज्वालामुखी समान तमन्ना उन्हें योग्य नया मार्ग सुझाये बिना नहीं

रहती । सभी प्रकार के विचारशील मनुष्य के सामने जीवन में अनेक पहेली अनेक प्रकार से खड़ी होती रहती है । ऐसी समस्या उनके दिल में आंतरिक युद्ध जन्माती है । और उसका हल करने के लिए वे सर्व तरह से तैयार होते हैं । जहाँ-जहाँ वे घबराते हैं या रुक जाते हैं, वहाँ अपने जीवनसारथि के सामने उसका हल लाने वे स्वयं शांत भाव से, प्रसन्नचित्त से शरण में जाते हैं । युद्ध जागे बिना, मनोमंथन हुए बिना कोई भी प्रश्न का हल मनुष्य अपने आप नहीं कर सकता । जीवन में ऐसी परिस्थिति भी खड़ी होती है, कि जिसका योग्य हल मनुष्य स्वयं कर सकने में असमर्थ होता है । ऐसे समय में उसे किसी की शरण लेनी ही पड़ती है । जीवन के ऐसे पलों में मनुष्य को शरण लिये बिना नहीं चलता, फिर वह प्रश्न किसी भी भूमिका पर का हो ।

मनुष्य के जीवन में जन्म से उसके देह के मृत्यु पर्यन्त विविध प्रकार की असंख्य परिस्थिति आती हैं और जाती हैं । मनुष्य के **जीव** के सकल संसार के जो जन्मदाता, निर्माता और नियंता हैं, वही एक तरह से तो सभी कोई को युद्ध के क्षेत्र में प्रेरित या योजित करते हैं, ऐसा कोई माने उससे पहले उस विधान का सत्य मानव **जीव** की कई भूमिका पर से जागा है, उसका विचार करना आवश्यक है । मानव के **जीव**स्वभाव के भाव, विचित्र प्रकार की वृत्तिओं और उससे उत्पन्न विचित्र प्रकार के आंदोलन उसके मन की अलग-अलग प्रकार की रुचि और उसके सामने की अलग-अलग सुरुचि, मन की विचित्र प्रकार की प्रवृत्तियाँ और उसके हेतु, मनुष्य के मन में ऐसी प्रकृति द्वारा मथन जन्मता है । वह स्वयं तो बिलकुल सूक्ष्म, अलिप्त रहकर **जीव** के उसके विचित्र कर्म के परिणामों पर अंकुश रखता है । (यदि वैसा न होता तो मनुष्य के मन में किसी की वृत्ति उत्पन्न होते उसके जीवन का सर्वनाश हो जाता, वहाँ तक वह उसमें प्रवृत्त रहा करता । अथवा तो ऊर्ध्वमुखी भावना जागते उसमें ही वह उसके शिखर तक पहुँचा करने में एक-सा रहा करके वहाँ जा के समा जाता ।) जो सारी कर्मवृत्तियाँ और भोगप्रवृत्ति के प्रेरक तथा नियंता के रूप में प्रत्येक **जीव** के अंदर होने पर भी अपना अस्तित्व छिपा रखता

है, उसे मानव **जीव** अज्ञान द्वारा अपने जीवन का सारथि के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता । समस्त विश्व की रंगभूमिका वही मात्र अद्वितीय और अवर्णनीय एवं सूक्ष्मरूप से सर्व चराचर के अंतर में अंतर्यामी सारथिरूप से विराजित ऐसा जो निर्माता और नियंता है, वह जीवन में साथ-साथ होने पर भी किसी को भी उसके प्रति का सच्चा संपूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानभान प्रकट नहीं होता । वही हमारे जीवन को चलाता है, वही हमारा सच्चा साथी है और वही जीवनसारथि भी है, परन्तु हम उसे पहचानकर उस भाव से उसका स्वीकार नहीं कर सकते ।

ऐसा जो हमारे जीवन को चलानेवाला सारथि मानवी से परखा क्यों नहीं जाता ? मानवीमात्र अपने जीवन को स्वयं ही चला रहा है । स्वयं ही उसका सर्जक है और स्वयं ही उसका भोक्ता है ऐसे मानता है और अपने बिना दूसरे किसी का उसे भान जाग सकता नहीं है । इसलिए ही इस विश्व की रंगभूमि का अंतर्यामी नटखट खिलाड़ी उसे उसके सच्चे स्वरूप में अनुभवज्ञान में कदापि नहीं आ सकता, क्योंकि कर्ममार्ग में अपनी **जीव** प्रकृति या स्वभाव के प्रेरणाबल से ही चला करने में मस्त होता है, परन्तु उस प्रकृति या स्वभाव को सतत प्रेरित करनेवाली जो अकल्प्य, गूढ़, सूक्ष्म और दिव्य चेतनाशक्ति है । जिसके चलन बिना कोई भी कर्म होने संभव ही नहीं और चेतनाशक्ति का कर्म करते समय **जीव** को कभी भी भान जागता नहीं है । इसी कारण से श्रीकृष्ण भगवान प्रेरकरूप या परम चैतन्यरूप से कभी भी अनुभव में नहीं आ सकते हैं । फिर, श्रीभगवान का ऐसा स्वरूप और ऐसा कार्य समझने पर भी मानवी का मूर्ख, पाजी, अज्ञानी मन, उसके वैसे भाव में पूरी तरह ज्ञानभक्तिपूर्वक स्वीकार नहीं कर सकता । उसे मात्र एक मदद करनेवाला अथवा बहुत हो तो उसे अपनी कामनाओं को संतोष करनेवाला समझते हैं तो फिर कोई उसे उदासीन मानता है । कोई **जीव** तो फिर उसे सर्व संबंध से रहित ऐसा निष्क्रिय भी गिनते हैं और श्रीभगवान विषयक अलग-अलग **जीव** की अलग-अलग मान्यताओं में पर्याप्त योग्य सजीवता भी अलग-अलग **जीवों** में अलग-अलग प्रकार की रहा करती है । मनुष्य

का अभिमान भी अलग-अलग भूमिका में चड़ता-उतरता, स्थूल में स्थूल, सूक्ष्म भूमिका में सूक्ष्म, ऐसे अलग-अलग आकार लेता रहता है। **जीव** अपने ऐसे अभिमान को जीवन की कोई भी कक्षा में दूर करके ज्ञानभक्तिपूर्वक व्यवहार न करता होने से, श्रीभगवान को उसके जीवन का सर्जक, चालक, नियंता और अंतर्यामी के स्वरूप में अनुभव नहीं कर सकता, परंतु मनुष्य का अभिमान भी उसके जीवनकाल में बहुत बार टूटकर चूर हो जाता है, उसका चूराचूरा हो जाता है, ऐसा समय उसके जीवन में आता है, वह उसके जीवन की, अपने जीवन के नियोजक, संचालक को पहचानने की एक अमूल्य दैवी पल है ऐसा समझना। मनुष्य की बुद्धि और मनुष्य की शक्ति तब कोई भी काम नहीं कर सकती है और प्रवृत्तिमात्र सकुचाती है। स्वार्थपरता का अभिमान और अपने ऊपर का विश्वास और अपने पर का सर्व काबू मानव खो बैठता है, वैसे समय में मात्र श्रीभगवान के दर्शन की इच्छा की संभावना उसमें जागती है। उसके जीवन की ऐसी बेला में यदि वह योग्य रूप से सोचे और प्रसन्न हृदय से श्रीभगवान को प्रार्थना करे तो श्रीभगवान कृपा करके प्रकट होते हैं और समग्र विश्व की एवं व्यष्टि के जीवन की समस्या का हल उसे कृपा करके बतलाते हैं। इस सकल विश्व में पलोपल अणु-अणु में चल रहे युद्ध का रहस्य, महत्त्व और उसका हेतु यह सकल जीवन के विकास के लिए है, उसका ज्ञान श्रीभगवान उसमें प्रेरित करते हैं और ऐसा करके जीवन के परम कल्याण का मार्ग उसे बतलाते हैं। **मनुष्य के जीवन में विषम परिस्थिति उत्पन्न हुए बिना वह कभी गहरा सोच नहीं सकता। श्रीभगवान परम कृपा करके उसे ऐसी विषम परिस्थिति में रखते हैं कि जिससे वह अपने विषय में योग्य विचार करने को प्रेरित होता है।** ऐहिक और पारलौकिक कर्म का आचरण करते-करते श्रीभगवान की दैवी माया से मोह पाकर अभिमान से प्रेरित हो मनुष्य अपनी विद्या को, बुद्धिशक्ति को, अपने जीवनमार्ग में प्रवृत्त कर रहा है, और उसके बाह्य और अंत:स्वरूप के जीवन में कुरुक्षेत्र जब प्रकट होता है, उस समय दोनों तरफ उसके अपने ही स्वजनों को खड़े हुए वह स्वयं

देखता है । इसप्रकार, नकारात्मक भाववाले **जीव** स्वरूपवाले स्वभाव का पराजय करके, उनका लय करके, उनके स्वभाव के धर्म में से मुक्ति पाप्त करवाकर युद्ध में विजय पाने का वह करता है, परन्तु अपने जीवन के ऐसे स्वधर्म के आचरण में जो भयंकर घोर अधर्म होते स्वयं देखता है और जिसमें मनुष्यत्वहीनता भी समायी हुई है ही, उसका नाश करने का निमित्त उसे होना पड़ता है । वैसा किये बिना प्रभुमय जीवन को वह पा नहीं सकता । अभी तक जिसे अपना माना है, जिसके द्वारा जीवन को पोषण मिला है, जीवन का शिक्षण मिला है और जीवन को चलाये किया है, उनको हराकर, उनको लांघकर जाने में मनुष्य का मन त्राहित्राहि पुकार उठता है । उसकी बुद्धि तब किंकर्तव्यमूढ़ होकर श्रीभगवान का सारथि रूप का शरण लेता है । श्रीभगवान की चैतन्यशक्ति सभी कोई **जीव** के अंतर में बसी है और मनुष्य उसके ही प्रेरित सर्व क्षेत्र में प्रेरित होता है, किन्तु मनुष्य तो 'मैं ही सभी कर्मों का कर्ता हूँ, किसी में प्रवृत्त होने में या न होने में मैं संपूर्ण स्वतंत्र हूँ और मेरी स्वतंत्र विचारशक्ति, प्राणशक्ति, बुद्धिशक्ति और चित्तशक्ति ही सभी कर्म का नियमन करती हैं ।' ऐसा माना करता है और समझा करता है । **जीव** संपूर्ण ज्ञान की कक्षा में आने के बाद वैसी समझ योग्य होगी, पर **जीव** बिचारा अज्ञान की कोटि में भी वैसा ही माना करता है, ऐसी उसकी विचित्रता है । **जीव** में बुद्धि होने पर भी यदि वह स्वयं सर्वशक्तिमान है, तो उसे किसी में मंथन करने जैसा नहीं रहता और सर्व व्यवहार में ऐसा नहीं होता है, तथापि वैसा मानने की भ्रमणा में ऐसा अल्पज्ञानी **जीव** पड़ा रहता है । **'सोया हुए बोले किन्तु जागता होने पर भी सोने का ढोंग करके पड़ा रहे वह न बोले,'** ऐसी एक कहावत है, इसलिए ऐसे प्रकार का **जीव** का उद्धार होना कभी संभव नहीं ।

मनुष्य जहाँ तक सभी बात में अपने को ही सर्वश्रेष्ठ समझता होता है, वहाँ तक श्रीभगवान का भाव कभी भी उसके आधार में जाग ही नहीं सकेगा । श्रीभगवान के भाव को अनुभव करने जैसी भी मनुष्य के मन की भूमिका ऐसे के ऐसे कभी तैयार नहीं हो सकती । उसके मन

के साथ और उसके स्वभाव के साथ तथा अनेक प्रकार के उसके प्यारे स्वजन के साथ उसे अनेक बार लड़ना पड़ता है । ऐसे तो **जीव**दशा में भी वैसा लड़ने का तो हुआ ही करता है, परन्तु उस तरह से उपजे युद्ध में से **जीव** का ज्ञानभूमिका में विकास होना कभी भी संभव नहीं । इसलिए जो **जीव** अपने मन और स्वभाव को पलटाने का समझपूर्वक का ज्ञान अपने दैनिक कर्म, व्यवहार और संबंध में सावधानीपूर्वक, चेतनापूर्ण जागृति से भगवान-भक्ति की धारणा से रखा करेगा, उसके स्वभाव में अवश्य बदलाव होगा ही । इतना यदि निश्चित है कि **जीव** चाहे या न चाहे, तब भी भिड़ना तो अनिवार्य है, तो उसमें ऐसी ज्ञानपूर्वक की समझ रखना वह क्यों नहीं करता है ? जो **जीव** के जीवनकाल में लंबे समय तक किसी न किसी तरह श्रीभगवान का संबंध रहा करता होता है, वैसा **जीव** ही जाग सकता है । **श्रीभगवान कृपा करके ऐसे *जीव* को उसकी अनेक प्रकार की पकड़ या ग्रंथियाँ तोड़ाने जीवन में ऐसे प्रकार के प्रसंग आया करते हैं और ऐसे धन्य प्रसंग के समय ही जो *जीव* प्रभु का हाथ देखता है, वही *जीव* भाग्यशाली है । ऐसा *जीव* चेत गया है ऐसा समझें ।** श्रीभगवान ऐसे **जीव** के अनेक प्रसंगों में रहे होते हैं । उसे कृपा करके जगाने, चेताने, नवीन प्रसंग देते हैं और ऐसे अनुभव भी करवाते हैं, परन्तु अभी भक्ति के भाव से जो **जीव** कभी भी अलग नहीं हो सकता, उसके पूर्वजीवन की रचना के और पुनर्जीवन की रचना के वे सभी अंग हैं, शृंखलारूप हैं । जैसे शरीर के आँख, कान, हाथ, पैर आदि सकल अंग शरीर से अलग नहीं, वैसे वह सर्व मानवजीवन के साथ गाढ़ रूप से जुड़े हैं । कोई उसे स्वयं के साथ कोई संबंध नहीं ऐसा गिनकर त्याग करे, तब भी वह सभी उसमें सूक्ष्मरूप से संसार की दशा में रहा होता है ही, इसलिए सच रूप में तो सभी से मुक्त नहीं है ।

समस्त विश्व और संसार भगवान के हैं, क्योंकि उनकी चेतनाशक्ति ही समस्त संसार की सभी क्रियाओं की संयोजक, नियोजक, वियोजक, विधाता और नियंता है । सभी मनुष्य, सभी प्रकार के **जीव** उसकी सूक्ष्म

गूढ़ रचना की एक अखंड और समग्र शृंखलारूप ही हैं, इससे कोई भी अपने अपने अंकुड़ा से विमुख नहीं हो सकता है । श्रीभगवान अपनी मोहमाया से **जीव**मात्र को भ्रमित करते हैं । समस्त विश्व के रचनाविकास और उनके गूढ़-दिव्य हेतु को, प्रभु के दिव्य संकल्प को, मूर्त स्वरूप देने को बिचारा **जीव** तो पूतले की तरह बस एकमात्र निमित्तरूप से ही बर्ताव करता है । यह महान तत्त्वज्ञान अर्जुन के हृदय में उतर नहीं सका था । अर्जुन भ्रम में पड़ा था । अभी उसका आवरण दूर नहीं हुआ था । इस संसाररूपी समुद्र में उसके क्षणजीवी तरंगों में यहाँ से वहाँ टकराता-फिकता प्रत्येक मायामुग्ध **जीव** की मनोभूमिका आर्द्र नहीं हुई है, उस **जीव** के आधार में वैसे अनुभव मिलने पर भी, उसका उठाव, छाप या असर पर्याप्त नहीं हो सकती । जीवन के प्रत्येक व्यवहार, संबंध में जो **जीव** श्रीभगवान की भावना को हेतुपूर्वक जोड़ा करता है और ऐसे समय जो **जीव** का मन श्रीभगवान की भक्ति में खेला करता है, अथवा ऐसा जिसको अभ्यास है और हृदय की जिसे उत्कंठ ऐसी आतुरतापूर्वक की इच्छा है, वह **जीव** श्रीभगवान को सर्व भाव से और सर्व तरह से सर्वश्रेष्ठ, सर्व समर्थ मानकर उसके ही शरण में दौड़ जायगा । जीवन के दैनिक व्यवहार में भी कोई भी बड़े गिनाते सज्जन का संबंध हमारे काम आता है, तो ज्ञानभक्तियोग भावना से श्रीभगवान का संबंध जो **जीव** विकसित करता है, वह तो कैसे फिर व्यर्थ हो सकता है ? **हम ही श्रीभगवान को धकेल देते हैं और बहुत ही बार उनका स्पष्ट इनकार भी करते हैं । *जीव* उस पर श्रद्धाविश्वास नहीं रखता, पर वह तो रखता है ही । *जीव* उसे अनेक अन्याय करता है । उसके अस्तित्व को भी वह स्वीकार नहीं करता, तब भी वह *जीव* की अवगणना नहीं करता । *जीव* उसकी अवगणना करता है, परन्तु ऐसा होने पर भी *जीव* जब उसे प्रेमभक्तिभाव से याद करता है, तब वह आये बिना भी नहीं रहता ।**

जीवन में सतत सर्व प्रसंग, परिस्थिति, कर्म, व्यवहार, संबंध आदि से **जीव** किसी न किसी ऐसे ही प्रकार की भ्रमणा में पड़ा होता है, किन्तु सामान्य **जीव** में और अर्जुन में अंतरमात्र यह है कि, उसे श्रीभगवान

का संबंध किसी न किसी प्रकार से जीवन में रहा हुआ है । श्रीकृष्ण भगवान अर्जुन को अपना भक्त बनाना चाहते हैं । वे जब कृपा करते हैं, तब उनकी कृपा का पार नहीं रहता । स्वयं अपने को प्रकट करके अर्जुन को उस समय दिव्य अंतर्दृष्टि देते हैं और स्पष्ट रूप से अनुभव करवाते हैं कि यह सकल संसार का कर्ता मनुष्य नहीं है, इतना ही नहीं, परंतु मानवमात्र के सकल कर्म उनकी स्वतंत्र इच्छा से, शक्ति से या बुद्धि से नहीं होते, परन्तु उनकी प्रवृत्ति में प्रेरित रही चेतनाशक्ति के आधार से वह सब हुआ करता है, पर मनुष्य उसमें मैंपन का अभिमान रखा करता है, इसलिए उसमें वह अधिक से अधिक जकड़ता जाता है । इस संसार के क्षेत्र में सर्वत्र जो अनेक प्रकार के युद्ध खेले जा रहे हैं, वे अपने आप कभी भी उद्‌भव नहीं होते । जिस प्रकार की शक्ति-सामर्थ्यवाली परिस्थिति में **जीव** होता है, उस अनुसार उसका कर्म रचता जाता है और उस अनुसार ही इस संसार के युद्धक्षेत्र में उसे प्रवृत्त होने की योजना करनी पड़ती है । सभी किसी के जीवन में उसके जीवनबहाव का पाट निश्चित हुआ होता है और प्रत्येक जीव को अपने जीवन में उसे उस तरह व्यक्त करना पड़ता है ।

'तो फिर मानव**जीव** को अपने विषय में स्वतंत्रता जैसा भान उठा करता है उसका क्या ?' ऐसा सहज मन में प्रश्न उठता है । जमीन पर बरसात पड़ते ही हरे अंकुर फूट निकलते हैं । उस जमीन में उस हरियाली के चेतनबीज अंतर्गत थे ही और उस मिट्टी के साथ बरसात का स्पर्श होते वह ऊग निकला । जनसमाज का अवलोकन करते लगेगा कि, कितनो में उदा. संगीत की विद्याकला खूब विकसित होती है । साधारण रूप से वैसा संगीतकार स्वयं और दूसरे सभी मानते हैं कि वह अमुक कुशल उस्ताद के पास सीखा और इतने वर्ष महेनत की, इससे ऐसा प्रवीण हो सका । पर उसमें संगीत को झेलने की और उस विद्याकला का विकास करे ऐसी अंतर्गत चेतनाशक्ति ही न होती तो ?—उसमें संगीतशक्ति बीजरूप में न पड़ी होती तो ? इसलिए उसमें पहेले से ही ऐसा 'कुछ' था कि जो संयोग मिलते अपनेआप बाहर खिल निकला । इस तरह प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का व्यक्त होना होता है, क्योंकि मनुष्य

की रचना में ही कुछ ऐसा है कि जो व्यक्त होता है । उसमें कोई उस व्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं है ।

मिट्टी यदि ऐसा समझे, कि मैंने अपने में से झाड़ या वनस्पति उपजायी तो वह अयोग्य है । मिट्टी में ही कुछ ऐसा तत्त्व रहा है कि जो बरसात, धूप आदि संयोग मिलते ही वनस्पतिरूप से व्यक्त होता है । यदि ऐसा न होता तो केंचुआ आदि **जीवों** की उत्पत्ति मिट्टी में से क्यों होती ?

उसी तरह अवकाश में या आकाश में भी निहारीका और उसमें से तारे की उत्पत्ति होती है, क्योंकि आकाश में ही ऐसा कुछ है, कि जो इस तरह अंत में व्यक्त होता है । एक छोटे से अणु में एक पूरे शहर का विनाश करने की अंतर्गत शक्ति है और वह भी संयोग मिलते उसका अपनेआप वैसा विनाशकारक तत्त्व हो सकता है, यह तो हमारी जानकारी की बात है ।

नदी का प्रवाह भी इसी तरह अंतर्गत कुछ के व्यक्त होने से होता है । पानी का गुण ही ऐसा है कि वह नीचेवाले भाग में बह जाता है, इसलिए अपनेआप धार बनती है और अनेक धाराएँ मिलने पर नदी बनती है ।

यदि बालक में कुछ अंतर्गत ऐसा न होता कि जिससे वह बड़ा हो सके, तो फिर मानवजाति का अस्तित्व ही न होता । माँ के पेट में, जब उसे 'बालक' भी नहीं कह सकते, ऐसी स्थिति में भी उसके सहज स्वभाव से उसकी अभिव्यक्ति हुआ करती है । **अंग्रेजी में शिक्षा के लिए 'एज्युकेशन' (Education) शब्द है । उसका मूल लेटिन भाषा के दो शब्द हैं । 'इ' यानी बाहर और 'ड्युको' यानी मैं खिंचता हूँ । इसप्रकार, एज्युकेशन यानी अंदर हो, उसे बाहर खिंच लाना । शिक्षा कोई नया ही** तत्त्व बालक में जिसका बीज ही न हो वैसा तत्त्व बाहर से नहीं लाती । मात्र बालक में जो अंदर रहा हुआ है, उसे बाहर लाती है और व्यक्त कराती है ।

इसप्रकार, सभी किसी रचना के मूल में ही ऐसा कुछ रहा है, कि जिससे सब कुछ व्यक्त हुआ करता है और कर्म में प्रवेश करता है और नया-नया रूपान्तर होता है । और वह अपनी स्वतंत्रता है ऐसा

समझता है ।

श्रीभगवान की चेतनाशक्ति सभी में रही है। वह व्यक्त हुआ करेगी ही । यह व्यक्त होने की क्रिया भी उसके अंतर में और उसकी रचना में अंतर्गूढ रही ही है। उसी तरह प्रत्येक मनुष्य **जीव** की प्रकृति के अंदर अपनी विचारशक्तिरूप इच्छाशक्ति को सूक्ष्मरूप से संग्रह रखी होती है, इसके कारण ही मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता का भान उस कर्मक्षेत्र की मर्यादा तक ही होता है। मनुष्य **जीव** यदि सचमुच स्वतंत्र हो, तो उसके जीवन में सर्व पहलू में वह अपने माने अनुसार ही व्यवहार करने में शक्तिमान होना चाहिए। मनुष्य अपने घर की मर्यादा में ही स्वतंत्र है, मर्यादा के बाहर स्वतंत्र नहीं। और अपने घर में भी वह बिलकुल स्वतंत्र तो नहीं ही है। वहाँ भी उसे घर के कितनों स्वजनों की इच्छा के अधीन रहना ही पड़ता है। ऐसा सोचते **जीव** को लगती स्वतंत्रता का भान भी श्रीभगवानने गढ़ी मानव की प्रकृति का ही अंश है। जीव को निश्चित हुए अपने जीवनक्षेत्र में ही ऐसी स्वतंत्रता का भान जागता है और ऐसे निश्चित हुए साधनक्षेत्रे में से भाग जाने की स्वतंत्रता मानव को नहीं है। मानव यदि सचमुच ऐसा स्वतंत्र होता तो अपनी सारी धारणाएँ फलित कर सकता होता। मानव मानता है, उस तरह वैसा कुछ पूरा फलित नहीं कर सकता। ऐसा होता तो नरसिंह मेहता के गाने के अनुसार सारे कोई शत्रु मारकर मित्र ही रखता और भवन पर छत्र रखता । जीवन में सद्‌भावना रख-रख के **जीव**मात्र के प्रति जो **जीव** प्रेमभाव ही रखता है, वह भी संपूर्ण स्वतंत्र नहीं है । मानव यदि अपनी विचारशक्ति, इच्छाशक्ति, बुद्धिशक्ति और चित्तशक्ति को योग्य रूप से विकसित कर, खीलाकर ऊपर का तत्त्वज्ञान समझ ले और श्रीभगवान ने निर्मित विश्वरचना के साधनसंग्राम में श्रीभगवान ने ही दी शक्ति और सामर्थ्य पूरी तरह अजमाये, कर्म के कर्तृत्व की और उसके फल की आकांक्षा और क्षमता की संपूर्ण निरर्थकता मन से समझ ले, जो है और जो मिलता है और जो मिलेगा, वह सब उसकी प्रसादीरूप गिनकर उसे स्वीकार कर ले और अपनी प्रकृति और अवस्था के योग्य हृदय की प्रेरणा से जीवनसाधना में यदि लग जाय तो वह जीवनसंग्राम में से मुक्त हो सके और उसका जीवन धन्य हो जाये । मानव यदि इस तरह भक्ति-ज्ञान-

योग-भाव से अपना जीवन श्रीभगवत्प्रीत्यर्थ ही बिताना करे, तो उसे राग, द्वेष, सुख और दु:ख, शोक और मोह आदि का कोई कारण नहीं रहता, और मन में ऐसा ज्ञान आये, तो किसी भी प्रकार का विषाद जागने का भी संभव नहीं रहता ।

प्रत्येक मानव अपने कार्य में किस तरह चलता है, वह हमें सोचना चाहिए । श्रीहरि की अकल और अटल विश्वरचना के दिव्य गूढ़ हेतु के फलस्वरूप विश्व की प्रकृति और **जीव** की अपनी प्रकृति, उससे चलायमान होकर, अपने ही जीवनक्षेत्र को ध्यान में रखके प्रत्येक मानव कर्म में प्रेरित होता जाता है, किन्तु प्रत्येक मानव की विचारशक्ति का विकास जिस-जिस अनुसार होता है, उस-उस अनुसार उसके आकार भी होते जाते हैं । मानव का मानस उसने रची दुनिया की मर्यादा में ही खेला करता है । उससे अलग उसका जाना, रहना, उड़ना, जीना लगभग संभव नहीं होता । प्रत्येक मानव की अपने-अपने कर्मक्षेत्र की मर्यादा होती है । उस मर्यादा का विस्तार भी वह चाहे वैसा नहीं कर सकता है । मानव की मानसिक दुनिया भी अलग-अलग प्रकार की होती है । किसी की इन्द्रियों की लोलुपता में, तो किसी की लौकिक संपत्ति में, तो किसी की दुनिया में मानसम्मान पाने में समायी रहती है । किसी की सत्ता की प्राप्ति में, किसी की सद्‌गुण की प्राप्ति में, किसी की अनुयायी पाने में और उन्हें रास्ता दिखाने में, किसी की समाजरचना के उसे पसंद ध्येय की प्राप्ति में या अपने किसी समूह या भौगोलिक मर्यादा से अंकित देश में या स्वयं को मनपसंद मंतव्य को फैलाने में या मनपसंद रूप से अपनी कल्पना अनुसार मानवसेवा में, किसी की भौतिक या मानसिक विज्ञान की किसी शाखा के लक्षण की खोज में या कल्पना या भावना के शब्द को आकार देने में, किसी स्वजनों को सहायरूप या विघ्नरूप होने में, व्यापार-उद्योग आदि में, कामक्रोधादि वृत्तिओं के भंवर में या उसमें से कोई भी एक या अधिक तीव्र अनुशीलन में—ऐसी असंख्य अलग-अलग प्रकार की भी तथापि संकुचित पाट में समायी होती है ।

जितने प्रकार की वासना, कामना, लालसा, आशा, इच्छा, वृत्ति और भावना है, उतने प्रकार की वैसे-वैसे **जीव** की वैसी-वैसी सृष्टि निर्माण हुई होती है । **जीव** की जो प्रकार की जो कार्य पर्याप्त वृत्ति रहा करती

है, उस प्रकार से ही मानव चलता जाता है और उस उस कर्मक्षेत्र की मर्यादा में अपनी शक्ति का उपयोग उस अनुसार किया करता है। उसमें भी फिर कोई ही **जीव** ऐसा होता है कि जो अपनी समग्र शक्ति का संपूर्ण उपयोग करता है, किन्तु वैसे कर्म का भले ही उत्तम परिणाम आता हो, तब भी मानव अपने आपको मन की क्षुद्र सीमा के अंदर जकड़ लेता है—बांधकर रखता है। विचार वैसी सृष्टि, विचार या वृत्ति के पार जाने को वह समर्थ नहीं होता और अंतिम तो उसे द्वन्द्व की भूमिका पर किये कर्मों के उस प्रकार के परिणाम—जो चाहे या न चाहे तब भी—उसे स्वीकारना ही पड़ता है। **जीव**मात्र की कर्म की भूमिका भी अलग-अलग प्रकार की होती है। ऐसी भूमिका का जैसा हेतु होता है, उतने और उसके प्रमाण में **जीव** की वृत्ति वैसी होनी संभव रहती है। सांसारिक वृत्ति में मात्र जो **जीव** डूबे रहा करते हैं और ऐसी बस एक स्वार्थ की परम्परा में जो **जीव** जकड़ा रहता है, इससे तो जो **जीव** पूरे देश, जाति या समाज के कल्याण को लक्ष में रखकर—अपने स्वभाव को योग्य भाव में विकसित करने—जो कर्म किया करता है, तो वैसा **जीव** स्वयं पसंद किये कर्मक्षेत्र की उच्चतर कक्षा में गुणभाव के परिणाम से दैहिक और कौटुंबिक वृत्ति के संक्षिप्त वृत्ताकार में से अधिक विस्तृत होता जाता है, किन्तु ऐसे उच्चक्षेत्र के कर्म में भी जो जीव रागद्वेष की भूमिका को स्थायी रखकर ही अथवा तो उस भूमिका पर से ही यदि काम करना रखता है, तो उस कर्म का क्षेत्र ऊँची भावना का होने पर भी सांसारिक **कर्मक्षेत्रवाला *जीव* के गुणविकास की स्थिति में अंतर नहीं आता। कर्म का क्षेत्र ऊँचा हो या नीचा, उस पर कर्म के परिणाम का आधार नहीं है, किन्तु अपने आपको मिलते जाते कर्मक्षेत्र में मानव अपने मन के जीते-जागते हेतु को किस प्रकार रखता है, उस पर कर्म का कनिष्ठ या उत्तम परिणाम का आधार रहता है।** देश, जाति या समाज के कल्याण में—सेवा में—पड़ा मानव **जीव** दैहिक या कौटुंबिक संबंधो की अवगणना नहीं कर सकता। यदि वह वैसा करे तो उसकी सेवा का दावा गलत होगा। स्वयं को मिलते जाते कर्मक्षेत्र में अपने जीवनआदर्श का हमेशा जो सुमेल साधने की हृदय की चेतनाभरी

उत्कट जागृति से एक-सा प्रयत्नशील रहता है, उस मानव का नैतिक और आध्यात्मिक जीवन उन्नत होता जाता है । वह कर्म करते समय यदि उस मानव के अंत:करण का भाव उसके जीवनध्येय के अनुरूप हो और उसके साथ-साथ उसे योग्य जीतीजागती धारणा उसमें (कर्म में) वह रखा करे, तो उसके मन, बुद्धि, चित्त, प्राण और अहम् निर्मल होते जाते हैं, क्योंकि कर्म के फल का, किस-किस भूमिका पर वह बना करता है, उस पर सकल आधार रहता है । जो मानव अपनी क्षुद्र वासनाओं को—स्वार्थ को छोड़कर एकमात्र पारमार्थिक जीवन सतत निरन्तर बिताने का करता है, वह सापेक्षरूप से उच्च जीवन का अधिकारी बनता है सही, परन्तु उस क्षेत्र के होते उस कर्म से यदि उसकी मानसिक भूमिका में मूलभूत परिवर्तन हुआ करे अथवा अपने जीवन का सर्वांगी विकास होता जो न अनुभव कर सके, तो उसके ध्येय की तमन्ना में और उसके आचरण की भावना में कहीं विसंवाद है, यह बात निश्चित । **जहाँ विसंवाद वहाँ अशांति, जहाँ अशांति वहाँ विकास का घुटन ।** इस तरह जो कर्मक्षेत्र की आंतरिक प्रवृत्ति में तटस्थता से, निरपेक्षरूप से स्वयं अपने को देखता रहता है, वह परमार्थ प्राप्ति मार्ग में आगे बढ़ सकता है । कर्म करते समय मानव का मन कैसे-कैसे तुक्के उठाता है और किस किस तरह उसमें प्रेरित होता है, वह उसे जानना ही होगा । वहाँ भी युद्ध ही हुआ करता है । वैसा युद्ध ज्ञान-भक्ति-योग की योग्य समझपूर्वक खेला करना जो रखता है, उस **जीव** का भावना विस्तार भी हुआ ही करता है । अनेक प्रकार की क्षुद्र मर्यादाओं में से स्वयं मुक्त होता जाता वह अपने को अनुभव करेगा । मनुष्य एकमात्र **श्रीभगवान की सेवारूप सर्वोत्तम जीवनध्येय को अपने अंत:करण से लक्ष में रख रखकर जो-जो परिस्थिति मिलती जाय, उसमें अपने स्वधर्म को पहचानकर यथायोग्य यथाप्राप्त आचरण करे, तो वह कर्म द्वारा ही संसारबंधन में से संपूर्ण मुक्त होकर श्रीभगवान की प्राप्ति कर सकता है । मानवहृदय की भावना कितनी सर्वोत्कृष्ट और कितने प्रमाण में जीतेजागते कर्म करते समय रहती है, उस अनुसार कर्म के परिणाम का आधार रहता है । उस तरह के होते कर्मों से उत्पन्न होते आगेपीछे कोई दोष या गुण**

बंधनकर्ता नहीं होते । श्रीभगवान की भक्ति, ज्ञान और योग तथा ध्यान की एकाग्र, केन्द्रित और समग्र हृदय की भावना से आचरित और वैसे जीवनआदर्श के स्वधर्म से अनुष्ठाते कर्मों में से कुछ भी उल्टा नहीं हो सकता । कुछ उल्टा होता दिखे, तब भी उसका परिणाम तो श्रीभगवद्भावना की परम कल्याण की स्थिति में ही फलित है यह बात निश्चित है ।

जीवन की वैसे प्रकार की साधना के कर्मों में हृदय में सुमेल जागा और जमा होगा, तभी भी वैसे कर्मों के बाह्य स्वरूप में कभी सात्त्विक उग्रता भी आ जाना पूरा संभव है । वहाँ भी युद्ध ही रहा है । ऐसे कर्म के क्षेत्र में भगवान ब्रह्मा का सर्जन भी हो, भगवान विष्णु का रक्षण और पोषण भी हो और भगवान शंकर का विनाशकारी तांडव भी हो, परन्तु कुछ ऊपर से दिखता हो, उस पर से किसी का ख्याल बांध लेना यह ज्ञानयुक्त नहीं है । **जिसकी अंतर की भूमिका बिलकुल शांतिवाली और प्रेमभाव से अविच्छिन्नरूप से संपूर्ण एकता के आनंदभाववाली होती है, उसके कर्म के आकार प्रकार सामान्य मानव *जीव* से कोई अलग ही प्रकार के होने चाहिए ऐसा अनुमान स्थूल रूप से संपूर्ण सच नहीं है ।** वैसे अमुक की बातों में स्थूल रूप से उनके कर्म का आकार और प्रकार अलग भी होता है, और जीवन की साधना की सर्वोत्कृष्ट दशा में भी उस समय के युद्ध की भयंकरता अलग-अलग होती है । वैसी दिखती भयंकरता यह कोरी स्थूल भयंकरता है, ऐसा मानना यह भ्रमजनक है । आध्यात्मिक जीवन की साधना की भूमिका का प्रकार भी बदलता जाता है । जैसे-जैसे भूमिका बदलती है, वैसे-वैसे प्रकार और आकार भी बदलते हैं । एक कर्म जो संसारी प्रथा में पड़े मानव करे, वैसा का वैसा कर्म सर्वोत्कृष्ट कक्षा में पहुँचे आध्यात्मिक जीवन साधनावाला **जीव** करे उन दोनों में कर्म एक होने पर भी उन दोनों की आंतरिक मनोभावना में स्पष्ट अंतर होता है । पहला **जीव** वासना से भरपूर है, जब दूसरा सात्त्विक जीवन के माधुर्य से भरपूर होता है । कोई भी मानव अपनी आयी हुई परिस्थिति में से भागकर कभी भी छूट नहीं सकता है । प्रत्यक्ष रूप से कोई वैसा छुटकारा पाता है, तो कोई वह परिस्थिति के उस कर्म का विचार या उस कर्म की सुख दुःखादि वृत्ति उसे कभी छोड़ नहीं सकती । जो मानव जिस प्रकार की

परिस्थिति में आ पड़ा हो, उसमें उसे उस अनुसार जुड़ना ही पड़ता है । 'जुडने' के अर्थ में ही संग्राम रहा है । ऐसे संग्राम में से मुक्त होने का एकमात्र रामबाण उपाय अंतर से अंतर में श्रीभगवान को हमारे जीवनरथ का सारथि बनाकर, भावना से उसे भावना में दृढ़ता से स्थापन करके, जीवन के सर्व कर्मों में, आदि, मध्य और अंत में, उसे उसके संचालक के भाव में और रूप में निरखकर और उनके चरणकमल में सर्व भाव से और सर्व तरह से आत्मसमर्पण करने में ही रहा है । श्रीभगवान द्वारा मिले संसार क्षेत्र की मर्यादा में और मर्यादा के विस्तार में भी उसने कृपा करके दी शक्ति सामर्थ्य का उसकी ही जीवनभावना के लिए हृदय से भक्ति-ज्ञान-योग-ध्यानपूर्वक उपयोग किया करके, उसके अटल विधान अनुसार मिलते जाते संग्राम के अंतर्बाह्य रूप में जब-जब जिस प्रकार का जो कुछ उद्‌भव हो, उसका हृदय से सत्कार करना ही पड़ेगा, इतना ही नहीं, परन्तु जीवन का दिव्य उच्चतम भूमिकाओं पर आरोहण कराने, उसमें प्रभुता प्रकटाने, जीवन के आदर्श को तेजस्वी रखकर जीवन की साधना को अधिक प्रज्वलितरूप से उसके एक के बाद एक ऊच्च शिखर कुदवाना हमें करना ही पड़ेगा ।

जीवन में ज्ञानभक्तियोगपूर्वक श्रीभगवान का यंत्र बनने के लिए अथवा तो जीवन की उस अवस्था के बाद की स्थिति में, वैसे भाव का स्वरूप जीवित रहे उसके लिए, उस उस भूमिकाओं में भी युद्ध आयेगा ही । यह युद्ध फिर अलग ही तरह का होता है, किन्तु जीवन की उच्चतर और दिव्य होती जाती भूमिकाओं में युद्ध की रगड़ भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम होती जाती है । जीवन की जिस प्रकार की भूमिका पर स्वयं खड़ा हो, उस प्रकार के हेतु की समझ से उसे पहचानने या समझने का बहुत कम **जीव** से हो सकता है । **जब मानव अपने *जीव* करणों का स्वधर्म छोड़कर श्रीभगवान के शरण में जाता है, तब श्रीभगवान उसे उसके सभी पापों में से मुक्त करते हैं । मन का स्वधर्म संकल्प विकल्प का, बुद्धि का स्वधर्म उसे पाट देने का, चित्त का संस्कार का और प्राण का कामनाओं का होता है । यह और उससे भी दूसरे सूक्ष्म करणों का स्वधर्म को जो जीव संपूर्णरूप से छोड़ देता है, उसे कर्मबंधन नहीं है । जिसे कर्मबंधन नहीं है उसे युद्ध भी नहीं है ।**

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।' (गीता १८ / ६६) यहाँ 'सभी धर्मों को छोड़कर' ऐसा सूचन श्रीभगवान अर्जुन को करते हैं । मानव**जीव** से ऐसे धर्म कोई ऐसे के ऐसे नहीं छूट सकते, इसलिए जो **जीव** को इस विषय की धधकती तमन्ना लगी है, उसे उसके आधार के करणों के वैसे प्रकृतिजन्य धर्मों से मुक्त होने के लिए झूझना ही पड़ता है । ऐसे धर्मों को छोड़ना यह महान भगीरथ कार्य है, ऐसा कितनों का कहना है और मानना है । किन्तु जीवन के ध्येय के लिए हृदय की चटपटी जिसे लगी है, वैसे मनुष्य का ध्येय के प्रति चेतनाभरी जागृति रहती है ही । जिसे ऐसी जीवित जागृति रहती है, उसके लिए अपने करणों के प्रकृतिजन्य धर्म छोड़ने, यह कठिन नहीं होता । किसी बड़े व्यापारी के यहाँ बड़ी रकम का सौदा करने कोई ग्राहक आता है । उसका व्यवहार, उसका तौरतरीका, पोषाक और हलनचलन इतने अधिक विचित्र और बेहूदे होते हैं कि, वह घृणा का पात्र लगे और मन में सहज क्रोध उद्‌भव हो, परन्तु व्यापारी के मन में 'क्रोध करूँगा तो इतना बड़ा सौदा बिगड़ जायेगा' और होने के सौदे के साथ उसकी सारी विचित्रता और बेहूदापन का कोई संबंध नहीं, ऐसी मन में समझ रहती होने से वह क्रोध को होने नहीं देता । यह सत्य ठीक से समझ सके ऐसा है । ग्राहक ऐसा था कि स्वाभाविक क्रोध हो, परन्तु व्यापारी के दिल में सौदा बिगड़ जाने की जागृति रहती होने से क्रोध को निवारने में उसे सफलता मिलती है । साधक के हृदय में यदि अपने जीवनध्येय की चेतनाभरी अखंड जागृति हो, तो सभी प्रकृतिधर्म छोड़ने उसके लिए थोड़ा भी कठिन नहीं हैं । साधक को अपने जीवनध्येय के प्रति, अपने आधार के सभी करणों का ध्येय के योग्य ज्ञान-भक्ति-योग की भावनावाला भाव रहा करे, तो श्रीभगवान ने उसे सभी पापों में से मुक्त करने का अभयवचन दिया हुआ है । अज्ञानी या ज्ञानी, सभी किसी के जीवन में, जीवन की सर्व प्रकार की भूमिका पर युद्ध तो रहा ही है और मानव उस युद्ध का जिस तरह से स्वीकार करता है और जिस हेतु से और जिस भावना से उसमें स्वयं पिरोए हुआ है, उस पर उसके जीवनविकास का आधार रहता होता है । **युद्ध के बिना मंथन नहीं होता । मंथन के बिना किसी का भी हल नहीं ।**

इसप्रकार युद्ध से ही जीवन का विकास और ऊर्ध्वारोहण होता जाता है ।

• • •

॥ हरि:ॐ ॥

३४. साधकों को सीख

(१) मुख से या मन में जागृत रूप से जप : साथ ही हृदयप्रदेश पर ध्यान तथा चेतन के चिंतन सहित भावात्मक भाव का रटन ।

(२) प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण : अच्छे तथा बुरे, दोनों का ।

(३) साक्षीभाव, जाग्रति, विचारों की शृंखला न जोड़ें ।

(४) हो सके उतना वाचिक और मानसिक मौन रखें, विकसित करें और अत्यधिक शरणभाव जीवन में चेतनापूर्वक की जाग्रति से विकसित किया करें ।

(५) *आग्रह*—प्रभुचिंतन सिवा के सभी आग्रह छोड़ें, नम्रता, शून्य होने का ध्येय रखें ।

(६) खूब भावपूर्ण हृदयस्थ रहकर आर्द्र और आर्त भाव से प्रार्थना करें, भगवान को सभी सुखदु:ख बतलाते रहो । उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा खूब गहरा निजी सम्बन्ध स्थापित करें । मन में कुछ भी विचार न आने दें । खाली रहें ।

(७) प्राप्त होते काम प्रभु के समझो, थोड़ी भी कचोट के बिना उसे बहुत प्रेमपूर्वक करें । प्रत्येक प्रसंग, घटना हमारे कल्याण के लिए ही आ मिलते हैं और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने ही विकास के लिए होनी चाहिए । प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ़, शुभ संकेत छिपा है ।

(८) आत्मलक्षी—अंतर्मुखी बनें । मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान बूझकर अपने आपको फाँसने न दो ।

(९) *पर* (पराये) की सेवा प्रभु की सेवा समझें, सेवा लेनेवाला, सेवा देनेवाले के ऊपर, सेवा करने का मौका देकर उपकार करता है । राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं । वहाँ 'मेरा' 'मेरा' कहाँ रहा ? तेरा तुझको अर्पण

(१०) प्रत्येक कर्म, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे

॥ हरिः ॐ ॥

श्रीमोटा का पद्य लेख

'जो कोई पद्य लेख हैं उसे कविता तो गिनता ही नहीं, मात्र तुकबंधी गिनता हूँ। ऐसा लिखने में आनंद आता है। जो कहना हो वह सब लिखने का—ठीक तरह से लिखने का—मुहावरा पड़ता गया है। जो कहना होता है वह उसमें पूरी स्पष्टता से प्रमाण के साथ हो सकता है और व्यक्त भी प्रभावपूर्वक से होता है। गद्य में वैसा पूरा नहीं बनता। गद्य में भी वैसा-वैसा व्यक्त तो हो सकता है, परन्तु श्रीप्रभुकृपा से जो-जो काल में जो-जो साधन मिले, उसमें ज्ञानभाव से उपयोग की दृष्टि व्याप्त हो इतना ही **इस जीव** को तो देखना रहता है।'

— मोटा

॥ हरि:ॐ ॥

परमार्थ ऐसा करो कि जो समाज की
समग्रता को स्पर्श करे ।

– मोटा

॥ हरिः ॐ ॥

'मन को'

(भुजंगी)

सभी साधनों में मुझे तू ही श्रेष्ठ,
न चले थोड़ा भी, न यदि तेरी ऊष्मा,
करूँ काम मेरे तुम्हारे सहारे,
तुम्हें याचुं मैं संग रहने सदा ।

तुम्हें थोड़ी भी पापबुद्धि न जागे,
तुम्हें वासना किसी रीत न लगे,
सदा सारी संकल्प व कल्पनाएँ—
रख सँभाल, जागृति रख, त्यागों ।

सदा सर्व के साथ रहकर नम्र भाव से,
सदा सर्व को प्रेम से रीझा ले,
व्यर्थ व्यर्थ तरंग में चढ़ा तो,
खोयेगा तू प्राप्त किया जो कमाया ।

मुझे छोड़ेगा तू, फिर भी कैसे छोडूं—
तुम्हें ! संग रखूँगा भाव मथके,
तुम्हें, चित्त एकाग्र व ओतप्रोत
-तदाकार रख डुबाऊँ अंत में ।

जलन कुढ़न अनेक बार हो,
और क्रोधवाला सही वहाँ होये,
स्वभाव से सदा शांति रखने,
तुझे समझाऊँ इससे कुछ दूर रहने,

कर वृत्ति को शांत सात्त्विक होने,
सारा स्वांग तेरा पूरा फेर देने,
कृपा जो प्रभु की, गिरि पंगु पहुँचे,
कृपा के बल वे, सदा आश्रय रे !

भुलावुं तुम्हें कितना कितना मैं ?
खजाना नहीं तेरा होता खाली क्या ?
अच्छी बात तेरी पसंद है, अब कि
जमा उधार प्रभुपाद दे तू ।

हुआ जो करे अंतर में युद्ध तुम्हें,
बताने न देना कभी कोई बार,
दूसरे नित्य के काम के ऊपर–
शायद छाप, उसकी पड़े बाप ! देखें ।

सदा उद्यमी रहकर और मेहनती–
–गहरा हृदय से विश्वास, श्रद्धा, धर कर
पंथ काटते जाना प्रभु स्मरण कर–
बतलाकर तेरी कठिनाइयों को ।

कभी रागद्वेष को न तू लक्ष देना,
न चिंता दूजी कोई तू मोल लेना,
और भाग आये जो कर्म उसे
–करके पूरा नित्य निश्चिंत रहना

गति तेरी, एकाग्र, शक्ति बनाकर,
फिर भावना जोश उसमें चड़ाकर,
सभी शत्रु युद्ध के क्षेत्र में से–
भगाकर क्यों न चाहे संताप-मुक्ति

प्रभु के बिना आश किसीकी न रखो,
न आधार उसके बिना दिल देखो,
न उसके बिना प्रेम कहीं भी धरो,
न उसके बिना वह कुछ भी सोचे ।

प्रभुप्रेम की वेदी के ऊपर तू–
–करे पीठ क्या कुरबानी करते ?
गया काल वापिस न आये कभी–
आगे आगे तू काम साध ले ।

मथ मथकर फिर फिर कर
–दिल खोजते खोजते तत्त्व लाधे,
पुरुषार्थ भारी करते करते,
ऐसे हृदय में उतारना स्वर्गगंगा ।

कृपा तो प्रभु की सदा बरसती देखो
पूरी झेलने तेरी ताकत कहाँ है ?
होगा जैसे आधार शुद्ध तुझ में
बढ़े जोश, उत्तेजना, प्रेरणाएँ ।

लाया तू करे वृत्ति के सर्व रूप,
अनुकूल होने तूझे झोंक देना,
मथाये भले तो भी पीछे पड़कर,
तदाकार उसे करो, पादपद्म पर ।

जहाँ तहाँ से निर्दोष आनंद लेना,
पूरी शांति प्रेमभाव से रहना,
दया, शांति, वैराग्य, त्याग, क्षमा से–
तू अभ्यस्त हो उन्हें नित्य साधकर ।

तुम्हें वृत्ति का मूल खोजने को
मैंने बताया, बार-बार गहराई से,
और वेग उसका प्रभुपादपद्म पर
समाने, करता तुम्हें गोद नित्य ।

प्रभुप्रेम स्वाद में लुब्ध रहने–
तदाकार वृत्ति से वहाँ मस्त होने–
और ऐसे अस्तित्व तेरा मिटाने–
प्रभु पद नित्य तू लीन रहे न ।

हरिनाम को चित्त में तू मढ़ ले–
दिल में श्रेय-प्रेय दो साध लो,
हमेशा प्रभुआश्रय में लीन रहो,
स्मरण बिन तू न एक घडी खोना ।

दिल में नाम जाप की प्रेममाला–
बहावो पद वे सदा गंगधारा,
समाके पूरी बुद्धि व चित्त भाव,
वहाँ होमना प्राण की वृत्ति सर्व ।

प्रभुप्रेम की धुन में मस्त रहकर–
सदा काम तेरे हल कर लेना,
प्रभु के पद चित्त मध्यस्थ रख,
गहरे प्राण रख, पीओ प्रेमप्याली ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

तुज चरणे

(वसंततिलका)

संध्या हमेशा कूँची दिव्य द्वारा अनोखी,
उरेहने मथे तुम्हारा चित्र गाढ़ा,
सोलह कला खर्चते भी तु समझ न आये,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

पापी व मलिन उर अनन्य भाव से,
तेरा करे स्तवन जो, प्रभु, नित्य उसे,
–साधु बनाके उर दुर्गुण नहीं रखे,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

ज्ञानेन्द्रियों मन सहित पद पर ही रखकर,
कर्मेन्द्रियों से व्रतजीवन आचरण से,
तू क्षेमकुशल सारा चलाये उसका,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

होकर तत्त्ववित्त स्मरेगा उर भक्ति ज्ञान से,
तुझ में रखकर हृदय आदर प्रेम उसे,
सायुज्यमुक्ति करुणानिधि, दोगे तुम,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

कर्म करके जन्मेंगे पर कर्म को जो
आसक्ति छोड़कर करे, पद में समर्पित करे
उसके, प्रभु, मरणजन्म मिटाये तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

जैसे तुझे अनुभव किया प्रभु, उर में जिसने,
वे तुझे निज मन में वैसे पहचानते हैं,
दीखा न एकसमान कभी किसी को तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

व्याप्त रहा सकल में निज आत्मरूप से,
है विश्व में ही सचराचर नाथ तू और
ब्रह्मादि देव, तीन लोक का पति तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

जो बाहर है, पर भीतर भी भरा पड़ा है,
वह तू ही शुद्ध स्वरूप में सभी में स्थिर है,
तू है अखंडित, अबाध, स्वयंभू है तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

ना आदि, मध्य, नहीं अंत लगे जिसका,
पा सकते नहीं पार कभी भी जिसका,
खेलता रहा अणु-अणु में विश्व में तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

अस्तित्व कदापि होगा ही किसी का यदि,
ऐसा नहीं तेरे बिना कहीं कोई दूजा,
है योग्य एक जग चिंतन करने प्रभु,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

तू जो तपता भी बरसता सब जो प्रभु तू,
तू कार्य-कारण का मूल हेतु है तू,
तू चेतन, जड़, मृत भी प्रभु अमृत भी तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

योगी का भी पुरुषार्थ समर्थ, है तू,
व बुद्धिशाली जन की प्रभु, बुद्धि है तू,
तू मूल सत्य, परब्रह्म पवित्र है तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

आकार ना, नहीं विकार, तू निर्गुणी है,
और बुद्धि, तर्क, मन, वचन के पार तू है,
आनंद चित् सत का मूलधाम है तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

स्त्री जैसे जो पति द्वारा जग उपजाये,
संतान सभी, वैसे सारा जग उद्‌भाये,
माया से यह अचल-चल जो प्रभु तू,
ऐसे प्रभु हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

माया में रमण नित्य किया करता है,
निर्लेप तू, वैसे तथापि रह सकता है,
रहे शून्य में, किन्तु विकारी होता प्रभु तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

सभी का तू, प्रभु, न किसी का फिर तू,
किसी का न संग तुझे, पर संगी है तू,
है भावनामय ही भाव अतीत है तू,
ऐसे प्रभु हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

दुष्टों का जगत में यमदंड है तू,
हारे का मददगार प्रभु, निश्चित तू,
भाव से जाते शरण लेता हाथ ग्रहण कर तू ।
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

आधार ना जगत किसी का ही जिसे,
आधार तू जरूर है प्रभु, सर्व उसे,
है सूत्रधार सचराचर विश्व का तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

खोले जरा प्रणय घूंघट तेरा तू,
डोले डूब के रस में जन योगी सभी,
अर्पण करे कभी जीवन लाख मूल्य नहीं हो तेरा
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

जिसे जपे कोई हृदय में स्मरेगा गहरा कोई
जिसे भजे तप-व्रत करके जन सभी,
रिझाने जन मथा करे यज्ञयाग करके,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

कर्म, मन, शरीर, वाचा, पैर से, हाथ से,
आँख, कान से गुन्हा अनेक मैंने किये हैं,
भूल जाना, शरणागत जान वे तू,
ऐसे प्रभु, हृदय से तुझे नमन करूँ मैं ।

संबंधी-स्वजन, दिन दु:खमय आए,
रहे सभी अलग प्रभु, मुझ से जब,
तब भूल ना जाना मेरी सँभाल लेना,
ये अकेली अर्जी दीन तुझे करूँ मैं ।

सिर पे समर्थ स्वामी प्रभु, ऐसा जानकर
निश्चिंत मैं रहूँ पड़ा प्रभु, चैन से सोकर,
जानूं नहीं क्या करूँ तुझ से प्रार्थना मैं,
पागल के जैसे बकवास किया करूँ मैं ।

किया करूँ प्रभु, पोकार तुम्हें मैं नित्य,
न दोगे जहाँ तक, प्रभु मागूँ मैं जो भी,
उकताता प्रभु शायद कुछ इससे, देखना,
बालक मान तेरा मुझे प्रभु, गोद लेना ।

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

[सन १९२४ में रचित प्रार्थनाएँ]

'मार्ग दिखाना तू'

(वसंततिलका)

तेरा प्रताप जगत में सर्वत्र प्रकाशित,
तो केवल गरीब वंचित क्यों रखे ?
ऐसा गुन्हा तेरा प्रभु, क्या किया होगा मैंने ?
कि सामने न नीरखता कुछ तू जरा भी ?

• • •

लोगे कभी खबर ना मेरी कोई अगर तू,
जहाँ तहाँ भटककर मरूँगा कर कुछ निगाह तू,
प्रभु ! मेरा जीवनपंथ निहारना तू,
उलटा जाऊँ जहाँ, वहाँ मार्ग दिखाना तू ।

('जीवनदर्शन', आ. ८, पृ. १, २)

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

'भले ही न जीयुं !'

(वसंततिलका)

अंतिम पल में स्मरण भाव से हो तेरा,
यह केवल ही प्रभु, मैं कर जोड़ मागूँ,
प्रेमामृत में डूबाना मुझ को प्रभु, तू,
व धन्य रंक करना, तुझ दास मैं हूँ ।

('जीवनदर्शन', आ. ८, पृ. १)

(शार्दूलविक्रीडित)

लोभी को धन प्यारा है जैसे, फिर है कामी को कामना,
वैसा मैं तेरा नाम प्यारा करने दिल में धारण करूँ भावना,

रहे न एक पल तेरे बिन, तू अग्नि ऐसा प्रभु !
हृदय में प्रकटाना विरह का, भले ही नहीं जीयूँ ।
टूटे न भय क्यों प्रभु, मेरा सभी ? संदिग्ध क्यों रखते ?
तेरी जानकारी देकर तू, मुझे तू देना मंत्रविद्या प्रभु !
देख न ! मैं करके क्रिया मेरी सभी तैयार खड़ा प्रभु ।
कमी कोई रह गयी होगी, इससे प्रभु, दोगे नहीं क्या ?

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ६, ७)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

'मेरे नसीब में'

(मंदाक्रांता)

बुलाया है बजा बजाकर बंसी तेरी मुझे तू ने,
जाते पास भी जरा अब दृष्टि ना तू करता है,
आकर्षित किया था मन, हृदय व चित्त को नाद से जो,
वे भी अब नसीब में हाय ! न कुछ सुनाये ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ११)

डूबकी लगायी युग युग की अनेक इस जग में और
न छुट सका मथ मथकर मरकर पार न आता कुछ,
लेते हाथ में फिर प्रभु, रख दे फिर क्यों मुझे तू ?
ऐसा ऐसा कर गरीब की कसौटी करे तू क्या ?

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १४)

(शार्दूलविक्रीडित)

तेरा मंदिर स्वच्छ साफ करने बहुत मथता हूँ, प्रभु !
कहीं न रहे थोड़ा कचरा सदा ऐसा मैं यत्न करूँ,
तब भी मन को पसंद न पड़ता काम ऐसा होता,
रहने न योग्य पूरा तुम्हें कैसे कर उसे बनाऊँ ? प्रभु !

● ● ●

तू मेरा मन मंत्रमुग्ध करना, वश जिससे रहे वह,
कहीं भी छूट न सके बिलकुल भी और ठिकाने स्वयं रहे,
माँगने में उर इतना तुझ से माँगू प्रभु एक मैं,
वह दे, तो मुझ रंक भाग्य फलित होगा देखूँ अच्छा दिन प्रभु !

तेरा मंगल नाम मैं हृदय से नहीं भुलूँ कैसे भी,
भले प्राण जाते, तब भी कभी मैं टेक छोडूँगा नहीं,
जारी यत्न रखाना हृदय से है हाथ तेरे प्रभु !
मेरा यज्ञ करवाता न तप का तू भंग कभी प्रभु !

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १९, २०)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

'करूँ क्या'

(वसंततिलका)

ये धूल के रजकण कुछ काम लगेंगे,
मैं उतना भी काम आऊँ नहीं जरा भी,
ऐसी बिलकुल अधम दशा देखकर मेरी,
मैं तो जलकर मरूँ, प्रभु ! ले उबार ।

पुकार कर तुझे विनती किया करता हूँ,
क्यों प्रभु ! मेरा कुछ नहीं सुनते तुम ?
इस रंक की दिल दया रखना प्रभु तू !
कहने का हक नहीं इससे अधिक दूसरा,

कर्तव्य मैं रीझाने तुझ को करता क्या ?
कौन से मंत्र-स्तवन से तेरी स्तुति करूँ मैं ?
पूजा मैं तेरी मन से किस रीत करूँ ?
मैं मूढ़, मात्र तेरा नाम लेना ही जानूँ ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. २६, ४३)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

याचना

(शार्दूलविक्रीडित)

तुम मेरे मद, मोह, मत्सर, प्रभु ! और क्रोध संहारना,
मेरे सारे विकार व विषय तू जला प्रभु ! डालना,
जो कुछ आलस व प्रमाद मन से निकाल सब देना,
खाली पूरा तरंग से कर मुझे हे तात ! उद्धारना ।

भूल दोष होते कबूल करता, मैं पैरों तेरे प्रभु,
शिक्षा मिलते न मैं बड़बड़ाऊँ, प्रेम से सह लेता,
रहने जाग्रत मैं मथुं, तब भी खींचता टेढ़ा जाता,
उस समय हृदय को सतेज करना, मैं मूर्ख को हे प्रभु !

मेरे संकट समय सदा तू रहना सहाय में प्रभु !
दिल में हिंमत, काटने दुःख सारा, तू देना हे प्रभु !
सम्मुख तात, झूमने बल मुझे ऐसा तू देना प्रभु !
मेरे अकेले हाथ से दुःख का अंत ला सकूँ ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ३१, ५३, ५४)

(शिखरिणी)

उलझन तुम्हारे चरण रखकर रहूँ मैं,
अब सूझे वैसा मेरा कर, तुम्हें जैसा पसंद,
न किसी के आधीन तू, न कर सकूँ आग्रह तुझे,
मुझे देते रहना, प्रभु योग्य जो हो मुझ को ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ५९)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

श्रद्धा

(वसंततिलका)

पाप के कीचड़ से बाहर निकाल के,
दिया प्रकाश मुझे जाने आगे,
मूर्खता से दीप बुझा मैं डालता और,
फिर मथता पुनः चेताने प्रभु ! वह ।

तेरा लिया हुआ नहीं छोड़ दूँगा मार्ग,
न आयेगा जहाँ तक, न छोड़ूँगा छौर,
लंघन करूँगा तेरे द्वार पड़ा रहकर मैं,
श्रद्धा, मैं उर पिघला सकूँगा तेरा ।

किसे कहूँ हृदयपीड़ा होती जो गहरी ?
माने न कोई, मूर्ख में गिने जाते और,
तू भी न कान धरता करना अब क्या ?
चूपके से रोऊँ पिटू सिर नित्य मेरा ।

मुझे नहीं कोई तुझ से प्रभु, अधिक,
माँग ही ले, मुझ द्वारा प्रभु, चाहिए जो,
तेरा जहाँ सकल है, फिर मैं भी तेरा,
'मेरा' कहकर तेरे चरण दूँ क्या फिर तो ?

टेढ़े सभी जहाँ तक ग्रह जो ! पड़े हैं,
कोटि किये उपाय पर न काम आए,
तब भी मैं हाथ जोड़ कर न रहूँगा,
मेरे से जो बनता सब किया करूँगा ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ६८, ७२, ७६, ७७)

(शार्दूलविक्रीडित)

हृदय में हिंमत रख निकला मैं तेरे पास आने,
मैं हूँ बाप, नहीं गाइड, चढ़ते आड़े प्रभु ! क्या होगा ?
तारा तू ध्रुव ध्येय बाप ! मेरा हूँ समक्ष उसके प्रभु,
रखकर दृष्टि में ही कदम मेरे से भरते भरता हूँ ।

तेरे जाप जपा करूँ निशदिन दिल में गहरे मैं प्रभु !
श्रद्धा से मुझे किसी दिन भी प्रभु, संतोष करोगे आश तू,
और यत्किंचित् तेरी मुझ से होती सेवा किया जो करता,
अगर आये मुझ पर दया उर में तुझे तो सँभाल लेना प्रभु !

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ८१)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

तेरे पास माँगूँ

(वसंततिलका)

लज्जा छोड़ कर सारी तेरे पास माँगूँ,
कि रंग दे प्रभु, मुझे तेरे रंग में तू,
और ओतप्रोत बुनकर मिला दे मुझे तू,
तू-साथ एक कर मस्त बना डाले तू ।

प्रभु ! दुःख में भी मैं मजा ही, भोगता हूँ,
इसी से मार तेरी मैं झेल सकता हूँ,
बाकी रहा न होता जीवित अभी मैं,
ये अभार तेरा प्रभु ! कैसा भूल जाउँ ।

तेरा प्रभु ! किरण तेज उतारने मैं,
मेरे हृदय में नित्य मथा करता हूँ,
पानी स्थिर बनाने मंथन स्वच्छ मेरा,
कि जिससे वहाँ पे पड़ सके प्रतिबिंब तेरा ।

कुछ दोष आवरण जो मुझ में होगा,
जला भस्म कर सब कृपा कटाक्ष से,
मेरा सारा मल, त्रास, निवारना और
तेरे परे प्रभु ! मेरे दिल में प्यार दे ।

प्रारब्ध कर्म, पुरुषार्थ बाधा दे सभी,
जला ही डालूँगा प्रभु ! जड़मूल से उसे,
मलूँगा राख फिर पूरे शरीर पर,
वैसी दशा मेरी हो प्रभु ! तू कृपा दे ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ८५, ९०, १०१)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

तथापि श्रद्धा

(शिखरिणी)

सभी मेरे बल विकट लड़ूँ संग्राम प्रभु, मैं,
प्रभु ! तब भी कैसे न छूट सकूँ, फिर हारूँ मैं,
अहा ! जानता हूँ, गहन गति है कर्म की वह,
तथापि श्रद्धा, किसी दिन दिल मुझे आराम मिलेगा ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ९४)

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

ध्येयलक्षिता

(वसंततिलका)

न जन्म सार्थक होता मुझ रंक का देख !
व्यर्थ जाता समय बीतता सारा मेरा,
नहीं जहाँ तक जीवन का ध्येय लाधे,
इस विश्व में मुझ को सारा व्यर्थ लगे ।

शांति सरित्सलिल में प्रभु ! डूबना है,
उसके अगाध जल में फिर न्हाना मुझे,
धक्का कृपा से धकेलना वहाँ मुझे दे,
कि बाहर न निकल सकूँ मैं किसी दिन ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ११४, ११५)

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

शरणागति

(शार्दूलविक्रीडित)

तेरे पल्लू मैं पड़ा हूँ तब भी ना दर्द पूरा मिटा,
ऐसा औषध दो कि मूल से जाये सारा का सारा,
तू-जैसा न समर्थ वैद कहीं जान के ढला पाद मैं,
निंदा होगी तेरे नाम की रोग मिटे अगर न पूरा, तो प्रभु !

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १२०)

॥ हरिः ॐ ॥

जीव-शिव

(शिखरिणी)

प्रभु ! तेरा मेरा युग-युग से संबंध कुछ है,
निभाये जो ना वह, कहाँ जाये, कहे, बालक थमेगा ?
सारा तू तो मेरे मन जीवन सर्वस्व प्रभु, है,
बना है वह भी तू परम प्रभु, शत्रु मुझ क्यों ?

हटा मेरी कोई हृदय गमगीनी नहीं सका,
घूमा जहाँ मैं वहाँ, उल्लू सम देखा जग सारा,
निराशा में से मैं कभी निकल नहीं सकूँगा क्या ?
अरे ! कुटाना ही निशदिन रहेगा कर्म में क्या ?

प्रभु ! हमेशा मैं रहूँ जगत के बाप, झुकता,
कभी भूलचूक से सिर मेरा ऊँचा मैं न करता,
रहने में छोटे अणु द्वारा भी लाभ बहुत हैं,
मुझे ऐसा रखके मेरे हृदय को ऊर्ध्व करना ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १३६)

(वसंततिलका)

है गोकुलेश, परिपूर्ण तू अकेला ही,
और मैं स्वभाववश जीव हूँ एकमात्र,
तथापि तेरी ओर मेरी दृष्टि रखता,
अपना जान मुझे गोद ले तू ।

टेढ़ा मेढ़ा कुछ भी मैंने किया हो जो जो,
मुझ पर दयाकर प्रभु ! माफी देना,
ना जो तुझे रूचा, ना मुझ से बने वह,
और हो जो प्रिय तुझे मुझ से हो वह ।

हृदय प्रभु, करना है मुझे ऐसा ही,
कि किसी को पथ मिले नहीं घुसने का,
मुझे प्रभु, वहाँ तुझे बिठवाना है,
मैं योग्य स्वागत करूँ तेरा शोभता क्या ?

यदि दे मुझे आदेश आँखों के इशारे,
तो तेरे निकट करूँ साहस आने का,
तेरा प्रभु ! दबदबा निरख अचंबा,
पाऊँ दिल, कदम न उठे, स्तब्ध खड़ा ।

तेरे बिना स्मरण किसी का न हो,
निष्ठा से योग कोई साध मैं सकूँ,
अगर इतना कर सकता कृपा से तेरी,
तो मैं-सम जगत में नहीं भाग्यशाली ।

भले ही अवगणना करे अभी मेरी तू,
किसी दिन रीझा सकता तुझे प्रभु ! मैं,
मैं प्राण पसार रखूँ प्रभु ! तेरे काज,
श्रद्धा, पवित्र करेगा मेरा दीन धाम ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १४१, १४६, १५६, १६०, १६१)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

कब ?

(वसंततिलका)

कब होगा हृदय कोमलता स्वरूप ?
कब वहाँ से फूटेगा प्रभु, भावगंग ?
कब पवित्र करेगा बहकर सर्व अंग ?
कब होगा तेरा अनंत समुद्र संग ?

मैं काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, चरण
तेरे धरूं, प्रभु, भेट स्वीकार कर ले वह,
और कोई अन्य हृदय में हो विकार जो जो,
मेरे पास से छीनकर सर्व ले ही लेना ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १६५, १७४)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

कृपा दे

(वसंततिलका)

तेरे प्रभु ! हुक्म के वश रहना मुझे,
तेरे प्रति उर से रहना नम्र भाव से,
तेरी इच्छा होगी प्रभु ! उस अनुसार,
मैं तो मथुगा उठाने कदम, तू कृपा दे ।

आँख में अंजन कृपारूपी लगा ऐसा,
आसक्त कोई विषय में रहूँ ना कभी मैं,
जादू करके ही प्रभु, मिला दे मुझे तू,
कि देख ना सकूँ अन्य प्रभु, तू बिना मैं ।

ये गहन संसार से जगदीश ! रक्ष,
व काम, क्रोध, मद, मत्सर, मोह, भक्ष,
मेरा फिर समूल ही अभिमान टाल,
व पिला दूध प्रभु, तेरी कृपा का पोष ।

यह अंधकार उर व्याप्त रहा है मेरे,
उसे प्रभु ! दूर कर तुम तेज देना,
वे सत्प्रयास करने फिर साहस में वह,
श्रद्धा अनन्य तेरी शक्ति अमोघ देना ।

तेरा गुन्हा पलपल करूँ मैं अनेक,
देखा अनदेखा करना जानके बालक तेरा,
कहा न जाय मुझ से ये प्रभु ! हूँ मूर्ख,
दे योग्य दंड, बोले बिना वह सहूँगा ।

शेका हुआ पापड़ भी मुझ से न टूटे,
ऐसा मैं निर्बल हुआ प्रभु ! क्या सधेगा ?
तुझे करवाना हो मुझ से प्रभु जो जो,
जो कुछ तुझे पड़ी ही हो, करवाना वह ।

गहरी विवेक की शक्ति तू दे जिससे,
पार लगूँ अविचार, विचार सब से,
मुझे तुझे हृदय अंतरदृष्टि मोड़,
है खोजना, कहीं दिखे न हो तेरी झाँकी ।

कब अकिंचन पूरा मुझ से होगा तो ?
कब किसी की मुझे न जरूरत होगी ?
कब प्रभु ! सब के पार तैर जा सकूँगा !
कब मुझ से प्रभु बेफिक्र पूरा हो सकूँगा ?

संपूर्ण संयम प्रभु ! यदि कर सकूँ,
सर्व इन्द्रियों पर मैं - से मेरा काम हो,
तो जो निषिद्ध प्रभु, विषय हो वह वह,
छोड़ सकूँ मैं, वह दिल में भान देना ।

जो कुछ कर सकूँ प्रभु ! सभी करवाता तू,
'कर्ता मैं' तब भी अभिमान रखूँ वैसा,
अज्ञान कितना अभी मुझ में बसा है !
तो टालने समजशक्ति प्रभु, मुझे दे ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. १८०, १८५, १९०, १९१, १९५, १९६ २०५, २०६)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

धन्य करना

(शिखरिणी)

रखा हो मानो गिरि-सम भार हृदय में मेरे,
ऐसा सतत लगा करे, समझूँ न कारण वह,
उठाऊं किस तरह ? कुछ करना अच्छा न लगता मुझे,
हुआ किस तरह यह मुझ से सूनमून जो ?

कैसी भी हो जाय दुःखद स्थिति मेरी वहाँ पर,
न छुटे धीरज मुझ से संतोष दिल में,
तब वहाँ कुछ भी नहीं मुझ में अंतर आये,
रहा जाय समान सभी दशा में मुझ से, प्रभु !

नहीं लाघा बुद्धि पर हृदय काबू अभी कुछ,
हो जाऊँ क्रोधित बहुत समय आवेश द्वारा,
नहीं पूरा जन्मा मुझ पर अभी संयम मेरा,
प्रभु ! ऐसा मैं तो बहुत कमजोर हूँ तू मदद दे ।

अगर चूम लेने दे चरणरज तेरी प्रभु ! मुझे,
तो फिर समेट लूँगा जीवन की बाजी सारी ही,
अन्य कोई आशा नहीं खेल रही मुझ दिल में,
उसे फलित कर मुझ जीवन को धन्य करना ।

होता अपने आप मेरा हृदय अभी न हल,
हो सका हूँ, वहाँ तक पक्का मेरे द्वारा न जानूँ,
तपेगा भट्ठी में सख़्त तब बहुत पिघलेगा,
बह जाये तब रस-झरना मुझ से सतत ।

प्रभु मेरे में किसी तरह की न कमी रहना !
जीना मुझे उस तरह सफल यत्न बनना !
फिर आकाश से कभी भी मेरी दृष्टि न खिसके !
बढ़ा जाए मुझ से निरन्तर तू शक्ति दे प्रभु !

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. २४४, २२३, २५८, २६९, २८०, २८७)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

देना

(वसंततिलका)

दृष्टि विशाल करना अच्छी मति देना,
उत्साह व उर-उमंग तू फिर देना,
उद्योग-तनदिही मुझे तू अपार देना,
श्रद्धा गहरी तेरे पद में प्रेम फिर देना ।

नित्य सदा मन चिंतन-मग्न रहना !
देहात्मभाव समूल मुझ से भुलाना !
इस बिना काम मुझसे कुछ न होगा,
ये आशा केवल प्रभु, मेरी पूर्ण होये ।

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. २३९, २८७)

(मालिनी)

समझ नहीं आती मार्ग न कम होता क्यों ?
पथिक किस रास्ते विरुद्ध दिशा चला है,
श्रम जरूर यह सभी जाय मिथ्या ही, इससे
गिड़गिड़ाऊँ, ले ले न राह सच्ची कृपा से ।

प्रभु ! मेरे पुरुषार्थ में हिम्मत प्रेरित करे,
नहीं तो मुझ से यह काम नहीं हो पाये,
मति, बल मुझ में तो बाप, अति नहीं है,
प्रभु ! मेरी मदद में तू इसमें नित्य रहना ।

कहूँ हृदयव्यथा कितनी बार ? तू कह,
रो रोकर कह चुका, कितनी बार तो वह,
कैसे करके प्रभु, तू ले, ध्यान में बात मेरी ?
कैसे करके दिल हो एक तुझ में ? मुरारि !

('जीवनदर्शन', आ. १०, पृ. ३४४, ३६४)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

निवेदन

(शिखरिणी)

अधोगामी मेरी अभी तक बहे वृत्ति मन की,
तुझे पुकारा मैं करूँ दिल, दे सहाय प्रभु तू,
मुझे अपना रहे पूरा निरन्तर भान हृदय में
और तेरे ख्याल में मन रमा रहे, माँगूँ प्रभु ।

तेरे चरण में रखना समझा कुछ चित्त ना,
फिर किस मुँह दया तेरी कैसे माग सकूँ मैं ?
मेरा न कर सका पूरा हृदय शुद्ध अभी मैं,
टिका रहने इससे तुम्हारा बल मैं माँगूँ पैरों गिर ।

फँसा फंदे में हूँ, निकल न सकूँ बाहर प्रभु, मैं,
उससे छुटने प्रभु, मैंने तो शरण तेरी ली,
अब न सहन होता प्रभु, वातावरण यह,
कसौटी की आ गयी सीमा, अब तो कर कृपा !

विलासी वृत्तियाँ अभी भटकना छोड़ती नहीं,
संपूर्ण छूटती नहीं उसकी आसक्ति दिल से,
अगर जरा खोल दे, तुझ प्रणय का घूंघट प्रभु !
सभी आकर्षित होगी तुझ ओर आठों प्रहर तो ।

कुविचारों से मेरा हृदय कभी गंदला जाता,
हूँ विवेक से जरूर तब प्रभु, मैं भ्रष्ट होता,
प्रभु, दोनों रीत से पतित बनता, कर्म करते,
बचाया हूँ, उसमें प्रभु, तुझ कृपा की ही महिमा ।

बहुत जन्मों में विषय का तूने सेवन किया,
छका तब भी न अभी भी रखे राग दिल में क्या ?
पड़े संस्कार अभी नहीं मिटते बहुत किये प्रयत्न
नये डालकर तू, रगरग में क्यों विष भरें ?

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ३९, ४०, ७६, ७७)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

आत्मनिरीक्षण

(वसंततिलका)

वर्षा में उभरती असंख्य कीडी,
उस रीति उभरती उरवृत्ति मेरी,
किसी तरह न बुझे, मथता अति मैं,
वह ताप न सह सकूँ, कर कुछ कृपा तू ।

मेरा स्वभाव करूणा-मुदिता-स्वरूप में,
संपूर्ण बदल सकूँ यदि मैत्रीरूप में,
तो वासना क्षय समूल सर्व होगी,
ऐसा होने प्रभु बलशक्ति मुझे देना ।

मेरा निरीक्षण किया करता रहा हूँ,
इससे दोष मेरे खोज सकूँ स्वयं प्रभु मैं,
और मैं मथा ही करूँ नित्य सुधारने वह,
वैसी, कृपा से, रह जागृति में सके ।

आउँगा यत्न करके कोई दिन मैं तेरे पास,
उसके बिना जरा न शांत मैं, न ठहरूँ,
सर्वस्व शक्ति वहाँ मेरी, खर्च में करूँ,
कैसे भी करके ठाना हुआ प्राप्त करूँ ।

दावानल से दुःख के जल रहा मैं हूँ,
आवाज मैं देता रहा, क्यों तू न बचाये ?
न सुनता कोई कुछ मुझ रंक का तू,
तब भी मुझ हृदय आश, उभारेगा तू ।

न कोई पास सबल साधन, करूँ क्या ?
ऐसा हूँ मैं निर्बल प्रभु, अनेक रीत से,
तथापि हृदय में हिंमत रख भारी,
यत्न किया करूँ तेरे पास आने ।

तेरे सामने अवगुण मैंने अनेक किये,
लगूँ फिर हृदय में प्रिय तुझे कैसे ?
किस मुँह तेरी विनती करूँ प्रभु, मैं ?
आये बहुत लाज, तब भी मैं बालक ।

(जीवनसंशोधन, आ. ४, पृ. ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १७४)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

साधना

(वसंततिलका)

जो जो विकार उठते मन में से, उसे
बिलकुल भी पोषण प्रभु, मैं उर में न करूँ,
उसे फिर न बढ़ने का मौका देता मैं,
यह तो कृपा तेरी, कर सकूँ मैं बाकी क्या ?

रहने कृपा से तुम्हारी सभी से मैं जुदा,
और मैं निमित्त होने कहीं न किसी का,
नित्य मथा करूँ, तथापि मेरा मैंपन जो,
वह कभी भूलाता नाश कर तू उसे ।

आशा रखकर नसीब की पर मैं कदापि,
बैठा रहा नहीं, होता करूँ काम मैं ही,
अगर हिंमत से मरद बने मदद में खुदा है,
विश्वास इस वचन में हृदय में मुझे है ।

तेरे प्रेम से हृदय के कोमल भाव बहे,
करना मुझे प्रभु, तेरी सहाय दे तू,
योग्य पात्र बनने मैं प्रयत्न करूँगा,
और स्वर्ग से मैं उतारूँगा भाव-गंग ।

पूरा समर्पण होने तक नित्य मेरे,
यत्न बना ही करना प्रभु निरन्तर !
माया का जोर मुझ में, प्रभु जहाँ तक है
मुझे प्रयत्न करने की जरूरत रहती है ।

मेरे मैं दोष प्रभु, देख सकूँ सदा ही,
मुझे ऐसी हृदय दिव्य दृष्टि तू देना,
जिससे कर सकूँ पृथक्करण नित्य,
और कोई हो भूल सुधार मैं सकूँ ।

जहाँ शांत हो मेरी न अभी कामवृत्ति,
एकाग्र वहाँ कैसे कर सकूँ चित्तबुद्धि !
तो भी मेहनत सारी करूँ रख कर श्रद्धा,
कि वह फलित हो, जीऊँ आशा में यह ।

मैं तो बहुत अवगुणों से प्रभु ! भरा,
और चित्त, बुद्धि, मन, प्राण नहीं स्थिर,
मैंने कुछ किया नहीं, है भटका किया,
और योग्य प्रभु, तुझे नहीं कुछ दिया ।

देख ! रागद्वेष मुझ से अभी हटे ना,
उसके हटे बिना काम कुछ होगा ना,
ये बुरा बंधन होगा प्रभु, दूर कब ?
इससे मुक्त मुझको तुम बना देना ।

दंड सहे बिना कर्म पूरे नहीं होगे,
और बिना भोगे दुःख सुख नहीं मिले,
है स्पष्ट यह, मन-वकील फिर भी उड़ाये,
और युद्ध पीठ से करा मुझ भगाये ।

मेरे विकार दूर कर, मुझे ऊँचा ले,
सारी वासना से, प्रभु, निर्मल तू कर दे,
और क्रोध अहंकार, सब प्रभु ! जला देना,
पूरा पवित्र मुझको तू बना ही देना ।

कब तुम रंक की आशा पूरी करोगे ?
कब तुम्हें दिल भर नीरख सकूँगा ?
कब प्रभु खुलेगी ये मेरी दिव्य आँखे ?
कब हृदय में जले तेरा ज्ञान-दीप ?

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. २८७, २८८, २८९, २९३, २९४, २९५, ३७०)

(शिखरिणी)

तुम्हारी इच्छा के वश हो रहता हूँ गरीब मैं,
मुझे जैसा रखो वैसा प्रभु, रहूँ कुछ न बोलूँ,
सिर डाले जो जो सहन करता हूँ सब प्रभु, मैं,
जाँच कर देख जा ! मेरी कर कसौटी सही प्रभु !

('जीवनसंशोधन', आ. ४, पृ. ३७०)

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रार्थना करूँ प्रीति से नित्य मैं, हृदय से पैरों पड़ूँ रंक मैं,
किस रीति रीझा सकूँ, न समझता हूँ चाहूँ दिल से तब भी मैं,
हृदय उभरते भाव चरणों तेरे पखारे प्रभु !
पुकारूँ अति आर्त मैं हृदय से चाहा देना विभु !

'मेरा है हक प्रेमभाव द्वारा' मैंने माना था ऐसा और
चाहा जो तेरे पास माँगा, 'हक' से दूजा सोचा न मैंने,
आज किन्तु सूझेः नहीं हक कुछ प्रेम के पंथ में,
इससे केवल माँगूँ तेरी कृपा आधार किसी बिना ।

('जीवनसंशोधन', आ. १, पृ. ३८०)

● ● ●

॥ हरिः ॐ ॥

सभी सत्य होगा

(शिखरिणी)

रहकर यंत्री तू अगर प्रभु, गरीब को नित्य चलाये,
अवतरण इस आधारित तू जो कर बसे,
फिर इच्छाएँ जो हृदय स्फुरित, सर्व फलित होगी
और वाचा, कार्य, जरूर मेरे सभी सत्य होगे ।

(जीवनसंशोधन, आ. ४, पृ. ३८०)

• • •

॥ हरिः ॐ ॥

हृदयपुकार

(शिखरिणी)

प्रभु ! जन्मा था मैं गरीब जन इससे भटकना
और कर्म से मुझे जग घूमना, बहुत हुआ
गया जहाँ जहाँ मैं वहाँ से सीखने कुछ मिला,
सच ! तेरी शाला जगतभर में व्याप्त प्रभु ! क्या !

दुःखों का है तृष्णा मूल, मैं करना वे दूर चाहूँ,
पिरोया होने मन, चित्त, तुझ में इसलिए क्या मथूँ !
प्रयत्नों में मेरे प्रभु, बल तुम देना ही सदा,
भूलते ले लेना प्रभु ! पथ सीधे तू कर कृपा ।

निराशा से मेरे मन पर हुई है असर हा !
मिटती नहीं कैसे भी अत्यधिक विचार आते,
था कैसा गहरा मेरे हृदय में निश्चय तब भी,
जाती दिखे लज्जा, मुझ पर प्रभु ! तू कर दया ।

भर मुट्ठी मुट्ठी जीवनधन मैंने गँवा दिया,
अब रोने बैठा दोनों हाथ सिर रख स्वयं मैं;
बाजी हाथ में समझ के करता यत्न प्रभु ! मैं,
मुझे वापिस मेरा धन लौटा दे प्राप्त मूल का ।

अभी क्यों मेरा प्रभु ! हृदय गीला नहीं होता ?
नहीं रंगा वह कई कई प्रयोग किये, प्रभु !
तेरा जो तू गिन मुझ पर दया पूर्ण करेगा,
नया, सूखी सृष्टि पर, जीवन वापिस आयेगा ।

विचार टेढ़े जहाँ स्फुरित हो मन में उस पल मुझे,
बेचैनी हृदय में होती महसूस न की कभी,
फिर छूटे मुझ पर बहुत ही धिक्कार मुझे,
इससे तो मुझे मरण विशेष प्रिय प्रभु ! दे ।

प्रभु ! कैसा मेरा हृदय निर्बल ! ख्याल मुझ को,
सदा रहता उसे सतत, देखता हृदय उसे
करे रखूँ मैं तो मेरे हृदय समक्ष 'करूँ क्या ?'
फिर भी माँगूँ, देना धीरज, बल व हिंमत प्रभु !

भले रेला आये जैसे जल का बह वह जायगा,
विचार भले आये, सारे वैसे मन में चले जायेगे,
निशानी उसकी न जरा रहे सावधान रहूँ,
और कैसे भी मेरा कभी न चूकूँ ध्येय मन का ।

सभी तरफ का मेरा भय टला नहीं है अभी,
फिर भी आशा रखूँ तेरी तरफ से तब भी मैं,
करे शेखी जैसी फूहड़ बहु वैसा ही प्रभु ! मैं,
आया हूँ शरण समझ मुझे रक्षा कर प्रभु ! तू ।

अभी लुच्चा मेरा मन जल्दी मुड़े पथ टेढ़े ही,
अति खेचतान पर न प्रभुपद रंगा पूरा,
भले ही वह दौड़े पर होऊँगा मैं संमत नहीं,
और उसके साथ करूँ झगड़ा नित्य हठ से ।

गुन्हा जो जो कुछ मुझ द्वारा हुए हो प्रभु ! भले,
सारा दंड उसका सह लूँगा जो मुझ पर हो,
फिर भी बड़ा तू फिर निधि दया का तू प्रभु ! है,
पड़ा हूँ तेरे शरण, हो सके योग्य करना ।

पहले तो मेरे बल द्वारा तुझे पाने के लिए,
भीड़ा मैं बाप ! मेरे हृदय की हिंमत पर हा !
प्रभु ! इस रीति कुछ नहीं मिला रखड़ने से,
जाना अब मेरे बल की कोई कीमत नहीं है ।

कर तैयारी पथ मैं निकला, वहाँ अधबीच,
और गाड़ी गड्ढे में अटक है पड़ी, मदद दे,
रचे हुए आदर्श जीवन में उतार सकने,
फिर आया तेरे शरण, पूरा मैं तो समझने,

तुझे खुश रख सकूँ वैसा मुझ से यत्न होगा,
हमेशा कर्तव्य में मुझ मति प्रभु ! स्थिर रखना,
प्रभु मेरे सिर तुझ वरद दो हाथ रखना,
मुझे याद कर के मुझ पर कृपादृष्टि रखना ।

अति पश्चात्ताप से हृदय तपाया तब भी मैं,
कसौटी पर उतर सकता अभी भी नहीं वह,
'पुरुषार्थी को तू सतत बल विश्वास उर देता ।'
जीऊँ इस श्रद्धा से और कोई आधार न मुझे ।

किये हुए ध्येय से कभी मेरी न प्रवृत्ति हटे,
और वहाँ चिपका मन, चित्त का ध्यान लगे,
होते सभी कार्य में मेरे द्वारा सदा मेल बने,
प्रभु ! ऐसी मुझ पर तेरी कृपा वह उतरे ।

स्वीकार हो मुझ से भूल कोई भी भले वह हो,
और प्रेरित पथ ओर जाने को, दे बल कृपा,
गहरा भाव से तेरा सतत मुझसे चिंतन हो,
और बुद्धि मेरी कभी भी विपथगामी हो ।

भले बाह्याचार जग तेरा होगा शुद्ध सकल,
तुझे उससे नहीं ही मिलेगी कोई भी दौलत,
परिघि में स्थिर न पड़े रहके, कहीं दूर,
जाना है तुझे, भूल नहीं जाना वह मन विषयक ।

पुरुषार्थ से जो न मिल सका, वे पदरज से,
मिला कुछ सद्‌भाग्य से हरिजन द्वारा गरीब को,
थी श्रद्धा न कुछ, मेरी मति अति तर्क करती,
विचार उल्टे वह करती, थोड़ी अब ठहरी ।

ढलना सीखा तेरे चरणकमल में स्वाश्रयी होने,
कमाया इससे और अनुभव कर सका जोर मेरा मैं,
कृपा बिना तेरी हो सकता था कुछ न मुझ से,
प्रभु ! तेरा मानूँ बार-बार मैं तो उपकार हृदय से ।

विचार विकारी अभी भी मेरा पीछा न छोड़ते,
मुझे कहीं का कहाँ घसीट के फेंके दूर बहुत,
बने जब ऐसा मन मैं होता न सावधान पूरा,
मैं तो हृदय से तब प्रभु ! तेरा होकर स्वस्थ होता ।

प्रभु ! पूर्व के कोई जरूर संस्कार हृदय में,
कृपा से जागा और कुछ फिर मैं जागृत हुआ,
प्रयत्न श्रद्धा से वहाँ से करना प्रारंभ हुआ,
फिर भी अंधेरा कम न होता, दे न तेरी कृपा ।

प्रभु ! मुझ में से दूर कर तू आलस सारा,
फिर जला देने मन, हृदय से क्रोध प्रभु ! तू,
अहंता मुझ में से समूल कर दे न दूर तू,
पहुँच सकूँ प्रभु ! तेरे निकट ऐसा कर तू ।

मुझे स्वयं में तो हृदय दृढ़ विश्वास अति है,
जीवित रहूँ मुझ से प्रभु ! उस कारण द्वारा,
निराशा में बाकी टिका रह सका होता नहीं मैं,
कृपा ऐसी होना मुझ पर सदा ही तेरी प्रभु !

मुझे उद्‌भव हो जो हृदय में संदेह, प्रभु ! मैं,
रह सकूँ उससे दूर, मुझे प्रेरित कर तू,
फिर शोक से, हर्ष से सम रहकर मति, चित्त तुझ में,
रहे मेरे ऐसी, चरण प्रभु ! दे भक्ति हृदय में ।

'जग में जीतकर प्रेम से वश कर सकूँ क्रोध मेरा मैं'
'बुराई को जीतूं प्रभु ! मेरी भलाई से जग मैं'
'झूठ सत्य से जीतूं, जीतूं कृपण दान से प्रभु ! मैं'
हृदय में गहरा बल दे प्रभु ! प्रार्थना करूँ मैं ।

मैं तो चक्की के दो पाट में दबकर मरूँ सदा,
कृपादृष्टि मेरी ओर करते तब भी क्यों नहीं ?
भले जिसमें खुश होगे, मैं स्वीकार कर लूँगा,
और दशा मैं संतोष के साथ बिन बोले भोगूँ वह ।

हमेशा रहा जाये मुझ से सदाचारी मन से,
होने निष्पापी मदद मुझे दो प्रभुजी,
कृपा बिना तेरी मुझ से नहीं हो पायेगा कुछ,
प्रभु ! पैर-हाथ होने पर भी मैं, पंगुजन हूं ।

मुझे मेरे दोषों का सतत सारा भान उठे,
और उन दोषों को कैसे दूर करूँ, चिंत्वन हो,
भूलचूक जो जो मुझ से होगी वह मैं तुझ को,
बताया हमेशा करूँगा, मति दे सूक्ष्म मुझ को ।

च्युत न होऊँ कैसे भी कभी निश्चय से,
मुझे देते रहना प्रभुजी ! बल ऐसा उर में,
कुछ यत्किंचित् कभी होता नहीं तात ! मुझ से,
फिर भी होता सब कुछ, सब तेरी रहम से ।

मुझे तीव्राकांक्षा प्रभु ! तेरे विषय में तू जगाना,
हृदय में तेरा दैवी प्रणय से उन्मत्त करना,
फिर ज्ञानाग्नि से मन, हृदय को शुद्ध करना,
सदा तेरा वहाँ घर बना कर बास करना ।

रहा जाये नीचा जगत नजर से नित्य मुझ से,
सहा जाये प्रेम से दुःख सिर पड़े जो, मुझ से,
सदा मेरे साथ रहे पदकमल में वृत्ति मन की,
और तुझ में मेरी सतत स्फुरित हो भक्ति हृदय से ।

किया है तो मैंने मन, हृदय, चित्त से निश्चय महा,
कुछ भी हो जाये नवजीवन को प्राप्त करने,
निराशा से जब भी मेरा मन डगमग होगा,
मुझे देते रहना तेरे बल-कृपा-हिंमत हृदय में ।

स्वीकारा था ना मैंने प्रभु ! तेरा अस्तित्व जग में !
अरे ! बर्ताव मैंने मनपसंद रीति से किया जीवन में,
कृपा तुझने ऐसों पर भी की तुम ने जीवन में,
नयी दृष्टि दी, भूलूँगा तुझे वह कैसे अब ?

भले संयोग अनुकूल होगे ना मेरे सभी,
विचार यदि दृढ़ रख सकूँ, तो तो बस भला !
प्रभु ! इससे तुझ में निरन्तर, उर श्रद्धा रखा रहूँ,
पहुँच पाऊँ ध्येय तक अवश्य एक दिन मैं ।

मुझे कब तेरे पदकमल में स्थान मिलेगा ?
महेच्छा यह मेरी गहरी जीवन की एक प्रभु !
सधेगा जहाँ तक मेरे जीवन का ध्येय नहीं,
शान्ति चैन से स्थिर मैं नहीं बैठ पाऊँ कभी भी ।

हृदय ने जो माना तुझ से लिया बिन मैं,
पर अब तेरा पीछा कभी भी छोडूँगा नहीं मैं,
तुझे श्रद्धा से मैं लिपटा रहूँगा आग्रह द्वारा,
हृदय मेरा भरा करूँ प्रभु ! तेरे स्मरण से ।

भले विघ्न आये, उतर पड़ते पर्वत सिर पर भले,
और अग्निज्वाला घेर लेती भले चारों ओर मुझ को,
हो कैसा भी मुझ पर, हटे ना तुझ पर से,
प्रभु ! श्रद्धा मेरी, कुछ ही बस माँगूँ और नहीं ।

हृदय में गहरा प्रणय प्रकट कर मैं तुझ को,
ऐसा मेरा कर डालूँगा, छूट भी नहीं पाओगे,
घमंड तू अपना चलाकर देख मुझ पर,
तुझे थै थै कैसा नचाऊँगा तू भी वह समझे ।

● ● ●

(भाग-१ पूर्ण, अनुसंधान भाग-२ पर)

'मैं सर्वत्र विद्यमान हूँ'

– श्रीमोटा

'जीवनदर्शन', द्वितिय संस्करण, पृष्ठ ३८२